॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

६६

आचार्यपरिमलपद्मगुप्तविरचित

नवसाहसाङ्कचरितम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार —

शास्त्री जितेन्द्रचन्द्रभारतीय एम. ए.

(साहित्याचार्य, साहित्यरत्न)



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् :

मूल्य :



Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
66

THE NAVASĀHASĀNKACHARITAM

OF

ĀCHĀRYA PARIMALA PADMAGUPTA

With Prakāśa Hindi Commentary, Introduction etc.,

By

Shastrī Jitendrachandra Bhāratīya M. A.

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN, VARANASI-1
1963

दो शब्द

एम० ए० द्वितीय वर्ष में मैंने आदरणीय गुरुवर श्री अय्यर महोदय से प्रबन्ध लिखने की अपनी अभिलाषा व्यक्त की। गुरुवर ने परिमलपद्मगुप्त के नवसाहसाङ्कचरित को ९ सर्ग तक अनूदित करने की प्रेरणा दी। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप ही इस ग्रन्थ पर कार्य करना प्रारम्भ किया गया। इसके लिये पथप्रदर्शक की आवश्यकता थी। स्वयं गुरुवर ने श्रद्धेय गुरुदेव डा० सत्यव्रतसिंह को आदेश दिया और वे मेरे पथप्रदर्शक नियुक्त हुये। बाद में फिर मैंने १८ सर्गों का ही पूर्ण अनुवाद कर डाला।

पद्मगुप्त ने जिस कार्यनिर्माण-कौशल और प्रतिभा का परिचय इस ग्रन्थ में दिया, उसी को दृष्टि में रखकर इस महाकाव्य पर विचार प्रकट किये गये हैं।

नवसाहसाङ्कचरित संस्कृत साहित्य का उच्च कोटि का महाकाव्य है। इसमें विषय की मनोहर ढंग से यथार्थ विवेचना, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। भाव, भाषा, छन्द, रस और शैली तथा अलंकार इन सब का औचित्यपूर्ण समावेश इस काव्य में देखकर ऐसा अनुभव होता है कि परिमलपद्मगुप्त मानो कविमूर्धन्य कालिदास का ही प्रतिनिधित्व कर रहा हो।

यह काव्य यद्यपि सरल है, फिर भी कहीं-कहीं और किन्हीं-किन्हीं प्रसंगों में कुछ श्लोक ऐसे भी हैं, जिनका अर्थ करना दुरूह-सा हो जाता है, केवल मूलपाठ के आधार पर यह कार्य भली भाँति सम्पन्न नहीं हो पाता। इसके लिये यत्र-तत्र संस्करणों में जो कई प्रकार के पाठ दिये गये हैं, उनको देखने से और मूल के साथ उनकी संगति लगाने से कुछ का अर्थ तो समझ में आ जाता है, किन्तु कुछ में भ्रांति बनी रहती है। किंतु मेरी इस उलझन को गुरुवर श्री डा० सत्यव्रतसिंह ने सुलझाया। श्री डा० सत्यव्रतसिंह जी जे विवेचनापूर्ण दृष्टि से देखकर मुझे न समझाया होता, तो उन कतिपय श्लोकों के अर्थ की संगति बैठाने में अत्यधिक असुविधा होती।

इस काव्य की उपलब्ध प्रतियों में पाठभेद के कई रूप हैं। कहीं-कहीं तो अक्षर भी छूट गये हैं। इन सब बातों पर विशेष ध्यान रखकर ही अनुवाद किया गया है।

इसके पश्चात् तो जैसे-जैसे विवेचना की जाने लगी, वैसे ही वैसे कार्य करने में अधिक आनन्द आने लगा और नवसाहसांकचरित की विशेषता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगी। १ से ६ सर्ग तक लगभग ७६२ श्लोकों का अनुवाद करने के पश्चात् आलोचना का कार्य किया गया। चूंकि इस काव्य की चर्चा संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र पायी जाती है, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने समय में यह अवश्य प्रसिद्ध रहा होगा।

—जितेन्द्रचन्द्र भारतीय

भूमिका

संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्यपरम्परा

जब हम संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्यपरम्परा पर विचार करने लगते हैं तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान ऐतिहासिक शब्द पर जाता है। इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ? विभिन्न विद्वानों ने इसका क्या अर्थ लिया है ? और इसे किस अर्थ में लेना चाहिये, यह बात विचारणीय हो जाती है। इतिहास लिखना और काव्यनिर्माण करना—ये दोनों बातें भिन्न हैं। यदि इतिहास शब्द से जातिगत इतिहास या वंश क्रमानुकूल घटनाओं का वर्णन करना ही लिया जाय, तब तो सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और जातिगत अनेक प्रकार के इतिहास का ग्रहण करना होगा। इतना ही अर्थ लेकर यदि इस शब्द की उपादेयता देखी जायगी, तब तो ऋग्वेदकाल से लेकर रामायण, महाभारत (जैसे इतिहास ग्रन्थों) तक को ऐतिहासिक महाकाव्य माना जाना चाहिये। पर हम देखते हैं कि इन ग्रन्थों को कोई भी इतिहास मानने के लिये तैयार नहीं है। कारण कि ऐसा मान लेने पर वेदों की अपौरुषेयता और रामायण महाभारत की धार्मिक काव्यता ही नष्ट हो जाती है। इतना ही नहीं, फिर तो कालिदास और भवभूति, भारवि और माघ आदि कवियों के ग्रन्थ भी ऐतिहासिक महाकाव्य हो जायेंगे। अतः ऐतिहासिक शब्द का उपर्युक्त अर्थ लगाना सर्वथा अनुचित है। और यदि तिथियों तथा उन उन घटनाओं की ठोस वर्णन सामग्री से युक्त काव्य को ही ऐतिहासिक काव्य कहा जायगा, तब आज इतिवृत्त को निर्दिष्ट करने वाले काव्य भी ऐतिहासिक कोटि में न आ सकेंगे।

यदि केवल वंशानुक्रम ही लिया जायगा तो उसके साथ काव्य में जितनी सामग्री कल्पना के आधार पर उपस्थित की गई है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जायगा। इससे काव्यनिर्माण का उद्देश्य और महत्त्व ही लुप्त हो जायगा। इसके विपरीत साहित्यिक दृष्टिकोण से जहाँ कहीं भी हम देखते हैं, काव्य में इतिवृत्तात्मकता तो कम और काव्यात्मक भावना अधिक मिलती है। अतः वहाँ इतिहास गौण हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'ऐतिहासिक काव्य' शब्द भ्रामक हो जाता है। अतः इस शब्द का इतना ही अर्थ लेना समुचित होगा—"वह काव्य, जिसमें इतिहासोपयोगी सामग्री

विद्यमान हो।" इतिहास के तत्त्वों का उपयोग करनेवाली सामग्री वाला काव्य ही ऐतिहासिक काव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार की बात मान लेने पर जिसमें उपदेशात्मकता, धार्मिकता या सांस्कृतिक चेतना का बाहुल्य होगा, वह ग्रन्थ इस कोटि में नहीं आ सकेगा। व्यापक अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ को ग्रहण करने पर ही यह बात निश्चित हो सकती है कि कौन काव्य ऐतिहासिक काव्य है।

इस दृष्टिकोण से संस्कृत साहित्य में हम हर्षचरित, गौडवध, नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित और राजतरंगिणी को ऐतिहासिक काव्य की कोटि में रख सकते हैं।

इन काव्यों के पूर्व के उपलब्ध काव्यों में ऐतिहासिक प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। क्यों? यदि कहा जाय कि बाणभट्ट आदि कवि राजाश्रित कवि थे, इसलिए इन लोगों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा पर ही विशेष ध्यान दिया और ऐतिहासिक तत्त्वों का समावेश आपाततः किया, तो प्रश्न उठता है कि कालिदास को भी तो राजाश्रय मिला था, फिर उसने अपने आश्रयदाता के समक्ष अपने-आपको सच्चा स्वामिभक्त और प्रशंसक सिद्ध करने का प्रयास क्यों नहीं किया? कालिदास ने भी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा की है, पर वह इतनी ध्वन्यात्मक हो गई, उसमें इतनी भंगिमा और अन्योक्ति का सा भाव आ गया कि उसका रूप ही बदल गया। उसकी ऐतिहासिकता ने काव्य का चोला पहन कर अपने को बिलकुल ही ढँक लिया। यह कालिदास की असाधारण प्रतिभा का हि फल था। यदि यह कहा जाय कि महाकवि बाणभट्ट आदि ने खुद ऐसा किया तो क्या वह चाटुकार थे? नहीं! यह नहीं माना जा सकता। कारण कि उनकी कविता को पढ़ने पर यह भली-भाँति विदित होता है कि वहाँ काव्यानन्द की कमी नहीं है, वह बरबस चित्त को द्रवीभूत कर ही देता है। उस काव्यानन्द में किसी रूप में भी चाटुकारिता का आभास नहीं मिलता, और फिर दरबारी कवियों की भाँति यदि अपने आश्रयदाताओं को ही प्रसन्न करना इनका ध्येय होता तो वे उन्हें केवल ऐसे रूप में चित्रित करते, जिससे उनका चरित्र अतिरञ्जित होकर एक चमत्कारिक काव्यरूप में रह जाता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इससे यह विदित होता है कि इस ऐतिहासिक काव्यनिर्माण में कोई न कोई ऐसी भावना काम करती रही है, जिससे ये लोग इस प्रकार के चरित्रों को लेकर काव्यनिर्माण करने लगे।

कालिदास ने अपने ग्रन्थों की रचना आदर्श महापुरुषों की कथावस्तु के आधार पर की। रामायण और महाभारत के महान् चरित्र कालिदास

के सामने थे। माघ, भारवि, भवभूति आदि में भी यह प्रवृत्ति उपलब्ध है, किन्तु उत्तरकालीन कवियों में इस परम्परा के विपरीत एक दूसरी परम्परा परिलक्षित होती है, जिसमें ख्यातिप्राप्त लौकिक राजाओं की कथावस्तु को आधार मानकर काव्यनिर्माण की प्रवृत्ति पायी जाती है।

तो क्या कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति और बाणभट्ट आदि के बीच के समय में ही उन महापुरुषों के चरित्रों में ऐसे कोई तत्त्व न रह गए थे, जिनपर आगे चलकर भी लोग काव्य निर्माण करते? ऐसा मानने में कुछ सकोच होता है। जहाँ इस प्रकार के राजचरितों को लेकर आगे बढने की जो प्रवृत्ति बाणभट्ट और उनके परवर्ती कवियों में देखी गई है, हो सकता है कि वह इसलिये हो कि इन लोगों ने सोचा हो कि भारतीय जीवन के अधिष्ठातृभूत प्रसिद्ध आदर्शों के प्रतीक चरित्रों को काव्य का रूप देने में कालिदास की क्षमता और समता को पाना कठिन है, और ख्यात होना तो अभीष्ट है, अत इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के मार्ग को त्याग कर एक ऐसी वस्तु उठाई, जो नवीन दृष्टिकोण की थी, और जनजीवन से दूर भी न थी। उसीको लेकर इन्होंने अपनी काव्यप्रतिभा का परिचय देना प्रारम्भ किया। फिर यह भी सम्भावना हो सकती है कि जिन राजाओं की इतिवृत्तात्मक कथावस्तु लेकर ये लोग चले हैं, वे अपने समय में ऐसे मान्य, श्रद्धेय और ख्यात रहे हों, जिन्हें जनता अत्यन्त गौरव की दृष्टि से देखती रही हो। अत अपने काव्य को गौरवान्वित करने के लिये और इस भाँति जनता के बीच अपने पूर्ववर्ती कालिदास आदि कवियों जैसी ख्याति प्राप्त करने के लिये भी इन कवियों ने इस प्रकार की इतिवृत्तात्मक काव्यनिर्माण की दिशा की ओर पैर बढाया।

यही कारण रहा होगा कि ऐतिहासिकता इन कवियों के काव्य में न्यून रही और काव्यनिर्माण की प्रवृत्ति अधिक बलवती। अन्यथा ये इतिवृत्त का ही उल्लेख विशेष रूप से करते और इस भाँति करते कि ऐतिहासिक ही कहे जाते, पर बात तो यह रही कि अपनी ख्याति के लिये ही इन्होंने काव्य-निर्माण की नवीन परम्परा अपनाई, और सम्भवत इसीलिये बाणभट्ट ने गद्यशैली का भी आश्रय लिया। बाणभट्ट के पश्चात् होनेवाले कवियों के काव्यों को देखने से और उनके काव्यों के नामकरण से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि बाणभट्ट के हर्षचरित में जितनी ऐतिहासिकता मिलती है, उतनी गौडवध में नहीं, और नवसाहसाङ्कचरित तथा विक्रमाङ्कदेव-चरित में तो वह और भी कम होती हुई प्रतीत होती है। हाँ, राजतरंगिणी में

काव्यमयी प्रवृत्ति न्यून और ऐतिहासिक प्रवृत्ति कुछ अधिक पाई जाती है। उसका कारण यही है कि राजतरंगिणी का निर्माता कल्हण तीन सौ वर्ष पुराने राजवंशों का और तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अपने दृष्टिकोण से संवीक्षण करने में लगा हुआ था। अतः उसका कार्य इन अन्य कवियों की प्रवृत्ति से कुछ भिन्न ही हो जाता है। सूक्ष्म विचार के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्य-परम्परा की जो प्रचुर प्रवृत्ति पाई जाती है, उसका उद्गम बाणभट्ट का हर्षचरित ही है।

हर्षचरित

हर्षचरित एक ऐसी प्रथम ऐतिहासिक कृति है, जिसमें काव्य के साथ-साथ ऐतिहासिकता की भी रक्षा हुई है। हर्षचरित में हर्षवर्धन के वंश-प्रवर्तक पुरुष से लेकर वंशक्रमवर्णन, युद्ध में सम्मिलित राजाओं का वर्णन, और अन्त में हर्ष के राज्य का विस्तार, उसकी दिग्विजय, उसकी लोकप्रियता, न्यायप्रियता आदि का वर्णन बड़ी रोचक समस्तगद्यात्मक शैली में किया गया है।

हर्षचरित के इतिवृत्त का वर्णन आलंकारिक और भावप्रधान ढंग से किया गया है। कविवर बाणभट्ट ने उसमें केवल अपने आश्रयदाता के इतिवृत्तात्मक जीवन का ही दर्शन नहीं कराया है, अपितु इसके पूर्व अपनी वंशोत्पत्तिक्रम का और अपनी कई पीढ़ियों तक का विवरण दिया है। इस काव्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में भी वही बात कही जा सकती है, जो संस्कृत के अन्य ऐतिहासिक काव्यों के विषय में कही जा सकती है, कि वे अतिरञ्जनापूर्ण हैं। पर यह हर्ष की बात है कि इस काव्य की समस्त ऐतिहासिक घटनाएँ आधुनिक इतिहासकारों ने सत्य स्वीकृत कर ली हैं। और वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि हर्षचरित में वर्णित घटनाएँ समसामयिक इतिहास के अनुसंधान के लिए उपयोगी सिद्ध हुई हैं। बाणभट्ट की इसी विशेषता को देखकर संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक महाकाव्यों के निर्माताओं में सर्वप्रथम बाणभट्ट का ही नाम आता है :

> बाणो वाक्पतिराजश्च पद्मगुप्तस्तथैव च।
> बिल्हणः कल्हणश्चैते प्रसिद्धा ऐतिहासिकाः॥

गौडवध

इसके पश्चात् वाक्पतिराजदेव के गौडवहो (गौडवध, ७३६ ई० पू०) की रचना है। इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। पर इस विषय में भी अभी मतभेद पाया जाता है। इसमें यशोवर्मा के द्वारा एक गौड राजा के

परास्त होने की घटना का वर्णन है। परन्तु महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों पर कम ध्यान दिया गया है। यहाँ तक कि प्रतिपक्षी गौड राजा का नाम तक नहीं दिया गया है। इसका कवित्वमय वर्णन सुन्दर और रोचक है।

नवसाहसाङ्कचरित

इस काव्य के निर्माता परिमलपद्मगुप्त हैं। इसमें 'वाक्पतिराज' उपाधिधारी मुञ्ज के छोटे भाई सिन्धुराज के पराक्रम की कथा और नागराजपुत्री शशिप्रभा के साथ उसके पाणिग्रहण का वर्णन किया गया है। सिन्धुराज नागों के शत्रु वज्राङ्कुश को मारकर उसकी स्वर्णवाटिका से हेमकमल को लाकर शशिप्रभा के पिता शङ्खपाल की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर शशिप्रभा से विवाह कर लेते हैं। इसी घटना का परिमलपद्मगुप्त ने विस्तृत एवं काव्योचित वर्णन करते हुए अपने आश्रयदाता सिन्धुराज के चरित्र पर प्रकाश डाला है। इसकी वर्णन शैली और संस्कृत काव्यमय रूप के भीतर से ऐतिहासिक तत्त्वों की खोज करने पर उनमें यथार्थ वंशवर्णन, तथा घटनाओं का पता ऐतिहासिकों को लग सकता है। इस कवि ने तत्कालीन अनेक विश्वसनीय ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डाला है, जिनकी पुष्टि अन्यत्र उपलब्ध प्रमाणों और शिलालेखों से होती है।

ऐतिहासिक काव्यपरम्परा में नवसाहसाङ्कचरित का स्थान

ऐतिहासिक महाकाव्यों में नवसाहसाङ्कचरित का क्या स्थान है? इसका निर्णय करना अति कठिन है। फिर भी कुछ आधारों पर यह कहा जा सकता है कि नवसाहसाङ्कचरित ऐतिहासिक काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

नवसाहसाङ्कचरित एक ऐसा महाकाव्य है, जो अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों प्रकार के ऐतिहासिक काव्यों की मध्य स्थिति में है, और दोनों पर प्रकाश डालता है। इसमें जो ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णित हैं, वे आज के इतिहास संशोधकों के लिए और विशेष कर परमारवंश के इतिहास पर प्रकाश डालने के लिए वरद सिद्ध हुई हैं। साथ ही साथ इस काव्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ प्रशस्तियों और शिलालेखों की सत्यता की कसौटी पर कसने से खरी उतरती हैं। बाणभट्ट और वाक्पतिराजदेव के अर्थात् पश्चात् नवसाहसाङ्क चरित ही एक ऐसा काव्य है, जो काव्य के दृष्टिकोण से अपना विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि इसकी इतिवृत्तयोजना सुन्दर, सरस और चमत्कारपूर्ण शैली के आधार पर हुई है।

शशिप्रभा के पाणिग्रहण की घटना सिन्धुराज के जीवन की प्रत्यक्ष घटना

है, जिसके आधार पर कवि की कल्पना को विस्तार मिला है, उसी पर काव्य की उपादेयता निर्भर है। यह सब कवि ने स्वयं सिन्धुराज की प्रेरणा से ही किया है, जिसका उल्लेख कवि ने स्वयं किया है। अतः यह प्रतीत होता है कि इस काव्य का तत्कालीन जनता में भी प्रभूत आदर रहा होगा।

यद्यपि वृहत्त्रयी की गणना में परिमलपद्मगुप्त की कृति की गणना नहीं की गई है, पर इससे उसका महत्त्व नहीं घटता। उसका महत्त्व तो इतने से ही अधिक बढ़ जाता है कि सुप्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य श्री मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में अलंकारों के उदाहरणों को देने के लिए नवसाहसाङ्कचरित के छंद उद्धृत किये हैं। मम्मट के समय तक इस ग्रंथ की ख्याति कश्मीर तक फैल चुकी थी। मम्मट को इस रचना में श्रेष्ठ गुण प्रतीत हुए, इसलिए उन्होंने इसके छंद उद्धरण के रूप में दिए। जैसे विषमालंकार के उदाहरण में :

> शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना।
> एष क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः। (१६।२८)

और :

> सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
> तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते। (१।६२)

तथा पर्यायालंकार में :

> बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत।
> अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि लक्ष्यते। (६।६०)

एकावली में :

> पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गयः।
> रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य॥
> (१।२१)

क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में, और वर्धमान ने गणतंत्रमहोदधि में पद्मगुप्त की चर्चा की है। कुछ कविता के अंश भी दिए हैं। परन्तु गणतंत्रमहोदधि में ऐसी कवितायें उद्धरणरूप में दी गई हैं, जो नवसाहसाङ्कचरित में नहीं हैं। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इस कवि की कोई और भी रचना रही होगी।

नवसाहसाङ्कचरित के पृष्ठ ३०६ के नीचे लिखा है : श्रीपरिमलकालिदासविरचिते साहसाङ्कचरिते हेमकमलहरणः सप्तदशसर्गः और पृष्ठ २६१ की टिप्पणी में भी यही लिखा हुआ है। पर मूल में कहीं भी यह

नहीं लिखा हुआ है। यह माना जा सकता है कि इसकी काव्यशैली पर कालिदास का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। कालिदास से कवि इतना प्रभावित है कि वह स्वयं ही कहता है "राजा ने अलंकारों से अपनी देह को इसी भाँति सजाया, जैसे कालिदास ने सरस्वती को।" कालिदास का नाम, उसकी दीपशिखा, चित्रशकलता आदि के प्रसंगों को देखकर विदित होता है कि कवि ने कालिदास के मार्ग को अपनाया। काव्यवर्णनशैली, काव्यसौन्दर्य, विषय-वर्णन, वस्तुचित्रण, समुचित भावभंगिमा को देखकर यदि लोग पद्मगुप्त को कालिदास या परिमलकालिदास कहते रहे हों तो आश्चर्य ही क्या?

इस विवरण से परिमलपद्मगुप्त की विशेषता और उसके स्थान का महत्त्व स्वयं ही निर्धारित हो जाता है। अर्थात् यह कवि कालिदास के समकक्ष है, यह कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं।

इन सब पहलुओं को देखते कहा जा सकता है कि यह काव्य अपने समय के काव्यों में ख्यातिप्राप्त था। दूसरी बात यह है कि बृहत्त्रयी का विषय रामायण और महाभारत के वृत्त रहे हैं। लोगों को वे अधिक मान्य थे, इसलिए उनके आधार पर बने काव्य चुनकर बृहत्त्रयी में रखे गये। अत बाद की नृपचरित-वर्णन-परम्परा को एक अन्य प्रकार की ही कोटि में रखा गया। इस काव्य का जनता में प्रचार हुआ, इसे ख्याति भी मिली, पर परम्परागत विषय-वर्णन की प्रियता और लोकरुचि बृहत्त्रयी के विषय में अधिक थी, इसलिए नवसाह-साङ्कचरित बृहत्त्रयी के समान नहीं माना जा सका।

नवसाहसाङ्कचरित की विशेषताएँ

नवसाहसाङ्कचरित अपने समय के काव्यों में उत्तम माना जाना चाहिए। इसके कारण हैं, और वे हैं इसकी विभिन्न विशेषताएँ।

इसकी पहली विशेषता तो यह है कि इसका निर्माण प्रतिभासम्पन्न रूप से हुआ। वर्णन शैली पर कालिदास की छाप है। पर न इसमें पूर्ण रूप से कालिदास की ही शैली है, और न बाणभट्ट की ही। दोनों शैलियों का सम्मिश्रण इसमें है। जिसके कारण यह काव्य अपने ढंग का निराला ही हो गया है। सुकुमारता और ओजयुक्त शैली, अप्रेरित कथा का स्वाभाविक वर्णन, और भाषा की प्राञ्जलता—इसके गुण हैं, जिनकी अभिव्यञ्जना भली भाँति हुई है।

दूसरी विशेषता यह है कि इस कवि ने अपने काव्य में उन ऐतिहासिक तथ्यों को निर्दिष्ट किया है, जो परमारवंश के इतिहास के लिए प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। परन्तु यह सामग्री इतने समुचित ढंग से रखी गई है कि उसकी उपादेयता और चारुत्वोत्कर्ष अपने समय के सभी काव्यों से अधिक प्रिय प्रतीत होते हैं। इसमें काव्य के उत्तम गुण पूर्ण रूप से सन्निहित हैं।

तीसरी विशेषता इसकी सफल इतिवृत्तयोजना है।

चौथी विशेषता चरित्र-चित्रण की प्रभावोत्पादकता, वर्णनों की विशदता एवं मनोहारिता, व्यक्तित्व का समुचित विकास, एवं भारतीय परम्परा का आदर्शोन्मुख प्रणय है, जो कल्पित होते हुए भी वास्तविक है और लोकानुभव से बाहर की वस्तु नहीं है।

पाँचवी विशेषता रस तथा भाव की सफल योजना और उसके लिए अलंकारों का औचित्य, नातिनिर्वहणीयता तथा अकष्टसाध्यता का समावेश है। छन्दोयोजना की भावानुकूल स्थापना और भी विशेष गुणोत्कर्ष की द्योतिका है, जिसके कारण उद्देश्य की पूर्ति में कहीं भी व्यवधान नहीं आने पाया है।

छठी विशेषता सिन्धुराज के परम पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति के स्वच्छन्द गतिशील रूप का मनोवैज्ञानिक चित्रण है, जो इसके मूलवृत्त का महत्त्व है।

सातवीं विशेषता अपनी मौलिकता के साथ अन्य कवियों की शैली का सामंजस्य करा देना है, जिसके द्विगुणित प्रभाव के कारण भावचित्र और वस्तु-चित्र उभरते चले गए हैं और वातावरण की स्पष्टता तथा स्वाभाविकता का रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

आठवीं विशेषता कवि और पाठक, पात्र और पाठक के बीच एक आत्मीयता का भाव और तदाकारत्व की अनुभूति है, जिससे कवि की मर्मज्ञता और सहृदयता का परिचय मिलता है और काव्यानन्द की चरमानुभूति हो जाती है।

इन सब विशेषताओं के कारण नवसाहसाङ्कचरित का स्थान ऐतिहासिक काव्यों में किसी से कम नहीं रहता, और यदि यह कहा जाय कि अपनी विशेषताओं के बल पर यह काव्य उनसे भी अधिक महत्त्व का है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

कविविषयक चर्चा

संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि करने वाले अधिकतर कवि अपने वंश-परिचय और अपने विषय में प्रायः उदासीन ही रहे हैं। उन महापुरुषों ने सम्भवतः इसकी कल्पना भी नहीं की और यह भी हो सकता है कि अपने समय में वे इतने ख्यात रहे होंगे कि उन्हें अपना परिचय देने की आवश्यकता भी न पड़ी होगी। जो कुछ भी हो, यहाँ पर हम यही कह सकते हैं कि वस्तुतः भास और कालिदासादि कवि जिस प्रकार अपना परिचय देने में लालायित नहीं रहे, उसी प्रकार पद्मगुप्त भी अपने विषय में उदासीन रहा है। इतने बड़े काव्य

के आदि अन्त में कहीं भी कवि ने अपना परिचय नहीं दिया। केवल प्रति सर्ग के अन्त में कवि ने 'मृगाङ्कदत्तसूनो' कह कर अपने पिता मृगाङ्कदत्त का नाममात्र दिया है।

पर इस कवि की जन्मभूमि कहाँ थी, इस विषय में कहीं भी कुछ उल्लेख नहीं मिलता। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में बलदेवप्रसाद जी उपाध्याय ने एवं 'संस्कृत साहित्य की रूपरेखा' में भी चन्द्रशेखर शास्त्री जी ने भी केवल पद्मगुप्त की चर्चा मात्र कर दी, और कुछ भी उसके विषय में नहीं लिखा। श्री विश्वेश्वरनाथ जी रेउ ने अपने ग्रंथ 'राजा भोज' में इस कवि के आश्रय दाताओं के उल्लेख के अवसर पर पद्मगुप्त और उसके पिता मृगाङ्कदत्त के नामों का उल्लेख मात्र ही किया है। 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' (श्रीकृष्ण-माचारी) में भी अन्य पात्रों की चर्चा तो इस कवि के सम्बन्ध में की गई है, पर वहाँ भी परिमल का कोई उल्लेख नहीं। यह कवि धारा नगरी में ही उत्पन्न हुआ था या कहीं बाहर से वहाँ आया था, कैसे यह मुञ्ज का दरबारी कवि बना, इन बातों का संकेत कहीं भी नहीं मिलता। क्षेमेन्द्र की औचित्य विचारचर्चा में भी इस कवि का उल्लेख है, पर वहाँ भी परिचय नहीं दिया गया है। भोज के सरस्वतीकंठाभरण से भी कुछ पता नहीं चलता। इस विषय में जो कुछ भी विशेष रूप से ज्ञात हो सकता है, उसका आधार नवसाहसाङ्कचरित ही है, जिस पर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। अन्त साक्ष्य और बहि-साक्ष्य जो कुछ भी उपलब्ध हो सकते हैं, केवल नवसाहसाङ्कचरित से ही, उन्हीं के आधार पर कहा जा सकता है कि यह कवि बाहर से आकर धारा में रहने लगा था। वहाँ कविबान्धव मुञ्ज से इसकी मैत्री हुई और वह मुञ्ज के आश्रय में रहने लगा। मुञ्ज के समय में भी इसने कुछ ग्रंथ लिखे। कवि ने मुञ्ज के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है।

सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम्।
यस्य प्रसादाद्वयमप्यनन्यकवीन्द्रचीर्णे पथि संचरामः ॥ (१।७)

और

दिवं यियासुर्मम वाचि मुद्रामदत्त यां वाक्पतिराजदेवः।
तस्यानुजन्मा कविबान्धवस्य भिनत्ति तां सम्प्रति सिन्धुराजः ॥ (१।८)

इन श्लोकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त मुञ्ज का बड़ा कृपापात्र था। उसके मरने पर कवि ने मौन धारण कर लिया था, ग्रंथ निर्माण और साधारण रूप से कविता करना उसने बन्द कर दिया था, परन्तु सिन्धुराज के कहने पर कवि को नवसाहसाङ्कचरित का निर्माण करना पड़ा। राजा नवसाहसाङ्क ने ही अन्य कवियों के होते हुए भी इसी कवि को काव्य

निर्माण के लिए नियुक्त किया। इससे इस कवि की काव्यनिर्माण-निपुणता का आभास मिलता है।

इसी आधार पर कवि के काल का और ग्रंथ-निर्माण के काल का भी अनुमान सरलता से हो जाता है। मुञ्ज ने कर्नाटक (लार) चोल देश के राजाओं को परास्त किया। तैलप द्वितीय ने इसे वि० सं० १०५० और १०५४ के बीच मार डाला। पश्चात् सिन्धुराज गद्दी पर बैठा और वि० सं० १०६६ के कुछ पूर्व गुजरातनरेश सोलंकी चामुण्डराय के साथ की लड़ाई (१०१० ई० सं०) में मारा गया। मुञ्ज की मृत्यु १०५०-१०५४ के बीच मानी जाती है। सिन्धुराज (राजा भोज) की मृत्यु जब १०६६ वि० में हुई तो इस हिसाब से १४ या १६ वर्ष तक ही सिन्धुराज का राज्य रहा। मुञ्ज की मृत्यु के बाद कुछ समय तक पद्मगुप्त ने काव्य भी नहीं लिखा। सिन्धुराज जब १०५३-५४ में सिंहासनाधिरूढ हुआ होगा, तभी उसने पद्मगुप्त से काव्यनिर्माण के लिए भी कहा होगा। चार-पाँच साल तक सिन्धुराज ने भी अपने पराक्रम का विस्तार किया होगा। और तभी उसने अपनी यशोगाथा लिखने का आदेश दिया होगा। क्योंकि इस बीच उसने कई राजाओं के साथ युद्ध किए, जिनका वर्णन पद्मगुप्त ने नवसाहसाङ्कचरित में किया है। तब तो नवसाहसाङ्कचरित का निर्माणकाल १०६१-६२ वि० सं० (ई० सं० १००५) सिद्ध होता है।[1]

जब पद्मगुप्त ने राजाश्रय पाया होगा, तब कम-से-कम उसका अध्ययन भी प्रौढ रहा होगा और उसकी कविता भी परिष्कृत हो चुकी होगी। इस काल में उसकी आयु कम-से-कम २५-३० वर्ष की अवश्य रही होगी। इस प्रकार यदि मान लिया जाय तो पद्मगुप्त का जन्मकाल १०१८ के लगभग माना जाना चाहिए। १०४८ में वह मुञ्ज का दरबारी कवि बना होगा। मृत्युकाल क्या रहा होगा, इसका किसी भी भाँति अनुमान नहीं किया जा सकता है।

रही बात जन्मस्थान की, तो यह भी निर्णयात्मक दृष्टि से नहीं कहा जा सकता है कि यह कवि कहाँ का था, किन्तु इतना तो उसके काव्य के आधार पर कहा ही जा सकता है कि वह उज्जयिनी का नहीं था, बाहर से आकर वह यहाँ बस गया; क्योंकि कवि ने उज्जयिनी का जो वर्णन किया है, उसमें यह विदित होता है कि उज्जयिनी के गूढ रहस्यों और चित्रणों के बारे में वह बात नहीं है, जो कालिदास के उज्जयिनी-वर्णन में है। अन्य स्थानों का वर्णन कवि

१. "नवसाहसाङ्कचरित की रचना १००५ के लगभग हुई"—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा (चन्द्रशेखर शास्त्री)।

ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है, जैसे—भोगवती का वर्णन, नर्मदा का वर्णन आदि। इसपर से इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि यह कवि कश्मीर का रहा होगा, क्योंकि उधर के ही प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण उसके काव्य में उत्तम रूप से उपस्थित किए गए हैं। हाटकेश्वर के वर्णन से भी यह कहा जा सकता है कि वह कश्मीर के सौन्दर्य से परिचित था, और नाम भी उसका कश्मीरी परम्परा का ही सा है और उस पर कश्मीरी शैव सिद्धांत की छाप भी अवश्य पड़ी है। यह भी अवश्य है कि वह शैवभक्त था। उसने अपने काव्य में प्रारम्भ से ही शिव की स्तुति की है। मध्य में भी कई छन्द शिवस्तुति और शिवमहिमा के हैं। अन्त में भी शिवस्तुति के साथ ही ग्रन्थसमाप्ति की गई है। अतः यदि यह मान लिया जाय कि वह कश्मीरी था तो अनुचित नहीं होगा।

नवसाहसाङ्कचरित का मूलवृत्त

संस्कृत के महाकाव्यों में आदिकवि वाल्मीकि से लेकर उत्तरोत्तर जितने भी महाकाव्य के निर्माता हुए हैं, उन सबने प्रख्यात मूल वृत्त को ही लेकर अपने काव्यों का निर्माण किया है। उनकी इस परम्परा का उद्देश्य प्रख्यात वृत्त से परिचित जनता में अपने काव्य द्वारा उसकी सत्ता और गुणगरिमा प्रतिष्ठित करना ही रहा है। अधिकतर महाकवियों ने रामायण और महाभारत की कथाओं को लेकर अपने काव्यों की रचना की, किन्तु कुछ काल के पश्चात् विषय की नवीनता ने भी कवियों के चित्त को आकृष्ट किया और इसी लिये आगे आने वाली पीढ़ी ने नवीन कथावस्तु के आधार पर अपने काव्य का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। बाणभट्ट जैसे कुछ महाकवियों ने प्रख्यात राजपुरुषों के वृत्तों को लेकर इस नयी परम्परा को प्रचलित किया। परिमलपद्मगुप्त ने भी इसी परम्परा के आधार पर अपने समय के प्रख्यात, वीर, साहसी सिन्धुराज के वृत्त को लेकर नवसाहसाङ्कचरित की रचना की। इस काव्य का मूलवृत्त परमारवंश की राज्यश्री का सिन्धुराज द्वारा स्थिर करना है, जिसमें परमार राजाओं की वीरपरम्परा निहित है। उपेन्द्र नामक राजा से लेकर सिन्धुराज नवसाहसाङ्क तक की जो घटना ऐतिहासिक रूप में पद्मगुप्त ने प्रस्तुत की है, वही इस मूलवृत्त का केन्द्रबिन्दु है और वही मूल वृत्त समस्त काव्य के इतिवृत्त के विस्तार में बीजरूप से पाया जाता है।

सिन्धुराज के पूर्व उसका बड़ा भाई मुञ्ज अपनी कीर्तिपताका को फहरा चुका था। मुञ्ज स्वयं वीर, कवि और कविबान्धव भी था। पद्मगुप्त मुञ्ज का दरबारी कवि था। मुञ्ज की मृत्यु के पश्चात् पद्मगुप्त ने काव्य का निर्माण करना छोड़ दिया था। उस समय सिन्धुराज राज्याधिकारी हो

चुका था। सिन्धुराज जनप्रिय नृपति था, वह भी मुञ्ज की ही भाँति ख्याति प्राप्त करना चाहता था, जो उसकी वीरता और साहस के साथ काव्य द्वारा विशेष रूप से हो सकती थी। अतः उसने स्वयं पद्मगुप्त को इस प्रकार के ग्रन्थ-निर्माण की आज्ञा दी, जिससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस महाकाव्य का मूल वृत्त सिन्धुराज द्वारा परमारराज्यलक्ष्मी का स्थिरीकरण ही है। कवि पद्मगुप्त उस वंश से परिचित था ही। उस वंश के वीरों की पराक्रमशालिता और वीरता के बारे में उसे पर्याप्त ज्ञान था, अतः उसने परमारवंश की राज्यश्री को शत्रुभूपतियों से जीतकर उसे स्थिर रखने का सारा श्रेय सिन्धुराज को दिया और इसीलिये उसने नवसाहसाङ्क सिन्धुराज का परमोच्च व्यक्तित्व सामने रखा।

सिन्धुराज अपने समय में कुन्तलेन्द्र जैसे नृपति को परास्त करके ख्यात हो चुका था, इसलिये पद्मगुप्त ने उसीके वृत्त को लेकर अपने काव्य का निर्माण किया। मूलवृत्त के पश्चात् कवि ने इतिवृत्त का मनोहर एवं कलात्मक विस्तार किया और उसे रोचक बनाने के लिये अपनी कल्पनाप्रसूत शशिप्रभा, जो राज्यलक्ष्मी का प्रतीक है, एवं वज्रांकुश जो तैलयवंशीय कुन्तलेन्द्र के रूप में देखा गया है, इन दोनों की योजना कर दी। इस महाकाव्य का मूल वृत्त प्रख्यात है, जो भारतीय जनता को अपने समय में प्रिय रहा है, और जो भारतीय जीवन के व्यापक अंग से सम्बद्ध रह चुका है। साथ ही साथ पद्मगुप्त की प्रत्यक्ष अनुभूति भी इसमें रही है। इसीलिये इसने इस मूल वृत्त को लेकर नवसाहसाङ्कचरित की रचना की।

नवसाहसाङ्कचरित की इतिवृत्तयोजना

मूल वृत्त के परिचय के पश्चात् हम यह सुगमता से कह सकते हैं कि इस महाकाव्य का इतिवृत्तात्मक शरीर पद्मगुप्त की कल्पना से बना है और जिस भाँति पद्मगुप्त ने अपनी उदात्त कल्पना के द्वारा उसे सँवारा है, उसके अनुसार यह इतिवृत्त इस महाकाव्य में इस प्रकार झलक रहा है :

मुञ्ज की मृत्यु के पश्चात् सिन्धुराज राजसिंहासनारूढ हो चुका है। राजसत्ता की प्राप्ति के पश्चात् वह अपने प्रतिपक्षी अनेक राजाओं को जीत लेता है। अपने भाई मुञ्ज की दुखद मृत्यु का प्रतिशोध वह कुन्तलेन्द्र से लेता है। कुन्तलेन्द्र को जीतना सहज कार्य नहीं है। इसके लिये सिन्धुराज की वीरता और साहस के कार्यों को दिखा कर उन्हें दैवी शक्तियों का सहयोग दिखलाया गया है। मृगया-विहार से लेकर विन्ध्याटवी में नागराजपुत्री शशिप्रभा के हार की प्राप्ति द्वारा उससे भेंट, उसका अदृश्य होना, उसकी

प्राप्ति के लिये चेष्टायें आदि घटनाओं के द्वारा सिन्धुराज के अदम्य साहस और उत्साह का परिचय दिया गया है। वंकुमुनि का आशीर्वाद, नागों और गंधर्वों की सेना का सहयोग, नर्मदा की मंगल-कामना का इतिवृत्त में समावेश किया गया, जिससे सिन्धुराज की अंगसम्पत्ति और श्रमपरायणीय शक्ति का परिचय दिया गया है। भीषण साहसी कार्यों के फलस्वरूप शशिप्रभा के साथ राज्यलक्ष्मी का सुखभोग दिया गया है। इसके लिये सिन्धुराज को पथ में आनेवाली बाधाओं पर विजय प्राप्त करने वाला सिद्ध किया गया है। वज्रांकुश जैसे अदम्य दैत्य का वध कराकर उसकी राजधानी से स्वर्णकमल का आहरण करना और अन्त में पूर्णरूप से सब सुख प्राप्त करना—इस काव्य के इतिवृत्त का अन्तिम छोर है।

इस प्रकार मूल वृत्त में महान् भेद दृष्टिगोचर होता है। इस नाटक के इतिवृत्त की कल्पना सुसश्लिष्ट और सस्कृत रूप से हुई है, जिस पर स्वयं नायक और कवि दोनों मुग्ध हुए जान पड़ते हैं। सप्तम तथा दशम सर्ग में एवं ग्यारहवें सर्ग के १०२ श्लोक से लेकर ११७ श्लोक तक इस इतिवृत्त की उत्पत्ति कवि ने स्पष्ट रूप से की है, जिसमें हूण, वागड़, मुरल, लाट, कर्णाटक, कोशलपति पर विजय का स्मरण दिलाकर राजनीति का वर्णन करके इतिवृत्त को विस्तृत रूप दिया है। यह है इतिवृत्त, जिसका परिचय कवि की कल्पना शक्ति के साथ कथारूप में मिलकर हमें मिलता है। कवि की प्रतिमा और उदात्त कल्पना ने इस वृत्त को हृदयावर्जक ढंग से उपस्थित किया है।

नवसाहसाङ्कचरित में चरित्र चित्रण

संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में जो चरित उपस्थित किए गए हैं, वे या तो अलौकिक रहे हैं या महापुरुषों के। इसके अतिरिक्त उच्चवंशी राजाओं के या ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के चरित्रों की भी उपस्थापना की गई है। अनेक महाकाव्यों के नायकों के चरित्र साधारण होते हुए भी अलौकिकता से सवलित हैं। ऐसे चरित्रों को इसीलिए ग्राह्य माना गया है कि उनकी परम्परा साहित्यिक आदर्श के रूप में स्वीकृत थी। परन्तु यह एक ऐसी बात रही है कि महाकाव्यों के निर्माण के लिए लौकिक या अलौकिक जो भी चरित लिए गए हैं, उनका चित्रण साधारण जीवन के आधार पर हुआ है। उनकी जितनी भी विशेषता है, वह साधारण जीवन के धरातल से ऊपर उठकर उसमें मानवीय उदात्त भावनाओं का विकास करना ही है। सामान्य रूप से मानवीय दुर्बलताओं का दिग्दर्शन कराकर उनपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा सभीमें की गई है। इसीलिए चरित के अंतर्गत सत्य, ईमानदारी, त्याग, परदुःखकातरता, सहिष्णुता, आदर्शों की दृढ़ता, आत्मसंयम आदि

अनेक गुणों का बोध सन्निविष्ट रहता है। चरित्र की विशेषता यह है कि वह पशुप्रवृत्तियों पर श्रेष्ठ दैवी गुणों की प्रतिष्ठा करता है, और इन्हीं विशेषताओं पर उसके महत्त्व का मूल्यांकन प्रायः सभी कवियों ने किया है, और तभी महाकाव्य के नायक में कुछ स्वाभाविक गुणों का होना अनिवार्य माना गया है।

तेजो विलासो माधुर्यं शोभास्थैर्यगभीरताः।
औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः॥

ये सात्त्विक गुण किसी भी कोटि के नायक में होने चाहिए।

नवसाहसाङ्कचरित के नायक सिन्धुराज में हम इन सभी गुणों को पाते हैं। आलंकारिक आचार्यों ने जो चार प्रकार के नायक माने हैं, उनमें से दो भेदों (धीरोदात्त, धीरललित) के मिलन-बिन्दु से बना हुआ सिन्धुराज का व्यक्तित्व है।

कालिदास के पात्रों का चरित्र आदर्शोन्मुख होते हुए भी वे इसीलिए सर्वथा स्वाभाविक सिद्ध हुए हैं कि उनमें साधारण जीवन का पक्ष अधिक प्रबल रहा है, एवं व्यावहारिक सत्य की कहीं भी अवहेलना नहीं की गई है। बाणभट्ट के पात्र कल्पना का कलेवर धारण करने पर भी व्यावहारिक सत्य के अत्यधिक निकट हैं। यही बात भारवि एवं माघ के पात्रों में भी पाई जाती है। परिमलपद्मगुप्त के नवसाहसाङ्कचरित के पात्र भी कुछ ऐसे ही हैं। इनमें अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन भी है, तथापि साधारण जीवन का लौकिक पक्ष और जीवनोपयोगी सत्य का स्वाभाविक चित्र भी उपस्थित किया गया है।

इस काव्य में दो ही प्रधान चरित्र हैं। सिन्धुराज नवसाहसाङ्क और नागराज शंखपाल की पुत्री शशिप्रभा। सिन्धुराज का व्यक्तित्व परम पुरुषार्थी, तेजस्वी, विलासी, माधुर्यसम्पन्न, गम्भीर और ललित आदि गुणों की समष्टि से बना हुआ है। उसे प्रभावसम्पन्न प्रतिज्ञापालक के रूप में उपस्थित किया गया है। विनय और शालीनता ने उसके प्रधान गुण हैं। उसके साहस के सम्बन्ध में पद्मगुप्त ने कहा है :

निर्व्यूढनानाद्भुतसाहसश्च (१।५६)—इससे उसकी अद्भुत साहसी शक्ति की सूचना मिलती है, इसकी पुष्टि इस प्रकार की गई है :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते। (१।६२)

इस प्रकार सिन्धुराज की साहससम्पन्न शक्ति का परिचय दिया गया है।

सिन्धुराज प्रसन्नचित्त का मनस्वी व्यक्ति है। राज्यशासन में निपुण, गुणग्राही, गुणों की कदर करनेवाला एवं सत्यभाषी है। कवि ने स्वयं इस विषय में कहा है कि वह ययाति, मान्धाता और भरतोपम है। उसने सैकड़ों साहसी कार्य किये, इसीलिए वीर-गोष्ठियों में उसे नवसाहसाङ्क नाम से लोग पुकारा करते थे (११।६२)।

रूपेण तेजस्वितयार्जवेन प्रियंवदत्वेन तवामुना च।
दिलीपदुष्यन्तभगीरथादीन् सानादिराजान् झटिति स्मरामि। (६।६)

इस श्लोक में सिन्धुराज के उन सभी गुणों का उल्लेख किया गया है, जो वस्तुत नायक में होने चाहिए। साहस और स्थैर्य का परिचय उस समय अधिक मिलता है, जब वह मार्ग में अनेक उपद्रवों का सामना करता हुआ नर्मदा को पार कर नागलोक तक जाता है और शशिप्रभा की प्राप्ति के लिए वज्राङ्कुश जैसे दुर्दान्त और दुर्मद राक्षस पर विजय प्राप्त करके उसकी वापिका से स्वर्ण-कमल लाकर शङ्खपाल की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है।

एक स्थितो साहसिकस्त्वमेव
नान्योऽस्ति राजन्नवसाहसाङ्क।
निसर्गदुर्गामपि भूमिमेतां
स्वोद्यानवीथीमिव य प्रविष्ट॥ (६।४६)

सा ते समासादितसाहसस्य
वत्साङ्कमभ्येतु फणीन्द्रकन्या।
सीता यथा दाशरथे सलीलम्
आरोपितत्र्यम्बककार्मुकस्य॥ (६।६१)

इस कथन से सिन्धुराज का उत्साही होना पुष्ट होता है। पर इतना ही नहीं, इस उत्साह की पुष्टि वज्राङ्कुश के साथ का भीषण युद्ध है, जिसमें उसकी वीरत्वशक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। जहाँ नवसाहसाङ्क का चरित साहससम्पन्न और धैर्यशाली है, वहाँ उसमें रसिकता भी उतनी ही अधिक पाई जाती है। उसकी शृङ्गारप्रियता का परिचय तो समस्त काव्य में ही मिलता है। प्रेमी हृदय का सिन्धुराज रूपलोलुप या कोरा कामी नहीं। उसके हृदय में सत्यस्नेह बद्धमूल रूप से दिखाई देता है। जब से उसने शशिप्रभा को देखा, उसके मन में उत्पन्न पूर्वानुराग उसकी प्राप्ति में पूर्ण सहायक हो जाता है, और इसीलिए संकटों का सामना करते हुए भी वह उसे प्राप्त कर लेता है। शृङ्गारप्रियता के साथ इसका सौन्दर्यदर्शन और प्रेम भी उत्तम कोटि का है। कालिदास के दुष्यन्त की भाँति इसके प्रेम का परिचय भी वन में ही मिलता है। यहाँ भी सखियाँ प्रेमपुष्टि में सहायक होती हैं। वे शशिप्रभा से कहती हैं

स्थिरा भव नृपेण त्वमिह संयोगमाप्स्यसि।
यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला॥

(७।६६)

विरतेऽपि मेघतिमिरे नताङ्गि मे
न गतासि लोचनपथं यदा तदा।
फणिलोकभूमिमतिदुर्गमामिमाम्
अविशं तवानुपदमेव सुन्दरि।

(११।५४)

शशिप्रभा की प्राप्ति के लिए दुर्गम फणिलोक की भूमि में प्राणों की बाजी लगाकर प्रवेश करना प्रेम की पुष्टि का प्रमाण नहीं है तो और क्या है? हेमकमल लाकर शशिप्रभा के साथ पाणिग्रहण करने से प्रेम की सत्यता का पूर्ण परिचय मिल जाता है। इस सारी घटना में उसकी शृंगारी प्रवृत्ति ही काम करती दिखाई पड़ती है, जिससे वह सच्चा प्रेमी और दृढ़प्रतिज्ञ दिखाई देता है। परन्तु सिन्धुराज का आदर्श प्रेम सामान्य मानव-जीवन के आदर्श का प्रतीक है। 'त्रिभुवनविभ्रमैकभूमि' शशिप्रभा के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर उसमें अनुरक्त होना भी स्वाभाविक था। किन्तु इस अनुराग में मर्यादा का उल्लंघन कहीं भी नहीं हुआ। उसने शशिप्रभा की प्राप्ति की चेष्टा तभी की, जब उसे 'श्रुता गुणाढ्यस्य बृहत्कथा तव' और "अतो वरोऽयं युवयो: समागम:' की सूचना मिल जाती है। 'असीमसौंदर्यविलासभू' शशिप्रभा से वह तभी प्रेम करता है, जब उसे उसके अनुराग की भी सूचना मिल जाती है। इस प्रेम के प्रसंग में कवि ने अपने नायक के चरित में मानवोचित दुर्बलताओं का चित्रण करके स्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है। शशिप्रभा के अदर्शन से नितान्त व्याकुल हो जाना, हार को देखकर कामासक्त हो जाना, व्याकुलता में सन्देश भेजना, सन्देश में अपनी कामासक्तता का उल्लेख करना आदि ऐसे तथ्य हैं, जिनका स्वाभाविक चित्रण नवसाहसांक के व्यक्तित्व में हुआ है। यद्यपि कथानक को देखकर कुछ घटनाएँ—जैसे नर्मदा के बिल में प्रविष्ट होना, गन्धर्व-सेना का सहयोग देना; बन्दर का मनुष्य हो जाना आदि—अस्वाभाविक सी जान पड़ती हैं, किन्तु इन घटनाओं में दैवी शक्ति और शापविमोचन आदि का प्रकरण उपस्थित करके उन्हें काव्योचित बना दिया गया है। अभीष्ट रस के अनुकूल इस प्रकार की कल्पना का समावेश भी चरित की विशेषता में एक गुण ही माना जाता है, जिसके कारण

समय समय पर रस का उद्दीपन और प्रशमन होता रहे, एवं प्रधान रस की विश्रान्ति होने पर उसे फिर से सँभाल लिया जाय।[1]

सिन्धुराज प्रतापी और शोभाशाली था, उसमें अनेक गुणों की समष्टि थी। इस विषय में पद्मगुप्त ने यों कहा है

पृथुप्रतापस्सवितेव यथैव यथा कलानां निधिरोषधीशः।
यथा वसन्तः सुमनोऽनुकूलस्तथाऽभि भूमि स्पृहणीयतायाः। (६।२४)
कन्दर्पाधिककान्तीयमवन्तिभूमिलाञ्छन (६।५५)

यहां पर जिन गुणों की समष्टि का परिचय दिया है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नवसाहसाङ्कचरित के नायक सिन्धुराज के चरित में "अष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः" की उक्ति सुचारु रूप से घटित हो जाती है।

शशिप्रभा

नवसाहसाङ्कचरित की नायिका है शशिप्रभा। शशिप्रभा का भी अपना व्यक्तित्व है। अतुलनीय सौन्दर्य की नैसर्गिक छटा उसमें देखी जाती है। नागलोक की उस सर्वसुन्दरी की समता रति, चित्रलेखा, घृताची और तिलोत्तमा भी नहीं कर सकतीं। तपोढलावण्यतरंगभङ्गया सरागबिम्बोष्ठगतप्रवालया (५।२४) कह कर कवि ने उसके सौन्दर्य को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है।

शशिप्रभा 'धनानुरागिणी' है। सिन्धुराज की चर्चा उसने सुन रखी है। मृग को लगे बाण के दर्शन से और बाण पर लिखी नृपति की नामाक्षरपंक्ति को पढ़कर शशिप्रभा के हृदय में अनुराग का अङ्कुर प्रस्फुटित हो जाता है। यह पूर्वानुराग उसकी हृदय की सरलता और तरलता का संसर्ग पाकर लज्जा की सृष्टि कर देता है, जिससे वह लज्जाशील स्वभाव की प्रतीत होने लगती है। उसकी लज्जा विनय और मर्यादा संयुक्त है। वह प्रेम के प्रसंग में कभी भी अमर्यादित तथा निरावरण नहीं होती। उसमें भारतीय नारी का संयम देखा जाता है।

चित्रपर्णिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा॥ (६।४२)

नवानुराग की वृद्धि होने पर भी वह मर्यादा का ध्यान रखती है।

---

१ कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा
यथा रसमयं सर्वमेवतत्प्रतिभासते।
पुनरुद्दीप्यप्रशमौ यथावसरमन्तरा रसस्य। ... पुनरनुसन्धानं चाङ्गिनः। उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्यारब्धविश्रान्तेः। पुनरस्येद्यप्यन्तरामीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेय, यथा कालिदासप्रबन्धेषु।
(ध्वन्यालोक तृ० उ० पृ० ३११)

वह राजा को देखती भी है तो कनखियों से। "सदाचारपरे" विशेषण भी सम्भवतः कवि ने उसकी इन विशेषताओं को ही देख कर दिया होगा। परिस्थितिवश जब सिन्धुराज उसको अपने समीप आने को कहता है तो हृदय से तो वह चाहती है, पर मर्यादा का ध्यान उसे उस समय भी रहता है।

विरह की अवस्था में उसके प्रेमी हृदय का सच्चा रूप देखने को मिलता है। नारीहृदय का प्रेम, उमंगें और सभी भावुक दशायें उसमें पाई जाती हैं। सिन्धुराज का विरह उसे व्याकुल करता है, उसीका चिन्तन वह करती रहती है। पर हाहाकार नहीं करती। हृदय को जला देने वाले विरहानल की पीडा को वह झेलती है, उसका ढिंढोरा नहीं पीटती। इससे उसकी धीरता का पता चलता है। शशिप्रभा के चरित्र में इसीलिए एक और विशेपता भी आ गई है कि कवि ने उसके चरित्र में सामाजिक, धार्मिक, व्यावहारिक और नारी-हृदय के चित्रों का रूपरंग भली-भाँति निखारा है। माधुर्य, शोभा, लज्जा, गाढानुराग और अनन्यासक्ति का जो चित्रण शशिप्रभा के व्यक्तित्व में हुआ है, वह मनोवैज्ञानिक है और स्वाभाविक भी।

वह वाक्चातुरी में भी दक्ष है। उसका स्वभाव दयालु है। वह हास-परिहास की प्रकृति वाली भी है। और सबसे बड़ी विशेषता है उसके सत्य प्रेम की। उपर्युक्त कथन के आधार पर हम कह सकते हैं कि शशिप्रभा का चरित एक संभ्रान्त भारतीय नारी का चरित है, जो आदर्शोन्मुख होता हुआ भी व्यावहारिकता के अति निकट है।

रमाङ्गद

रमाङ्गद चतुर बुद्धि का कार्यकुशल मंत्री है। उसके विचारों में दृढता और कार्यवाहक शक्ति का सम्मिश्रण है। राजा जब कभी भी धैर्यहीन होने लगता है तो रमाङ्गद बड़ी निपुणता के साथ उसे धीरज बँधाता है। वह स्वयं साहसी और वीर है। इसका प्रमाण उसका वज्रांकुश के साथ का युद्ध है। वह राजनीति का पंडित है। यह गुण उसका तब प्रकट होता है, जब वह वज्रांकुश के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर जाता है और राजनीति की बातें करता है। रमाङ्गद स्वामिभक्त मंत्री है। इसी प्रकार के कई गुणों की समष्टि का व्यक्तित्व है रमाङ्गद का।

पाटला

पाटला का व्यक्तित्व चतुरता एवं परिहासप्रियता का जीवन्त व्यक्तित्व है। इनका परिचय उस समय मिलता है, जब वह राजा से हार माँगते समय बातचीत करती है। वह रूपवती, बुद्धिमती, 'भंगिभणितिदक्ष' और कर्तव्य-

पालन में तत्पर है। वह अपने कार्य में सदैव जागरूक रहती है, और उसे पूर्ण ही कर देती है। उसमें परपीडा कातरता का गुण अधिक है। सच्ची सहेली के लक्षण उसमें विद्यमान हैं। प्रेम की गूढ रीति-नीतियों को वह भली भाँति जानती है। उसमें दूसरों के मनोभावों को ताड लेने की कुशलता है। इसका परिचय तब मिलता है, जब वह रमाङ्गद के एक एक भाव को समझ कर उसका उत्तर देती है। उसकी चतुरता से शशिप्रभा राजा का दर्शन कर सकी है। पाटला के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसका मधुर स्वभाव है।

अन्य सखियाँ

पाटला के अलावा अनङ्गवती, कलावती आदि शशिप्रभा की अन्य सखियों का चरित भी उत्तम कोटि का प्रतिपादित किया गया है। वे भी हास-परिहास करनेवाली तथा कलाकौशल निपुण हैं। उनमें आनन्द की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है। जिस भाँति शकुन्तला के प्रणय-साफल्य में प्रियंवदा एवं अनुसूया सहयोगिनी होती हैं, वैसे ही यहाँ भी पाटला आदि सखियाँ शशिप्रभा का साथ देती हैं।

अन्त में हम यह कहेंगे कि नवसाहसाङ्क के चरित्रों पर भी कालिदास के चरित्रों की छाप पड़ी हुई है। चरित्रों का चित्रण इस काव्य में सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से हुआ है।

नवसाहसाङ्कचरित की रसयोजना

नवसाहसाङ्कचरित शृ गाररसप्रधान महाकाव्य है। यद्यपि इसमें अन्य रसों का भी समावेश हुआ है, पर वे सब अङ्गरूप में ही आये हैं। अङ्गी शृ गाररस ही है। इस शृ गाररस को यदि हम पद्मगुप्त की शृ गारप्रियता का उत्कृष्ट निदर्शन कहें तो यह अत्युक्ति न होगी। किसी भी महाकाव्य में प्रधानभूत रस एक ही माना गया है, वह शृ गार हो या वीर हो। कथा भी ऐतिहासिक या सज्जन पुरुष सम्बन्धी हो। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से उसका कोई एक फल होना चाहिये।

इन सब बातों के नियम का पालन हम नवसाहसाङ्कचरित में देखते हैं। नवसाहसाङ्कचरित का पुरुषार्थ काम है। क्योंकि सिन्धुराज का जिस प्रकार का पुरुषार्थ यहाँ दिखाया गया है, उसका पर्यवसान शृ गाररस की सिद्धि करके शशिप्रभा के साथ सानन्द जीवन यापन में होता है। इसी हेतु अन्य सब गुणों और अन्य रसों की उद्भावना करके भी उसी मूलभाव की पुष्टि की गई है। यही इसका पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये इस काव्य में नाना

प्रकार की घटनाओं की योजना की गई है, और उनके क्रमिक विकास की समाप्ति भी शृंगारसाधन के हेतु ही हुई है।

जिस प्रकार कालिदास की रसयोजना अपने क्षेत्र में सर्वसुन्दर है, उसी भाँति परिमलपद्मगुप्त की रसयोजना भी अपने ढंग की निराली है। कालिदास का अनुकरण करने पर भी उसमें कवि ने अपना व्यक्तित्व और मौलिकता सुरक्षित रखी है। कालिदास की रसाभिव्यक्ति का वातावरण और ढंग कुछ दूसरा ही है, और इस कवि का कुछ दूसरा। इसके शृंगार में आदर्श की दिव्य सृष्टि है। रतिभाव की सूक्ष्मता को पहचानना परिमल-पद्मगुप्त को भलीभाँति आता था। इसीलिए उनका रसपाक और उसकी योजना औचित्यपूर्ण ढंग से हुई है।

काव्य के प्रारम्भ में ही जब राजा मृगया-विहार को जाता है तो विन्ध्याटवी में उसकी वीरता का परिचय मात्र कराकर कवि सिन्धुराज की ललित प्रकृति का परिचय देने लगता है। उसका सौन्दर्यप्रेम हंसदर्शन और हारदर्शन से ही व्यक्त होने लगता है। शशिप्रभा के हार पाने और उसमें शशिप्रभा का नाम पढ़ने से ही कामभावना अंकुरित होती दिखाई देती है और इसका स्वल्प विकास पाटला के द्वारा शशिप्रभा-रूपवर्णन से होता है। दर्शन से उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को चालना मिलती है। तब विस्मृति, चिन्ता एवं उत्कंठा का प्रादुर्भाव राजा के हृदय में हो जाता है।

धीरे-धीरे जैसे ही जैसे राजा शशिप्रभा के उस हार को निपुणतया देखने लगता है तो उसके हृदय में उत्सुकता बढ़ने लगती है, और दक्षिण-बाहुस्फुरण से शशिप्रभा की प्रत्याशा भी होने लगती है। यहाँ से शृंगाररस के स्थायी भाव का उन्मेष होने लगता है। रतिभाव के उन्मेष तक बड़ी दक्षता से कवि ने संचारी भावों का स्वल्प चित्रण किया। तदनन्तर राज-दर्शन होने पर पाटलाकृत शशिप्रभा-सौन्दर्यवर्णन से रतिभाव को अधिक उन्मेषित किया गया। एक ओर नृपति सिन्धुराज के हृदय में रतिभाव का उन्मेष किया गया है, और दूसरी ओर नृपति के बाण पर नवसाहसाङ्क का नाम लिखा देखकर शशिप्रभा के हृदय में भी अनुराग की भावना जागृत दिखाई गई है। नायक और नायिका में समान रतिभाव को दिखाकर शृंगाररस का औचित्य भी कवि ने व्यक्त किया है। इसी औचित्य के आधार पर रस का परिपाक नैसर्गिक ढंग से सफल बन पड़ा है।

शशिप्रभा की कामावस्था का वर्णन कवि इस रूप में करता है।

रूपमास्वादयामास तस्यालेख्यगतस्य सा।
भ्रमरीवारविन्दस्य सुधासहचरं मधु॥ (७। ३४)

आनीयतानुलत्वं सा त्रितयेन तनूदरी ।
विस्मयेनाविसान्द्रेण मदेन मदनेन च ॥ (६ । ३५)

मदन की स्वल्प आकृति से ही उसकी स्तनपरम्लता में पुलकोद्‌गम हो गया, कुचकम्प भी होने लगा। स्वेदसंचार, लज्जा, शंका, साध्वस—यह बातें उसकी कामासक्तता का द्योतन करती हुई पुन रतिभाव की परिपोषक बन जाती हैं।

नव प्रेम नवोत्कठा नवास्ते से मनोरथा. ।
इति तस्यास्तथैवाभूदन्तरङ्ग परिच्छद ॥ (६ । ४४)

इसके द्वारा कवि ने रतिभाव का उसी भाँति का उन्मेष शशिप्रभा में भी दिखाया, जिस प्रकार सिन्धुराज में रतिपुष्टि का क्रमिक विकास नैसर्गिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया गया है। उसमें जीवन के व्यावहारिक पक्ष की सत्यता के सूक्ष्म रूप से दर्शन होते हैं। राजा के शशिप्रभा को देखने पर और शशिप्रभा के राजदर्शन करने पर दोनों का हृदय रति की पुष्टि के आधार पर बलिष्ठ हो जाता है, क्योंकि 'नवानुराग से वह तन्वी शीघ्र कुछ अन्य ही सी प्रतीत होने लगी और उसके सुकुमार हृदय पर कामबाण का आघात होने लगा।' अपने इस कार्य पर उसे लज्जा आती है। पर लज्जा के स्थिर होने पर शृंगार की पुष्टि नहीं हो सकती। इस तत्त्व को सामने रखकर लज्जा निराकरण की बात उसी द्वारा कही गई, 'कुतो लज्जा तवालिपु', इतना ही नहीं, रति की उद्दीप्ति भी होना अनिवार्य था, अत प्रकृति का उद्दीपन रूप भी सामने रखा गया है। आम्रमञ्जरियों का उद्‌गम, कोकिला की कलध्वनि, अशोकवृक्ष का दोहद, तिलक, सिन्दुवार आदि पुष्पवृक्षों का पुष्पित होना आदि प्रकृति के उद्दीपन सौन्दर्य की उद्‌भावना द्वारा शशिप्रभा के *नवानुराग को उद्दीप्त किया गया है। इसी प्रकार शशिप्रभा की रूपप्रत्याशा* को भी उसकी सखी माल्यवती द्वारा वर्ण दिया गया है

स्थिरा भव नृपेण त्वमिह संयोगमाप्स्यसि ।
यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला ॥ (६ । ६४)

इस प्रकार भावों का क्रमिक विकास करके उन्हें रतिपुष्टि में सहायक करने में *पद्मगुप्त ने अतिसूक्ष्म भावमर्मज्ञता का परिचय दिया है।*

जिस प्रकार शशिप्रभा का हार धारण करने से राजा की कामभावना की वृद्धि हुई, उसी भाँति 'तुषारपाण्डुना तेन वक्षःस्था मनोभव' के द्वारा यह भी व्यक्त कर दिया कि शशिप्रभा ने भी जब राजा के हार को धारण किया तो वह भी कामासक्त हो गई।

शशिप्रभा के दर्शन पर रही-सही कमी को रमांगद ने उसके रूप-वर्णन से

पूर्ण कर दिया। शशिप्रभा के नख-शिख-वर्णन ने राजा को उसके प्रति अति आसक्त बनाकर उसके प्रति रति की वृद्धि कर दी। अभी रतिभाव की वृद्धि अन्तर्द्वन्द्व में ही हो रही है। इसके पश्चात् उसमें और अधिक तीव्रता आती है। मनोरागों की प्रबलता से वह परिपुष्ट होती दिखाई देती है। लज्जा और नृपालोकन-कौतूहल ने शशिप्रभा की रति को और अधिक विकसित कर दिया और राजा के लिये शशिप्रभा के रूप का "चिरं पपौ स स्तिमितेन चक्षुषा" कहकर उसकी एक झलक भी दिखा दी।

इस प्रकार धीरे-धीरे रतिभाव की जागृति और पुष्टि कराकर पद्मगुप्त ने राजा की ललित वृत्ति का समुचित परिचय दिया। पर इतने से ही तो रतिभाव स्थायीभाव की कोटि में नहीं आ सकता। अतः पद्मगुप्त उसको स्थायी रूप देने के लिये और विशेष विधान भी बनाता है। रतिभाव की जब सबल पुष्टि होने लगती है, तब धैर्य की ग्रन्थि का शिथिल होना भी नैसर्गिक ही है। इसलिये कवि ने कहा है कि उसके सरस मानस में उस राजहंस ने प्रवेश किया, प्रवृष्टि होते ही उसने शशिप्रभा की धीरता को मृणालिनी की भाँति तोड़ डाला।' फिर भी कवि को अभी पूर्ण रतिभाव की पुष्टि नहीं दिखाई देती। अभी तो वह उनके परस्पर अनुराग का एक-दूसरे से परिचय कराने में ही तत्पर है: 'जब शशिप्रभा और राजा ने परस्पर एक-दूसरे को देखा तो उन दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति अनुराग को परिलक्षित करा दिया।'

अवापदन्योन्यनिबद्धभावयोस्तयोः प्ररोहं हृदि बालमन्मथः। (७। ४३)

जब नृपति की बोलने की इच्छा जाग्रत हुई, उसने शशिप्रभा से नाना प्रकार के प्रश्न किये, पर शशिप्रभा ने एक का भी उत्तर नहीं दिया। बदले में माल्यवती ने ही उत्तर दिया। यहाँ पर भी यदि स्वयं शशिप्रभा उत्तर दे देती तो रतिभाव की पुष्टि न हो सकती। इस प्रकार की सूक्ष्म बातों पर भी कवि ने जागरूक होकर दृष्टि रखी है। क्योंकि रसबन्धतत्पर होने के कारण कवि को इतना सूक्ष्म ध्यान रहा है।

पूर्ण रूप से रस में तत्पर कवि की ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती, जो उसकी इच्छा से उसके अभीष्ट अंगी रस का अंग न बन जाय। अथवा उसके अभिमत रस का अंग बनकर रसत्वातिशय को पुष्ट न करे। यह बात हमें पद्मगुप्त के काव्य में भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है कि इस कवि ने अपने अभिमत शृंगाररस को घोषित करने के लिये नैसर्गिक भावों के क्रमिक विकास का ध्यान रखा। प्रबन्ध के लिये यह एक और विशेषता

है कि बीच बीच में रस का उद्दीपन और प्रशमन कराना और रसौचित्य का ध्यान रखना, क्योंकि रसौचित्य का भंग होने से काव्य में भारी दोष आ जाता है। पद्मगुप्त को इन बातों का पूर्ण ज्ञान था। जो उसकी काव्यमर्मज्ञता और सहृदयता का परिचय देता है।

"अता गुणाद्यस्य वृहत्कथा तव" कहकर गुणश्रवण से लेकर और दर्शन तक अनुराग की अभिव्यक्ति कराकर कवि ने "अतो वरोऽय युवयो समागम" कहकर एक प्रकार से रतिभाव का चरम सा दिखाना चाहा और "रघूद्वहस्यावनिकन्यका यथा तथा तवेयं विधिनोपपादिता" एव "किमन्यदस्या कृतपाणिपीडनम् पद निधत्से गृहमेधिना धुरि" कहकर भी समागम की पूर्ण भावना प्रगट कर दी। इसके कुछ ही क्षण पश्चात् रतिभाव को उद्दीप्त करने के लिये और उसको पुष्ट करने के लिये भयकर मेघों का नभ में छा जाना, आधी का उठना, शशिप्रभा का अपनी सखियों के साथ विलुप्त होना आदि घटनाओं को युक्तिसगत योजना करके कवि ने शृगार को विप्रलम्भ का रूप दे दिया। यह भी शास्त्रमर्यादा और लौकिक व्यवहार कवि-अनुभूति का ही परिचायक है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो प्रधान कथावस्तु समाप्त हो जाती, और रस केवल भावरूप में ही रह जाता, इसलिये कवि ने विप्रलम्भ की योजना की। और है भी उचित यही। जैसे कि कहा गया है, "न विना विप्रलम्भेण शृगार पुष्टिमश्नुते"। अत विप्रलम्भ की योजना के द्वारा ही पुन रतिभाव की पुष्टि करायी गयी है।

शशिप्रभा जब राजा के सामने ही आधी में कहीं विलीन हो जाती है, तब राजा खिन्न होकर विरहकातर हो जाता है। और फिर शशिप्रभा के अन्वेषण का प्रयत्न करने लगता है। इसके लिये उसे अद्भुत साहस के कार्य करने पड़ते हैं। नर्मदा की सहायता से वह पाताललोक में प्रवेश करता है। वहाँ उसे सूचना मिलती ही है, पर शशिप्रभा का दर्शन नहीं होता। अत उग्रता, चिन्ता, दैन्य सचारीभाव और पर्यावर्तनादि अनुभावों का उदय होता है। शशिप्रभा के पिता की प्रतिज्ञा है कि वज्राकुश को मार कर जो उसकी बावड़ी से हेमकमल लायेगा, वही शशिप्रभा का वरण करेगा। यह सुनकर नृपति उस कमल को लाने का साहस करता है। इस साहस में रमागद, वकुमुनि और नर्मदा आदि उसे सहयोग देते हैं। बीच में अद्भुत-रस की योजना भी शापग्रस्त प्राणियों द्वारा की गई है। वे भी नृपदर्शन से शापमुक्त होकर उसके साहसकार्य में सहायक होते हैं। वज्राकुश के साथ नृपति का युद्ध होता है। इस स्थल पर वीररस का भी सुदर परिपाक हुआ है। युद्ध के पूर्व

सिन्धुराज का विरह-वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। शशिप्रभा का विरह भी मनोवैज्ञानिक है :

> विस्रस्तमाल्या श्लथबन्धनत्वात् अंसावकीर्णां कबरीं वहन्ती।
> कलिन्दकन्यामसृणोर्मिनीलां निस्त्रिंशलेखामिव मन्मथस्य ॥ (६ । १५)
> मुखं निशाघ्रातमिवारविन्दं विषादवीतप्रभमुद्वहन्ती।
> विलुम्पती निःश्वसितेन कान्तिम् आपाटलस्याधरपल्लवस्य ॥ (६ । १६)

और :

> त्वदीयविश्लेषमवाप्य बाला सा लक्ष्यते किञ्चिदनिर्वृतेव।
> भवादृशामेकपदे वियोगो न कस्य राजेन्द्र मनो दुनोति ॥ (६ । २३)

कहकर कवि ने शशिप्रभा की वियोगावस्था को व्यक्त किया। इसी भाँति राजा का शशिप्रभा के प्रति व्याकुल होना, स्वप्न देखना, सन्देश भेजना आदि में भी मनोदशा का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। बीच-बीच में उत्साही वातावरण की सृष्टि भी की गई है। फिर विलाप की चर्चा यों की गई है :

> सरले सह वारिजश्रिया निभृतं क्वापि गतः स भास्करः।
> वद तेन विनाऽब्जिनी कथं क्षणदामद्य नताङ्गि नेष्यति ॥
> (१२।३४ तथा ८।१२)

सारी मनोव्यथा की अभिव्यक्ति तो इतने से ही हो गई :

> शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना।
> एष क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनज्वरः ॥ (१६।२८)
> तावदागच्छ वेगेन गृहीत्वा हेमपङ्कजम्।
> अनंगविधुता यावदियं श्वसिति नः सखी ॥ (१६।४६)

इस संदेश के द्वारा पुनः राजा के उत्साह को उद्दीप्त करके चिन्तादि भावों का प्रशमन करा दिया गया है, और राजा से कहलाया गया है :

> यथा सखी वः किमपि प्रपन्ना विधुरां दशाम्।
> तथा त्वमपि मामेवं पाटले किं न पश्यसि ॥ (१६।४८)
> तद्गच्छ तां शशिमुखीमाश्वासयितुमर्हसि।
> वयमेते च हेमाब्जमानेतुं प्रयतामहे ॥ (१६ । ४९)
> तथा कार्यं न वन्ध्यः स्याद्यथा मम मनोरथः।
> वक्तव्या माल्यवत्येवं मद्गिरा वल्गुवादिनि ॥ (१६।५०)

इस प्रकार पुनः राजा एक बार अपनी कातरता को दूर कर वज्रांकुश पर

आक्रमण करने चलता है, और पूर्ण पराक्रम के साथ उसको जीत कर शशिप्रभा के पिता की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर शशिप्रभा को प्राप्त करता है।

वीर और अद्भुत रसों का समावेश करने के कारण शृंगार की भली-भाँति पुष्टि हुई है। रति को स्थायीभाव का रूप देने के लिये विभिन्न रूपों, भावों का उदय और शान्ति दिखाई गई और पुनः शृंगार की पुष्टि की गई। समस्त काव्य का अध्ययन करने पर पहले यह विदित होता है कि जितने भी भाव रति के पोषक हो सकते हैं, वे पृथक् पृथक् रूप में दिखाये गये हैं। और अन्त में उन सब की समाप्ति से शृंगाररस की पुष्टि की गई है।

नवसाहसाङ्कचरित के शृंगाररस की पूर्ण पुष्टि के लिये जो कुछ विवेचन किया जाता है, उससे यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि इस कवि का रस पर पूर्ण अधिकार था। वह स्वयं इस प्रकार के व्यक्तित्व का था, जिसके कारण वह अपनी अभिमत रस निष्पत्ति में सफल हो सका।

शृंगाररसोपयोगी वर्णन करने में तो इस कवि को पूर्ण दक्षता प्राप्त है। जहाँ पर जिस प्रकार के भावों की स्थिति होती है, वहाँ पर उसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया गया है। आवेश की योजना के लिये समस्त शैली और वर्णशब्दवर्णविन्यास भी किया गया है। जिसका उल्लेख हमने शैली विचार में किया है।

शृंगार के जितने भेदोपभेद हो सकते हैं, उन सबका समावेश इसमें है। विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का समुचित औचित्य इस काव्य के शृंगाररसवर्णन में किया गया है। इसीलिये "प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा" की उक्ति इसमें पूर्ण चरितार्थ होती हुई लक्षित होती है। ऐतिहासिक कल्पित औचित्ययुक्त कथाशरीर का ग्रहण करना भी रसाभिव्यक्ति की पुष्टि करता है। कहीं भी अयुक्तिकृत दोष नहीं आने पाया है। व्युत्पन्नमति पद्मगुप्त की यह रसयोजना पूर्ण विशुद्ध प्रतीत होती है।

रसौचित्य के लिए अलंकारों के यथेष्ट और औचित्यपूर्ण प्रयोग पर भी कवि की पूर्ण दृष्टि रही है। इसका विवेचन हम अलंकार-योजना वाले प्रकरण में करेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है *कि परिमलपद्मगुप्त रससिद्ध कवि* था। उसकी कृति नवसाहसाङ्कचरित रस की सफलाभिव्यक्ति है।

नवसाहसाङ्कचरित की अलंकारयोजना

नवसाहसाङ्कचरित की अलंकारयोजना वस्तुतः महाकवियों की अलंकार-योजना है। महाकवियों की इस प्रकार की योजना की विशेषता एवं विचित्रता

उसकी औचित्यपूर्ण योजना में ही है। इस औचित्य का निर्वाह जो कवि जितनी प्रतिभासम्पन्नता से एवं मार्मिक सूक्ष्म दृष्टि से कर सकता है, उसका काव्य उतना ही महत्त्वपूर्ण, स्पृहणीय और उपादेय होता है। जिस भाँति किसी रमणी का आभूषणविन्यास यदि अस्तव्यस्त हो या उपयुक्त स्थलों पर न हो तो उसके वे आभूषण भी सौन्दर्य के दूषण बन जाते हैं, एवं उसके प्रति जो चित्ताकृष्टि का भाव रहता है, वह भी न्यून हो जाता है, ठीक यही बात कविता के विषय में भी कही जा सकती है। काव्य में कवि यदि अपनी कारयित्री प्रतिभा के बल पर औचित्यपूर्ण अलंकार-योजना नहीं कर सकता तो उसका काव्य भी मनोहारी नहीं हो सकता। अपने काव्य में औचित्य का विधान करने के लिये कवि को जागरूक रहना पड़ता है। जिस समय वह कविता का निर्माण करता है, उस समय इस बात का ध्यान रखता है कि कविता में किस-किस अलंकार को लाने की चेष्टा कर रहा है। यह तो उसकी प्रतिभा और सूक्ष्मभावाभिनिवेश का फल होता है। और तब वह चारुत्वोत्कर्ष के लिये सबल और आकर्षक उपमानों की चिन्तना भर कर लेता है। क्योंकि काव्यनिर्माण के समय "चिन्तयत्यर्थजातं" पर ही उसका ध्यान रहता है। और जब वह गहन अर्थजात की चिन्ता में मग्न हो जाता है तो उस समय उसका सारा ध्यान काव्य को समुचित ढंग से व्यक्त करने में केन्द्रीभूत हो जाता है। ऐसी स्थिति में काव्य के उपकारक जितने भी उपादेय तत्त्व होते हैं, उनका वह समुचित उपयोग कर लेता है। यह तत्त्व उसकी प्रतिभा में अहम्पूर्विकया अवभासित होने लगते हैं। तब उसका कार्य केवल इतना ही रहता है कि वह अपनी प्रतिभा और सहृदयता के बल पर काव्यात्मा की सौन्दर्याभिव्यक्ति के अंगभूत अनेक उपादानों को उचित रूप में सुनियोजित कर देता है। इस सुयोजना के कारण ही उसकी कृति चित्त-विमोहक बन कर उद्देश्यपूर्ति में पूर्ण सहायक हो जाती है।

कवि के औचित्य का ध्यान ही महाकाव्य के सफल निर्माण में सहायक होता है। जो कवि जितना ही सरस, सहृदय और चिन्तनशील मस्तिष्क का होता है, वह उतनी ही सफलता के साथ इन सब की योजना को सुगमता से घटित कर सकता है। हम देखते हैं कि परिमल पद्मगुप्त के पूर्ववर्ती कवियों ने अलंकारयोजना की विशेषता पर जिस प्रकार ध्यान रखा है, यहाँ कवि ने भी उसका सर्वत्र निर्वाह किया। कवि की स्पष्ट उक्ति है :

> न चिराद्दलङ्कृतिविशेषविद्दिवरुचयोऽतिपेशलाः ।
> लब्धनवनवरसाः शुचयः कविपुङ्गवोक्तय इवाङ्गना बभुः ॥
>
> (१५ । २७)

वस्तुत वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों की कृतियों में यह विशेषता पूर्ण रूप से पाई जाती है। इन कवियों ने औचित्य पर सदैव पूर्ण दृष्टि रखी है। काव्य में अलकार भी एक उपादेय तत्त्व है। उसका प्रयोग इन कवियों ने किस प्रकार किया, इसका निदर्शन उनका औचित्य-चिंतन है।

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥

इस स्थल पर विषाद और क्रौंचमिथुन में जो शब्दार्थ का औचित्य है, वह तो है ही, पर इस से भी अधिक औचित्य अलकार की विशेषता का है। जिसके द्वारा यह ध्वनिकाव्य माना जाता है। महर्षि वाल्मीकि महाकवि माने जाते हैं। अलंकार की समुचित योजना महाकवि वाल्मीकि के शरद्वर्णन में देखिये

तरंगसगान्चपलै पलाशै ज्वाला श्रिय सातिशया दधन्ति।
सधूमदीप्ताग्निरुचीनि रेजुस्ताम्रोत्पलान्याकुलपद्पदानि ॥

और

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पै पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दु।
उपारुरोदेव नदत्पतङ्गै कुमुद्वतीतीरतरुर्दिनादौ ॥

इन श्लोकों में उत्प्रेक्षागत जो सौन्दर्य है, वह अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक, और जीवन्त है। कुमुद्वती के मुरझाने पर तीरतरु का आँसू बहाकर रोना प्रकृति को प्राणवती के रूप में उपस्थित करना ही है।

इसी भाँति कालिदास ने भी अलकारों का सफल प्रयोग किया है। उसमें रसभावों की सफल योजना हुई है। विशेषकर उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का तो कहना ही क्या है

ता जानीथा परिमितकथाजीवित मे द्वितीयम्।
दूरीभूते मम सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्
गाढोत्कण्ठा गुरुपु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बाला
जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥

हे मेघ, विरहचिन्ता के कारण मौन धारण करनेवाली मेरी उस प्रियतमा को मेरा दूसरा प्राण ही समझो, जो मुझसे बिछुड कर अपने सहचर से बिछुडी चकवी की भाँति विरह की मूक वेदना सह रही होगी। वियोग के इन लम्बे लम्बे प्रतीत होने वाले दिनों में उसकी उत्कंठा बढ़ रही होगी। जैसे जैसे दिन बीत रहे हैं, वैसे ही वैसे उसकी दशा उस कमलिनी के समान हो गई होगी, जो पाला पड़ने के कारण बिलकुल मुरझा गई हो।

इस स्थल पर कालिदास ने उपमा अलंकार की सफल योजना की है, विरहवियुक्त चक्रवाकी की दशा की अनुभूति बड़ी ही तीव्र वेदनामय अनुभूति है। चकवी (उपमान) की सभी दशाओं का यक्षिणी (उपमेय) में समावेश करके विरह की उत्कंठा और असहनीयता की सूचना कवि ने दी है। इस प्रकार की उचित योजनाओं पर ही कालिदास के लिये कहा गया है : "उपमा कालिदासस्य", इतना ही नहीं, यहाँ पर एक सबसे बड़ी विशेषता जो है, वह अलंकार की नातिनिर्वहणीयता अर्थात् अलंकार-विस्तार का त्याग और नवीन अलंकार का ग्रहण। पूर्व की पंक्तियों में चकवा को कहकर भी कवि ने उपमालंकार की शान्ति कर दी और पुनः "जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्" में उत्प्रेक्षा दिखा कर शिशिरमथिता कमलिनी के रूप में वियोग की असहनीयता का पूर्ण परिचय दे दिया है। विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति सुन्दर रूप से निखर पड़ी है।

नवसाहसाङ्कचरित में विभिन्न अलंकारों की समुचित योजना उपलब्ध है, जो रस के चारुत्वोत्कर्ष के लिये ही पर्याप्त है, उसमें से कतिपय अलंकारों का दिग्दर्शन यहाँ कराते हैं।

नवसाहसांकचरित में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, संदेह, प्रतीप आदि अलंकारों की योजना अत्यन्त औचित्यपूर्ण ढंग से की गई है। और प्रबन्धकाव्य की सफलता को दृष्टि में रखते हुए इन्हीं अलंकारों को अधिक रूप में ग्राह्य समझकर उनका औचित्यपूर्ण निर्वाह भी किया गया है।

अपाङ्गसंवर्धितशोणकान्तिना सुकृष्णतारेण तुषारपाण्डुना।
इयं प्रवालासितरत्नमौक्तिकैर्विनिर्मितेनेव चकास्ति चक्षुषा॥

(७।१६)

प्रस्तुत छंद में कवि ने नेत्रों में श्याम, श्वेत और रक्त वर्ण की जो कल्पना की है, वह रसाविर्भाव की अभिव्यक्ति के लिये अति उपयुक्त है, और विचारों की पुष्टि के लिये उसकी समुचित योजना हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह योजना चित्रण में मनोहारिता उत्पन्न करके सौन्दर्यातिशय की वृद्धि के साथ-साथ शृंगारप्रियता की द्योतिका भी हो गई है। पद्मगुप्त कवि की अलंकार-योजना उत्कृष्ट है, जो अपना स्वतन्त्र अलग अस्तित्व रखते हुए भी रसपोषक है। वातावरण के चित्रण द्वारा चित्त को रस की ओर आकृष्ट करने के लिये उत्प्रेक्षा का सहारा लिया गया है :

तदीयनामाक्षरलिपि शनैः शनैः सलीलमावर्तयितुं प्रचक्रमे।
परिस्फुरत्पल्लवपाटलाधरो रहस्यविद्यामिव मन्मथस्य सः॥

(४।५)

"धीरे धीरे वह राजा 'शशिप्रभा' इस नाम की अक्षरपंक्ति को बार-बार बड़े प्रेम से दोहराने लगा, जिससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह फड़कते हुए अधरपल्लवों से काम की उपनिषद् का अभ्यास कर रहा हो।" यहाँ पर नामाकलिपि रूप उपमान का काम की रहस्यविद्या रूप उपमेय के उत्कृष्ट रूप में ग्रहण कर अभिलाषाहेतुजन्य विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति की गई है। शशिप्रभा को देखकर राजा कामासक्त हो गया और कामावस्था में जितनी चिन्तनपरम्परायें चलती हैं, उन सब ने राजा को घेर लिया। ये भाव काम की उपनिषद् शब्द के अध्ययन द्वारा ही व्यक्त होते हैं। तत्त्वज्ञ सहृदय इस बात को शीघ्र जान लेते हैं। यह उत्प्रेक्षा की औचित्ययोजना का ही प्रभाव है।

युता सिताभैः सुमनोभिरेतया परिश्लथेयं कबरी नियम्यते।
उदस्तभास्वत्करया तया श्रिया दिनस्य ताराशबलेव शर्वरी॥
(४।१२)

अपने सुन्दर हाथों को ऊपर उठाकर पाटला अपनी पुष्पमंडित केशराशि को इस भांति सँभाल रही है, मानो दिनश्री सन्ध्या अपने प्रभावपूर्ण ऊपर उठे हुए किरण कर से ताराशबल रात्रिरूपी केशराशि को सजा रही हो। यहाँ रूपक की अपेक्षा उत्प्रेक्षा का समुचित समावेश विशिष्ट सौन्दर्य का द्योतक बन गया है, और उस सौन्दर्य के कारण राजा की शृंगारिक चेतना भी अतिनिपुणता से निभाई गई है। इसमें भी उपमान और उपमेय के एक दूसरे के सौन्दर्य से एक दूसरे की चारुता की वृद्धि की गई है।

पुनः पुनः षट्पदराजिमेचका तदिन्द्रनीलाक्षरपंक्तिमैक्षत।
स तन्वया मन्मथजातवेदसः सनीयसीं धूमलतामिवोद्गताम्॥
(४।३)

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा के द्वारा जो चमत्कार आया है, वह सहज सौन्दर्य से युक्त है, और उत्प्रेक्षा के द्वारा ही कामभावना की उद्दीप्ति से, जिसमें धूमलता सी उद्गत आशा की धुंधली रेखा भी उदित हो रही है, अनुराग की पुष्टि का द्योतन किया गया है। यह पुष्टि पूर्वानुरागजन्य कामासक्ति की पूर्णाशा है। यहाँ पर अलकार की उचित, सफल योजना अपना विशेष महत्त्व रखती है।

विलोकयन्ती समपाङ्गलोचना समुल्लसत्स्वेदलवाङ्कितस्तनी।
ततः सुजातस्तबकास्तमौक्तिका लतेव सा हेममयी व्यकम्पत॥
(७।७७)

रसनिबन्ध में अत्यन्त तत्पर पद्मगुप्त ने यहाँ पर स्वेद, रोमाञ्च, स्तम्भ

आदि संचारी भावों की सूचना देकर उत्प्रेक्षा के द्वारा उसे रसपरक बना दिया है। जातस्तवका हेमलता का स्वेदलवाङ्कितस्तनी के साथ जो साम्य किया गया है, उसमें कवि की उत्प्रेक्षा की योजना औचित्यपूर्ण हुई है।

विलोकयास्याः क्षितिपाल विभ्रतीं प्रदीपशोभां कवरीं निशामुखे।
असी मुहुः कुङ्कुमकेसरारुणा लसन्ति सीमन्तमणेर्मरीचयः॥
(७।१४)

यहाँ पर भी उत्प्रेक्षा के औचित्य से उद्भूत नायिका का सौन्दर्य निशा-सौन्दर्य के साथ उत्तमता से संयुक्त किया गया है। इस प्रकार एक-दो नहीं, पर्याप्त उदाहरण उत्प्रेक्षा के ऐसे हैं, जिनके औचित्य का निर्वाह सूक्ष्म बुद्धि के आधार पर किया गया है। इसी औचित्यसन्निवेश के कारण इस महाकवि के काव्य में मधुरता और रोचकता आ गई है। रसभावौचित्य के दृष्टिकोण से उत्प्रेक्षाओं का सफल प्रयोग पद्मगुप्त ने किया है, जिसके आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि "उत्प्रेक्षा पद्मगुप्तस्य सर्वभावेन राजते।"

इस कवि की अलंकारयोजना में यह बात भी वीक्षणीय है कि शाश्वत काव्य-निर्माण-चिन्तनशील इस कवि के नवसाहसाङ्कचरित में आलंकारिक क्लेशसाध्यता का सर्वथा अभाव है। अलंकारयोजना की दूसरी विशेषता अक्लेशसाध्यता पद्मगुप्त की अलंकार-योजना के प्रति सहसा ध्यान आकृष्ट कर लेती है। सर्वत्र अक्लेशसाध्यता अलंकारों में देखी जाती है।

निचुलवनमतीत्य वर्ततेऽयं पुरत इमामयमब्जिनीमुपेतः।
नवजलधरशङ्कयेव शङ्के तरुणतमालवनादितो निवृत्तः॥ (३।१३)

वन में जब हंस चल रहा है, तब रमांगद राजा से कहता है—'यह हंस वेतस वन को पार करके सामने वाली कमलिनी के पास पहुँच गया है, मैं सोचता हूँ, इसने नयी तमालवीथि को इसलिये छोड़ दिया कि मानो वह नवजलधरमाला हो।' यहाँ पर तमालवीथि को नवजलधरमाला समझकर हंस का उधर से भाग जाना स्वाभाविक ही है। क्योंकि वर्षा में हंस मानसरोवर चले जाते हैं। यह स्वाभाविकता केवल उत्प्रेक्षा के द्वारा ही यहाँ पर आई है। परन्तु इसके लिये कवि को पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ा, और न क्लिष्ट कल्पना ही हुई। दूसरी बात, यहाँ पर तरुणतमाल को नवजलधर समझने में भ्रान्ति भी है। पर वह उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत इस प्रकार समा गई है कि उसका पता विलम्ब से चलता है। यह उत्प्रेक्षा की अक्लिष्टसाध्यता का ही फल है, जिसने भ्रान्ति के सौन्दर्य की भी रक्षा की और स्वयं के महत्त्व को भी बढ़ा दिया।

अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम् आभान्ति लोनभ्रमरोदराणि ।
विद्याधरीविभ्रमदर्शनार्थम् उत्तानितानीव विलोचनानि ॥
(१४/३५)

यहाँ पर विकसित सभ्रमर पुष्पों में जो विशाल नेत्रों की उत्प्रेक्षा की गई है, वह भी सरल, स्वाभाविक रूप से की गई है।

सत्पुष्करोद्योतितरङ्गशोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गवाद्ये ।
उद्यानवापीपयसीव यस्याम् एणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते ॥ (१।५४)

मृगलोचनाएँ नाट्यगृहों में मानो उसी भाँति रमण कर रही हैं, जैसे उद्यानवापीयों में—इतना कहकर उपमान-उपमेय के धर्मों की कल्पना साधारण रूप पर स्वाभाविक ढंग से की गई है।

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त ने अपने काव्य में अक्लिष्टसाध्य अलंकार-योजना की है। इस प्रकार के उदाहरणों से यह ग्रंथ भरा पड़ा है। तीसरी विशेषता इसकी अलंकार-योजना की नातिनिर्वहणैषिता है। इस कवि ने स्वतन्त्र होकर नातिनिर्वहणैषिता का पूर्ण ध्यान रखा है, जिसके कारण इस काव्य में अलंकारयोजना उत्तम कोटि की हो गई है और रसपोषक रूप में उसकी उत्कर्षकता बढ़ गई है।

मनोहरे कामिजनस्य यस्या नीरन्ध्रनिर्यन्मृगनाभिगन्धे ।
सचन्दने काञ्चनकेलिशैले कुचैरिवोद्यानभुवो विभान्ति ॥
(१।५१)

इस छन्द के प्रारम्भ में उत्प्रेक्षा के आधार पर उज्जयिनी की उद्यान-भूमियों का सौन्दर्य-वर्णन और चित्ताकर्षकता दिखाई गई है, और फिर उसकी पुष्टि के लिये उपमा का आश्रय लिया गया है। क्योंकि उन्नत पयोधरों का कथन करके ही उन्नत कोटि के शैलों के साथ सम्बन्ध बैठ सकता था और 'सचन्दने' कहकर सद्रूपता का निर्वाह भी किया गया है। यदि यहाँ पर आदि से अन्त तक उत्प्रेक्षा का ही निर्वाह किया होता तो उपमा द्वारा जो विशिष्ट सौन्दर्य झलक रहा है और उससे जो चमत्कार आया है, वह न आने पाता।

दोश्चन्दनानोकहमाप्य यस्य समुल्लसत्साद्‌यशःप्रसूना ।
गतावितृद्धिं लवलीलतेव निबद्धमूला परमारलक्ष्मी ॥ (१।७७)

इस स्थान पर रूपक और उपमा दो अलंकार हैं। यशःप्रसूना में रूपक है, निबद्धमूला लवलीलतेव में उपमा है, और दोश्चन्दनानोकह में भी रूपक है। किन्तु यहाँ पर जो लक्ष्मी और लवलीलता की बद्धमूलता पर ही

देना था, अतः रूपक की अपेक्षा उपमा पर विशेष ध्यान दिया गया। यदि यहाँ पर रूपक का चमत्कार प्रदर्शित कराया गया होता तो उसके चमत्कार में हम परमारलक्ष्मी को भूल जाते और कवि के उद्देश्य की सफल सिद्धि न हो पाती, पर यह अलंकारों की नातिनिर्वहणैषिता के ही निर्वाह का फल है, जिसके कारण स्वाभिप्राय की अभिव्यक्ति में कवि को सफलता मिली है। नातिनिर्वहणैषिता के सिद्धांत का भी इस काव्य में पालन हुआ है, जो पद्मगुप्त की चातुरी का द्योतक है। अपनी इस चातुरी का परिचय कवि ने ग्रन्थारम्भ में ही दिया है :

अव्यात् स वो यस्य निसर्गवक्रः स्पृशत्यधिज्यस्मरचापलीलाम्।
जटापिनद्धोरगराजरत्नमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दुः॥ (१।१)

यहाँ पर उरगराजरत्न में अनुप्रास की छटा देखने को मिलती है, जिसे देखने पर यह आभास होता है कि आगे भी कुछ इसी प्रकार की रचना होगी, पर सहसा इस धारणा को हम बदलते पाते हैं। मरीचिलीढोभयकोटि कहकर कवि ने अनुप्रासात्मकता को त्याग दिया। विषय की बलवती धारणा के कारण ऐसा हुआ।

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥ (२।१८)

यहाँ पर भी दो अलंकार—उपमा और श्लेष हैं। इनमें से यदि एक पर ही ध्यान रहता या एक का त्याग कर दिया गया होता तो अभिप्राय-कथन का उद्देश्य पूर्ण न हो पाता। चित्रवर्णविच्छित्तिहारी बाण और मयूर कवि तथा बाण और मोर में श्लेष करना था तो फिर जब तक राजा को श्रीहर्ष के समान प्रतिपादित न किया जाता, तब तक अर्थ की स्फुटता न हो पाती और बाण-मयूर की भाँति बाण-मयूर का संगठन किया गया है, यह बात स्पष्ट ही न हो पाती। अतः श्लेषार्थ की सुन्दरता के लिए उपमा का आश्रय लिया गया है, जिसके ग्रहण से भाव में उत्कर्ष आ गया है, और वह सर्वबोधगम्य हो गया है।

"उस राजा ने चित्रवर्णविच्छित्तिहारी, बाणपक्ष में अचूक होने वाली और प्राणहरण में समर्थ, मयूरपक्ष में रंग-बिरंगे पंखों वाले और मनोहर—बाण और मोर का ऐसा सुन्दर अद्भुत संयोग उपस्थित कर डाला, जैसा कि श्रीहर्षवर्द्धन ने चित्रवर्णविच्छित्तिहारी—हारी अर्थात् वर्ण-सौन्दर्य से पूर्ण रसकाव्यनिर्माता महाकवि बाण और मयूर (कवि) का अपनी सभा में संयोग उपस्थित किया था।" यह अर्थ उपमा के बल पर ही निकलता है।

यह है कवि की नीतिनिर्वहणैषिता।

जिन तीन विशेषताओं के सम्बन्ध में हमने अब तक चर्चा की, वे केवल उत्प्रेक्षा में दिखाई गई हैं। अब उपमादि में भी उनका औचित्य देखिये।

यद्यपि लोग उपमा कालिदासस्य कहते हैं और बात ठीक भी है, तथापि परिमलपद्मगुप्त की उपमाएँ भी औचित्य की विविध दृष्टियों से देखी जा सकती हैं।

> रूपमास्वादयामास तस्यालेख्यगतस्य सा।
> भ्रमरीवारविन्दस्य सुधासहचरं मधु॥ (६।३४)

चित्रलिखित उस राजा की रूपसुधा का पान वह शशिप्रभा उसी भाँति करने लगी, जैसे भ्रमरी कमल के अमृतोपम मधु का पान करती है।

भ्रमरी का मधुप्रिय होना प्रसिद्ध ही है और उसी के साथ शशिप्रभा को भी उपमित किया गया है। शशिप्रभा को भ्रमरी और रूपसुधा को मधु कहकर कवि ने उपमान और उपमेय में एक आकर्षण उत्पन्न कर दिया। इस आकर्षण के द्वारा पूर्वानुराग की पुष्टि की गई है। औचित्यविधान का यह फल है। रसानुरूपता का त्याग कहीं नहीं होने पाया है।

> अरालकेशीयमनेन भाति ते
> शरेण कार्तस्वरपुङ्खशोभिना।
> निसर्गगौरेण नरेन्द्ररश्मिना
> सकज्जला दीपशिखेव शार्वरी॥ (७।६)

इस श्लोक में अरालकेशी के साथ सकज्जला और इयम् के साथ शार्वरी दीपशिखा का औचित्य सौन्दर्यातिशय को द्योतित करके दीपशिखा की उपयोगिता और शशिप्रभा के व्यक्तित्व का आभास दिखाकर अनुराग की पुष्टि में सहायक हो रहा है। "निसर्गगौरेण" में वास्तविक नैसर्गिकता देखने को मिलती है।

> यथा शिखेव दीपस्य मुग्धा दग्धदशाश्रया।
> स्मरानिलपरामर्शादितश्चेतश्च वेपते॥ (१६।३७)

कामवायु से चञ्चला शशिप्रभा का जलती हुई वर्तिका वाली दीपशिखा के चाञ्चल्य के साथ साम्य अधिक चित्ताकर्षक हो गया है। दोनों की दशाओं की अभिव्यञ्जना औचित्य के द्वारा ही हो सकती है। यह उदाहरण लोकानुभूति के आधार पर दिया गया है, जिसमें स्वाभाविकता का पुट विद्यमान है।

> कारितासनपरिग्रहे पुरो भूपतावपचितिं विधाय सा।
> आस्त मौक्तिकशिलातले ततश्चेतसीव सुकवे सरस्वती॥ (८।७६)

और

सा पुरातनपथेन पावनी सोमसूतिरपि निम्नगाऽवहत् ।
स्वादुनिर्मलरसोर्मिनिर्भरा भारतीव मसृणं महाकवेः ॥ (८।१४)

इन स्थलों पर समस्त रूप से उपमा का जो औचित्य एवं निर्वाह है, वह कवि की अलंकार-योजना का उत्कृष्ट परिचायक है। यह महाकवि की मसृण भारती का ही प्रसाद है।

ततः स चेतस्यवनीपतेर्दधे
शशिप्रभालोकमहोत्सवस्पृहाम् ।
उपोढरागामुदधिस्तटोदरे
नवोद्गतां विद्रुमकन्दलीमिव ॥ (४।१)

इत्यादि स्थलों पर भी उपमा का सहजात सौन्दर्य उसके औचित्य के सन्निवेश के कारण ही उत्तम वर्णित किया गया है। इस प्रकार की उपमाओं के लिये कवि को पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ा। क्योंकि अपनी नैसर्गिक सौन्दर्यानुभूति के बल पर ही कवि अक्लेशसाध्यता के रूप में उपमा के प्रभाव की अभिव्यक्ति के द्वारा वस्तुसौन्दर्य का प्रतिपादन कर सका है। १३० ऐसी उपमायें नवसाहसाङ्कचरित में हैं, जो अलंकार-योजना की दृष्टि से औचित्यसमन्वित हैं।

इसी भाँति रूपक अलंकार की योजना में भी औचित्य, अक्लेशसाध्यता और नातिनिर्वहणैषिता का समावेश युक्तियुक्त विदित होता है। "रूपकादिः समीक्ष्य विनिवेशितः" की बात पूर्ण रूप से घटित हो जाती है।

तदीयमुद्दामरसोर्मिनिर्भरम्
स राजहंसोऽपि विवेश मानसम् ।
कृतप्रवेशश्च सलीलमच्छिनन्
मनाङ्मृणालीमिव धीरतामतः ॥ (७।४२)

यहाँ रूपक अलंकार है। इस अलंकार की स्वाभाविकता प्रयास-निर्मित नहीं है। मनरूपी मानस में नृपरूपी हंस ने प्रवेश करके धैर्यरूपी मृणालिनी को तोड़ना प्रारम्भ किया। इस रूपक के द्वारा शशिप्रभा का राजा के प्रति मिलनोत्कण्ठा की तीव्रता और काम की प्रबलावस्था का द्योतन होता है।

उत्पद्यमाना निरुपमोल्लसितप्रमोद-
विस्तारलङ्घितविलाससरोरुहेण ।
सान्द्रस्मरज्वरपिपासितया तयापि
दूरादपायि नयनाञ्जलिना नरेन्द्र ॥ (१८।३८)

यह रूपक अलंकार हृदयस्पर्शी बन गया है। इसमें आसक्ति का भाव जिस स्वाभाविक रूप में चित्रित हुआ है, वह अतिचातुरी और सहृदयता का फल है।

रूपक की समुचित योजना के द्वारा ही शशिप्रभा के अनुराग की उत्कण्ठता की अभिव्यक्ति की गई है।

रूपक और उपमा का सुन्दर समावेश कराने में भी पद्मगुप्त पर्याप्त मात्रा में सफल रहा है।

एषा शिखेव दीपस्य मुग्धा दग्धदशाश्रया।
स्मरानिलपरामर्शाद्दिवश्चेतस्व वेपते ॥ (१६।३७)

दग्धवर्तिका वाली दीपशिखा के प्रकम्पन से स्मररूपी अनिल के झोंकों पर ही इधर-उधर काँपती हुई शशिप्रभा का साम्य रूपक और उपमा की अन्योन्याश्रयता एवं नातिनिर्वहणैषिता के बल पर ही हुआ है। प्रयासजन्य भाव यदि यहाँ पर होता तो आलंकारिक चमत्कार तो आ जाता, परन्तु जीवन की व्यावहारिक अनुभूति के चमत्कार का निर्वाह न हो पाता। अत कवि ने अलंकार योजना में सूक्ष्म चातुरी का परिचय देकर अपने अलंकारशास्त्रीय ज्ञान को भी व्यक्त कर दिया।

इन सब बातों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विभिन्न अलंकार इस काव्य में हैं। उनमें से कुछ कथानक को रोचकतामात्र के लिये भी हैं। कहीं-कहीं पर उनकी योजनायें त्रुटिपूर्ण भी विदित होती हैं, फिर भी

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।

के अनुसार वह अपने अस्तित्व को गुणों में ही लीन कर लेती हैं। श्लेष, दीपक, सदेह, अनुप्रास, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों की योजना भी नवसाहसाङ्क-चरित में है।

दुर्गेति सर्वत्र गता प्रसिद्धिं नगेन्द्रकन्येव सनीलकण्ठा।
या लग्नकाञ्चीविपर्ययेण कान्तिं सिंहासनेनाविरता बिभर्ति ॥
(१।४३)

उज्जयिनी नगरी पार्वती की भाँति सनीलकण्ठा है, (पार्वती पक्ष में शिव और नगरी पक्ष में नीलकण्ठ पक्षी) और सिंहासन (दुर्गा पक्ष में सिंह रूपी

आसन और नगरी पक्ष में राजप्रासाद स्थित सिंहासन) से सुशोभित है। यह दुर्गा के समान है (दुर्गा अर्थात् पार्वती अथवा शत्रुओं से अगम्य, नगरी पक्ष में दुर्ग अर्थात् किलों वाली और अगम्य)। दुर्गा नगेन्द्र (हिमालय) से उत्पन्न है, तो यह भी नगों (इन्द्रनीलादि मणियों) के द्वारा निर्मित की गई है।

यहाँ श्लेषालंकार है, जो उपमा की भित्ति पर ही निर्मित है। पर यहाँ अर्थदुर्बोधता आ गई है। सम्भवतः इसी अर्थदुर्बोधता एवं रसानुभूति में बाधा को दृष्टि में रखकर ही इसका क्वाचित्क प्रयोग किया है, और वह भी बाह्य चित्रण में। इससे यह भी विदित होता है कि कवि रसनिर्भर है, और जागरूक भी। रसपरतन्त्र होने के कारण ही वह अलंकार की प्रमादजन्य योजना से बच गया है।

गुणोत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिये कहीं-कहीं पर दीपकालंकार को भी लिया गया है। उसमें भी स्वाभाविक सरसता के दर्शन होते हैं।

चित्तं प्रसादश्च मनस्विता च भुजं प्रतापश्च वसुन्धरा च।
अध्यासते यस्य मुखारविन्दं द्वे एव सत्यं च सरस्वती च (१।६४)

तथा

प्रसाधिता येन च बाल्य एव चतुर्भिरुत्साहवता चतस्रः।
श्रुतेन बुद्धिः प्रभुता नयेन त्यागेन लक्ष्मीर्वसुधा बलेन ॥ (१।६६)

विरोधाभास का भी उत्तम निदर्शन हमें मिलता है :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥ (१।६२)

इस श्लोक को काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने भी उदाहरण के रूप में लिया है। इसीसे इसकी विशिष्टता स्पष्ट है।

अर्थान्तरन्यास में भी अर्थ की तोड़मरोड़ नहीं की गई है। वह भी स्वाभाविक गति से आया है। पद्मगुप्त के व्यक्तित्व में इतनी सरलता और सरसता थी, जिसके कारण वह अपने काव्य को भी इस प्रकार सरल और सरस बना सका।

"चकार च पदं चित्रः स मृगस्तस्य चेतसि।"
"लग्नं हि किमपि क्वापि कृच्छ्रादाकृष्यते मनः।"
"हरति न कं नववस्तुसम्प्रयोगः।"
"विलङ्घयत्यलङ्घ्यानि स्मरदुर्ललितानि कः॥"

इस प्रकार की योजना से विषयवर्णन के औचित्य में पूर्ण सहायता मिली है।

जिन अलकारों की उपयोगिता शैली की विशेषता में है, उनके विषय में शैली वाले प्रकरण में कहा गया है।

इस समस्त अलकार-योजना के विवेचन से अन्त में यह धारणा बलवती हो जाती है कि कवि पर कालिदास की अलकार योजना का प्रभाव अवश्य पड़ा है। कालिदास का नाम तो कवि ने अनेक स्थलों पर अति आदर के साथ लिया है।

प्रसादहृद्यालकारैस्तेन मूर्तिरभूष्यत।
अत्युदग्रलरवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव॥

कालिदास[1] के शाकुन्तल को भी कवि भूला न होगा। यह कहने में भी इसलिये सकोच नहीं होता कि यह कवि भी कालिदास की ही भाँति अपने कार्य में सफल रहा। निष्कर्ष रूप में पद्मगुप्त की अलकार-योजना के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त की अलकार-योजना प्रसादपूर्ण, लालित्ययुक्त, परिष्कृत है। उसकी सफलता औचित्य, अक्लेश साध्यता और नातिनिर्वहणैषिता की सफल योजना पर ही निर्भर रही है। यह कवि की सूक्ष्म बुद्धि का ही परिचय है।

नवसाहसाङ्कचरित का प्रकृति-चित्रण

सौन्दर्य की अनुभूति जितनी अधिक कविहृदय करता है उतनी और कोई नहीं। क्योंकि उसमें कलात्मक दृष्टि होती है। सौन्दर्य जब कवि की अनुभूति का विषय हो जाता है, तो वह स्वानुभूति का रूप धारण करके अनेकविध हो जाता है और ऐसी स्थिति में जब कवि प्रकृति सौन्दर्य की अनुभूति कर लेता है, तब वह उसके जीवन के साथ घुल मिल सी जाती है। प्रकृति में ही मानव हुआ है, पला है और यही उसकी क्रीड़ा स्थली रही है। प्रकृति के साथ उसके जन्मजात सस्कार सबद्ध होते हैं। इन्हीं सस्कारों से कवि प्रकृति के सौन्दर्य को देख कर मुग्ध हो उठता है। उसकी सवेदनशील चेतना प्रकृति के कोने कोने में झाँकने लगता है। वनस्पति और पशुपक्षी जगत्—सभी में उसे सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। ऐसी स्थिति में कभी कभी तो कवि अपने काव्य के पात्रों के साथ सौन्दर्यानुभूति करने लगता है और कभी कभी प्राकृतिक सौन्दर्य की भावना उसके वस्तुचित्र और भाव चित्र को मनोहारी बना देती है।

---

१ स्थिरा भव नृपेण त्वमिह सयोगमाप्स्यसि।
यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला॥ (६।६४)

संस्कृत साहित्य के प्रकृति-चित्रण की परम्परा ने प्रकृति-सौन्दर्य की विमुग्ध भावना को सदैव ही मान्यता दी है। वाल्मीकिरामायण के प्रकृति-चित्रण में हम एक विचित्र प्रकृतिगत सौन्दर्य पाते हैं। वहाँ प्रकृति मानवसम्पदा बनकर ही अपना प्रभाव नहीं डालती, अपितु उसके निरपेक्ष सुन्दर रूप भी हमारे चित्त पर प्रभाव डालते हैं। महाभारत में भी इसका अभाव नहीं है।

कालिदास तो प्रकृति के पुजारी ही कहे जाते हैं। उनके सजीव एवं विशद प्रकृति-वर्णन के दृश्य चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रतीक हैं। रूपयोजनात्मक प्रकृति-चित्रण में कालिदास तो सिद्धहस्त थे ही, परन्तु जब हम परिमल पद्मगुप्त की कृति नवसाहसाङ्कचरित के प्रकृति-चित्रण पर विचार करने लगते हैं तो प्रतीत होता है कि इस कवि के प्रकृतिचित्रण में सौन्दर्यानुभूति की भावना, वर्ण्य विषयों में नवीनता, सहृदयता तथा सूक्ष्म निरीक्षण का पूर्ण सामञ्जस्य है। पर जिस भाँति कविवर भवभूति ने प्रकृति के मनोरम और भीम दोनों पक्षों को देखा, उस भाँति पद्मगुप्त ने नहीं देखा। उसने प्रकृति के भव्य मनोरम और मधुर रूप को ही देखा और उसी की अभिव्यञ्जना अपने काव्य में की, जिससे प्रकृति के प्रति उसके गाढानुराग का परिचय मिलता है। प्रकृति के दृश्यरूप उद्दीपन के रूप में अधिक लिये गये हैं। कालिदास की भाँति इस कवि ने भी प्रकृति में मानवीय प्रेम का समुचित सम्बन्ध स्थापित किया है। जहाँ कहीं भी प्रकृति का मनोज्ञ चित्रण हुआ है, वहाँ उसमें सजीवता आई है और मार्मिकता भी। मानव और प्रकृति के बीच सामञ्जस्य स्थापित करना प्रकृति-चित्रण की एक विशेषता होती है, जिसे पद्मगुप्त ने पूर्ण रूप से निभाया है। शिप्रा के तटवर्ती उद्यान-लतागृहों के वर्णन के अवसर पर कवि का एक मनोरम चित्रण देखिये :

यस्यां विसूत्रोज्झितमेखलानि तथा शुकावर्तितसीत्कृतानि।
शंसन्ति संकेतमुषःसु यूनां शिप्रातटोद्यानलतागृहाणि ॥ (१।५०)
मनोहरैः कामिजनस्य यस्यां नीरन्ध्रनिर्यन्मृगनाभिगन्धैः।
सचन्दनैः काञ्चनकेलिशैलैः कुचैरिवोद्यानभुवो विभान्ति ॥ (१।५१)

यहाँ पर प्रकृति का और मानवीय स्थितियों का समान चित्रण किया गया है। रूपचित्रण के साथ भावचित्रण के लिए आलंकारिक योजना की सहायता ली गई है। इसीलिए मानवीय रूप में प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना चित्ताकर्षक हो गई है। इस प्रकार के चित्रण आदर्शात्मक होते हैं। काव्य-कल्पना में प्रकृति-सौन्दर्य की उद्भावना सजीव चित्रण द्वारा ही की जा सकती है। उद्यान-भूमियों के केलिशैलों को कुचरूप में कल्पित करके वर्णित करना मानवीय जीवन का प्रकृति के साथ सामञ्जस्य दिखाना ही है। इसी प्रकार की प्रेरणा

स्वर्ग में नन्दन वन की कल्पना करना है, क्योंकि वहाँ भी आदर्शमय प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना है, जिसको कवियों ने परम्परा से अपनी कृतियों में स्थान दिया है, और सम्भवत यही भावना उत्तरोत्तर प्रकृति चित्रण में काम करती रही है। पद्मगुप्त ने भी इसी प्रकार प्रकृति के एक आदर्शमय सौन्दर्य का हृदयगम चित्रण किया है, जिसमें रूप, रग, आकार का पृथक अस्तित्व भी चित्रित किया गया है और कभी कभी सब को समष्टि का रूप देकर उसमें एकरूपता भी दिखलाई गई है।

अर्कांशुग्लपितैरेभिरतोऽप्यालिखितैरिव ।
राजजम्बूनिकुञ्जेषु पश्य पुस्कोकिलैः स्थितम् ॥ (७।६१)
अपि स्वच्छजला देव कलहसाङ्कसैकता ।
वराहोरखातमृत्स्नेयं पुर पुष्करिणी तत ॥ (२।६८)

इस स्थल पर एक चित्र तो जम्बु निकुञ्जों में धूप के कारण घबरा कर बैठने वाले कोकिलों का है और दूसरा स्वच्छ जलवाली, हसों से युक्त और सुअरों से जिसके तटों को खोदा गया है इसलिये जिसकी कोमल मिट्टी इधर-उधर फैली है ऐसी पुष्करिणी का दृश्य है। यहाँ पर दोनों दृश्यों में रूपगत, रगगत और आकारगत सौन्दर्य तो है, पर उसका अपना पृथक पृथक् ही महत्त्व है। क्योंकि यह दोनों चित्र सूक्ष्म दृष्टि से देखे गए हैं और उनके प्रभाव का पृथक् चित्रण किया गया है। परन्तु जहाँ पर सौन्दर्य की समष्टि का चित्रण है, वहाँ पर कुछ विचित्र ही बात दृष्टिगोचर होती है।

आसा लताप्रस्तबकोत्थितानि शिलाप्रवालरत्नयुविचुम्बितानि ।
पश्योपरिष्टाद्‌लिमण्डलानि नीलातपत्रभ्रममारभन्ते ॥ (१४।४०)

यहाँ पर रूप, रग और आकार चित्रण की समष्टि से प्रकृतिगत सौन्दर्य की एक अद्भुत [illegible] देखने को मिलती है। चित्रण की यह कलात्मकता पद्मगुप्त के प्रकृति चित्रण म सर्वत्र पाइ जाती है।

अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम आभान्ति लीनभ्रमरोदराणि ।
विद्याधरीविभ्रमदर्शनार्थम् उत्तानितानीव विलोचनानि ॥ (१४।३५)
मन्दानिलान्दोलितपल्लवामा समग्रपुष्पाहरणोद्यतास्य ।
इतो लताः पार्थिव सरभ ते लावण्यमादातुमिवागताम्य ॥ (१४।३४)

भ्रमरों को अपने अन्दर समाये हुए पुष्पों म वृक्षों के नेत्रों की कल्पना एक नवीन उत्प्रेक्षागत उद्भावना है। यहाँ मानवीय रूप देकर पुष्पों और उनमें लीन भ्रमरों को नैसर्गिक सौन्दर्य के कारण वृक्षों की मनोहरता का द्योतक बना दिया गया है। इसी भाँति मन्द अनिल से आन्दोलित पल्लवा-प्रलताओं को लावण्य का आदान करने वाली बताकर उनमें मानवीय

सजीव सौन्दर्य को अति सूक्ष्म दृष्टि से चित्रित किया गया है। इससे कवि के प्रकृतिसौन्दर्य-निरीक्षण के सहजात अनुराग एवं सूक्ष्म निरीक्षण का आभास मिल जाता है।

जिस भाँति कालिदास ने अपने मेघदूत में यक्ष की प्रियतमा के अंगों का साम्य प्रकृति के अंगों में देखा है और जिस भाँति विक्रमोर्वशी में 'श्यामास्वंगम् चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्' में उसे एक भी साम्य नहीं मिला, तथापि यह प्रकृति और मानव के सौन्दर्यसाम्य की कल्पना करता रहता है, उसी भाँति पद्मगुप्त भी प्रकृति के अंगों और मानवीय अंगोपांगों का साम्य करके एक ऐसी संतुलित रेखा खींच देता है, जो दोनों के समानानुभूति के छोरों को मिला देती है।

वलितं न विभाति पृष्ठत' कबरीकान्तमिदं तवाननम्।
अयि नीलपयोदलेखया सपरिष्वक्तमिवेन्दुमण्डलम्॥ (१२।१६)

यहाँ पर अर्धश्लोक में मानवीय और आधे में प्रकृति के सौन्दर्य की उपस्थापना की गई है। यह उपमानों की विशिष्ट योजना का फल है, जिसके कारण प्रकृति मानव-सापेक्ष रूप में हमारे सामने व्यक्त होती है। इस प्रकार के चित्रण में सौन्दर्यभाव की जागृति की उत्तमता निहित रहती है। पद्मगुप्त ने ११, १२ और १४वें सर्ग में इसी प्रकार का वर्णन विशेष रूप से किया है, जिससे यह कहा जा सकता है कि प्रकृति-चित्रण की संश्लिष्टता पद्मगुप्त के काव्य में विशेष रूप से पाई जाती है।

सूर्यास्त के समय के सौन्दर्य का जो वर्णन इस कवि ने किया है, वह नितान्त चित्ताकर्षक है। इस वर्णन में कोमल भावों की अभिव्यक्ति सौन्दर्यानुभूति के साथ हुई है। प्रत्येक वस्तु सजीव होकर अपने सौन्दर्य-प्रभाव को हृदय पर डालती सी प्रतीत होती है।

चलितोऽसि वद क्व मां विना विरहं सोढुमहं न ते क्षमा।
कृतपङ्कजकुड्मलाञ्जलिर्नलिनी कान्तमितीव याचते॥ (१२।३२)

यहाँ पर कृतपङ्कजकुड्मलाञ्जलिः और याचते पर ध्यान जाता है। दीनता एवं विरहवेदना का कितना असह्य वातावरण सामने आ जाता है, जिसमें कवि ने विवशता का द्योतन अति चातुर्य के साथ किया है।

परिचुम्बति वारुणीं दिशं पुरतो रागहृते विवस्वति।
दिगियं शतमन्युलाञ्छिता भवति श्याममुखी मितोदरी॥ (१२।२६)
अनुपुञ्जितपिङ्गदीधितिद्रुतलाक्षारुणदर्पणोपमम्।
परतोऽस्तगिरेरिदं गलत्यनवद्याङ्गि पतङ्गमण्डलम्॥ (१२।२३)

इन श्लोकों में संध्याकाल का दृश्य बड़े ही मनोहर ढंग से उपस्थित किया गया है। सन्ध्या के गमन और रात्रि के आगमन के समस्त दृश्य को जिस चित्रोपम शैली में वर्णित किया गया है, उससे भी उपमान की सुन्दर उद्भावना का ही परिचय मिलता है।

क्षणाद्यभिमुखेन खण्डिता ननु संध्या तमसा मनस्विनी।
कुपितेव निवर्तते जवात् अतिवाचालविहंगनूपुरम् ॥ (१२।३७)

रात्रि के साथ अभिसार करने के लिए जब तम चला तो संध्यासुन्दरी खण्डिता नायिका सी बड़ी तेजी से वाचाल विहगनाद रूपी नूपुर झनकाती हुई चली गई।

स्वाभाविक बात है कि रात्रि के आने पर अन्धकार का प्रसरण होने लगता है और सन्ध्या शीघ्र ही अदृश्य हो जाती है। सन्ध्या की अदृश्यता के समय अपने नीड़ों पर बसेरा करने वाले विहगों के कोलाहल का होना भी नैसर्गिक ही है और रात्रि में कोलाहल का शान्त होना भी स्वाभाविक है। इस बात को पद्मगुप्त ने कितने सजीव ढंग से चित्रित किया है। खण्डिता नायिका का समस्त सौन्दर्य, उसकी क्रोध की मुद्रा, नूपुर झनकाकर गुस्से में चला जाना—सभी कुछ आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। "नूपुरम्" इस शब्द से जो ध्वनि निकलती है, उससे ही सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है, और सन्ध्या का दृश्य प्रत्यक्ष रूप से आँखों के सामने घूमने लगता है। एक दो नहीं, इस प्रकार के चित्र इस काव्य में बहुत हैं, जिनको देख कर यह धारणा बलवती हो जाती है कि इस कवि पर कालिदास का पूर्ण प्रभाव पड़ा है और कालिदास की भाँति ही पद्मगुप्त ने भी प्रकृति को मूक, चेतना-हीन एवं निष्प्राण नहीं समझा, अपितु मानव जगत की ही भाँति संवेदन शीलता का आभास कवि को सदा और सर्वत्र मिलता रहा है। मनुष्य और प्रकृति का ऐसा तादात्म्य कवि की सौन्दर्यप्रियता का परिचायक बन जाता है और प्रभावोत्पादक भी।

विगलत्तिमिरांशुके शनैः स्पृशति व्यक्तिमघीरतारके।
इह पश्य निशावधूमुखे स्फुरति श्वेतमरीचिकुण्डलम् ॥ (१२।५३)

यहाँ पर भी चित्रण की सफलता और रात्रि के सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण आभासित हो जाता है।

इस कवि ने प्रकृतिसौन्दर्य को तमाशबीन के रूप में नहीं देखा है, अपितु अपने हृदय के गाढ़ानुराग के कारण और स्निग्धता के कारण प्रकृति के नाना रूपों में सौन्दर्य को देखा है।

इदमञ्जननीलमाहत विहितांशं तुहिनांशुना करैः।
अचलेन्द्रगुहासु लीयते शनकैः सङ्कुचितं पुनस्तमः ॥ (१२।५५)

जब चन्द्रकिरणों का विस्तार हुआ तो तम संकुचित होकर धीरे-धीरे हिमालय की गुफाओं में जाकर छिप गया। यहाँ पर तम का गुहाश्रयी होना और उसकी अनुभूति करना प्रकृत्यंग के सूक्ष्म निरीक्षण का ही प्रतिफल है।

तिमिराञ्जनभक्तिशोभिना धवलेनायतपद्मपङ्क्तिना।
अमुना भवतीव चक्षुपा कुमुदेनेति रुचं कुमुद्वती॥ (१२।४४)

तिमिराञ्जन के धवलिमा के साथ मिश्रित होने की अनुभूति कचित् प्रभा चान्द्रमसी तमोभिः की याद दिला देती है, और इसी प्रकार 'श्यामश्वेत' के मिश्रित रूप का चित्रण पद्मगुप्त ने यहाँ पर भी किया है :

शबलं शशलाञ्छनत्विषा सतमः पश्य महेन्द्रदिङ्मुखम्।
अचलेन्द्रसुतास्मितच्छविच्छुरितं कण्ठमुमापतेरिव॥ (१२।४८)

चन्द्रमा की कान्ति से मिश्रित तम उसी भाँति दिखाई दे रहा है, जैसे उमा की हँसी से युक्त नीलकंठ का कंठ। अपनी प्रतिभा के बल से कवि ने यहाँ पर भी वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा प्रकृति की परिस्थितियों को मानव-साहचर्य की स्मृति के रूप में चित्रित कर दिया है। चित्रण की यह उपमानजन्य सफलता पद्मगुप्त की चित्रणशैली का सौन्दर्यमय पक्ष है।

जहाँ पद्मगुप्त प्रकृति के मधुर और शान्त रूप को देख कर अधिक मुग्ध हुआ है, वहाँ उसके रूपचित्रण की शैली भी कुछ अन्य ही हो गई है। पद्मगुप्त ने भावप्रवणता के कारण प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति से विमुग्ध होकर उसके उन्मुक्त सौन्दर्य को भलीभाँति देखा है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस वर्णन में कवि की और कवि के नायक की मनःस्थिति का रूप भी मिलता हुआ दिखाई देता है।

अयमिन्दुमुखि त्वया यथा समुपैति स्पृहणीयतां जनः।
अनयैव समागतस्तथा निशया पश्य कुरङ्गलाञ्छनः। (१२।६१)
मरुता सुहृदेव वीजितं कुमुदामोदमुचा शनैरितः।
स्वपिति प्रणयार्द्रयोरिदं मिथुनं मानिनि राजहंसयोः॥ (१२।६४)

इस स्थल पर भावनाओं का चित्रण मानवप्रकृति का प्रतीक सा हो गया है। पद्मगुप्त के इस प्रकार के वर्णन कथाविस्तार में सहायक होते हैं। हंस का दर्शन और वर्णन, मृग का दर्शन, विन्ध्यभूमियों का सहजात सौन्दर्य, वंकुमुनि के आश्रम के समीपवर्ती वन का और ऋतुओं का वर्णन, सायं-प्रातः का वर्णन—ये सब कथाविस्तार में उत्तरोत्तर सहायक होते गये हैं, और नायक के मनोभावों को उद्दीप्त करने में सहायक होते रहे हैं। इन वर्णनों में छिपे हुए उल्लास की द्योतना का भाव पाया जाता है।

कभी कभी प्रकृति के एक सुन्दर चित्र को उपस्थित करने के लिये अपर दृश्य का आश्रय लेकर पद्मगुप्त ने अपने चित्रणों को अतिसौन्दर्यमय बना दिया है।

> चक्षुषि खमितस्तव चणात् उदितैर्मङ्करकेशि भात्यद ।
> अतिगाढदिनोष्णचमिमि परित स्वेदलवैरिवाङ्कितम् । (१२।४६)
> तदनु अपया पराङ्मुखीं पुलकालङ्कृतपीवरस्तनीम् ।
> कि लाञ्छितचातुरानयत् सुमुखीं तामनुकूलवृत्तिताम् ॥ (१२।६८)

यह अलकार द्वारा उपस्थापित चित्रमय योजना है, जिसमें सुन्दरता चित्ताकर्षक है। सादृश्य के आधार पर सुन्दर और रमणीय भाव की अभिव्यक्ति भी सफल आलंकारिक चित्र-योजना द्वारा ही होती है। इसी तथ्य को पद्मगुप्त ने सर्वत्र स्थान दिया है।

मन स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले प्रकृति के रूपसौन्दर्य पर पद्मगुप्त की दृष्टि गई है। इसीलिए सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिये कवि ने उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग मनोवैज्ञानिक ढग से किया है। वैसे चित्रण यद्यपि कालिदास के अतिरिक्त कुछ कुछ भारवि में भी मिलते हैं, पर बाद में माघ, अश्वघोष, प्रवरसेन आदि में प्रकृति के सामञ्जस्यपूर्ण सौन्दर्य का समुचित चित्रण नहीं हो सका। किन्तु पद्मगुप्त के काव्य में यह सामञ्जस्यपूर्ण सौन्दर्य पूर्ण रूप से पाया जाता है। इस कवि ने परम्परा का कोरा निर्वाह नहीं किया।

> अयमभिनवकर्णिकारयष्टि झटिति धनस्तवकम्तनीमुपैति ।
> अयमलिचपलो निसर्गरक्ता स्थलनलिनीमवधीर्य देव ! याव ॥
> (३।३५)

यहाँ पर कर्णिकार और नलिनी के वर्णन में मुग्धा और मध्या नायिकाओं के सौन्दर्य विजृम्भण के साम्य के साथ उन पर विशेष अनुरक्ति की इच्छा का न होना द्योतित किया गया है। यह प्रकृति का नारी रूप ही है, जो मानवीय मन स्थिति के साथ सामञ्जस्य रखता है। इतना होने पर भी जहाँ कहीं भी कवि ने स्वतन्त्र चित्रण किया है, वह भी अद्वितीय है। उस स्वतत्र चित्रण की महत्ता भी भावात्मक और रूपात्मक सौन्दर्यबोध के द्वारा कथाविस्तार को आगे बढाने में ही है।

> तटोद्गतप्रांशुतमालराजिच्छायाघनश्यामलितार्धभागा ।
> मूर्तिस्तुपाराचलतुल्यकान्तिरुमापतिश्रीधरयोरिवैका ॥ (१४।८३)
> तरङ्गभङ्गोज्ज्वलचामरश्रीरुद्दण्डहेमाम्बुरुहातपत्रा ।
> पुण्या पुरो दूरत एव तेन त्रिमार्गगाऽदृश्यत पार्थिवेन ॥ (१४।८५)

इन स्थलों पर गंगा का वर्णन अपना स्वतंत्र महत्त्व रखता है और कालिदास के गंगा-यमुना के चित्रण की भाँति ही इसमें भी मिश्रित सौन्दर्य का दर्शन होता है। इस प्रकार के चित्रण पद्मगुप्त ने कथानक की रोचकता बढ़ाने और उसे गतिशील बनाने के लिये ही किये हैं। सर्वत्र ऐसे चित्रणों में भावग्रहण की ओर विशेष ध्यान रखा गया है। भावाभिव्यञ्जना एवं प्रकृतिचित्रण में अपने आप ही सामञ्जस्य स्थापित हो गया है। पद्मगुप्त का ध्यान कथावस्तु की रोचकता और विस्तार पर अधिक रहा है। भिन्न-भिन्न शैलियों का आश्रय लेकर विभिन्न कवियों ने अपने अनुभवों के बल पर चित्रण किया, किन्तु कुछ कवियों ने प्रकृति का निरीक्षण गम्भीरता से किया। उनकी अनुभूति की गहराई ने उन्हें प्रकृतिचित्रण करने में इसलिये सफल बनाया कि उनका सूक्ष्म सौन्दर्य-निरीक्षण मानव में और प्रकृति में कोई भेद नहीं रखता है।

पद्मगुप्त के नवसाहसाङ्क के प्रकृतिसम्बन्धी भाव एवं रूप-चित्रणों को देख कर यह कहा जा सकता है कि इस कवि ने प्रकृतिचित्रण में भी मध्यम मार्ग का ही आश्रय लिया है। उसने न तो रूढियों और परम्पराओं को ही अपनाया है, न पूर्ण आधुनिकता को ही प्रश्रय दिया है। दोनों का तत्त्व लेकर ही अपनी चित्रण-शैली को रोचक बनाकर प्रकृतिसौन्दर्य की अनुभूति पाठकों को कराई है। उज्जयिनी का वर्णन और नागराज की नगरी भोगवती का चित्रण बहुत ही भावपूर्ण और प्रभावोत्पादक ढंग से हुआ है। इन वर्णनों को पढ़कर कवि के प्रकृतिसौन्दर्य-निरीक्षण का पूर्ण आभास मिल जाता है। भोगवती का वर्णन तो वस्तुतः कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य से बहुत कुछ साम्य रखता है। नदी, प्रभात, वन, उद्यान, गृहाङ्गण आदि के सरस वर्णनों को पढ़ने में जी रम जाता है।

उज्जयिनी के नाट्यगृह और उद्यान-वापियों के वर्णन का एक म धुर चित्रण देखिये :

सत्पुष्करोद्द्योतितरङ्गशोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गवाद्ये ।
उद्यानवापीपयसीव यस्याम् एणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते ॥ (१।५४)

यहाँ पर नाट्यगृह में होने वाली वाद्य ध्वनि और जलतरंगों द्वारा उत्थित ध्वनि का तथा प्रमदाओं की हाव-भावपूर्ण गति का जलधाराओं की गति के साथ साम्य करके जो चित्र उपस्थित किया गया है, वह अपने आप में पूर्ण सफल है।

वृन्तादपास्तैर्मरुता विकीर्णैः सुगन्धिभिस्तीरतरुप्रसूनैः ।
शिप्रासरित् कूलतमालनीला विभाति यस्याः कबरीलतेव ॥ (१।४८)

पुष्पों से शोभित प्रमदा की वेणी के साथ शिप्रा का यह साम्य भी अत्यन्त मनोहारी ढंग से किया गया है।

मुक्ताट्टहास करनेवाली शिप्रा के सौन्दर्य से भी कवि कम प्रभावित नहीं हुआ है।

गतासु तीरं तिमिरभ्रमेण मसप्रमं पौरविलासिनीषु।
यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति शिप्रा॥ (१।५२)

विन्ध्याटवी का सौन्दर्य भी एक ही श्लोक में देखिए

अथ स चटुलषट्पदोपगीतं वनगजदानसुगन्धिगन्धवाहम्।
परिसरमभिनृत्तनीलकण्ठं न्यविशत विन्ध्यनगेन्द्रकन्दरस्य॥

(३।३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति-सौन्दर्य के विविध दृश्य मानव हृदय को विभिन्न प्रकार की उत्कण्ठाओं एवं प्रेरणाओं से उल्लसित करते रहते हैं। आन्तर और बाह्य प्रकृति के घनिष्ट सम्बन्ध की योजना करके कवि ने अपने वर्णनों को हृदयंगम बना दिया है। प्रकृति चित्रण में सहयोग और सहानुभूति की भावना का चित्रण भी पद्मगुप्त के प्रकृति-चित्रण की अपनी विशेषता है। यहाँ तक कि वन लतायें भी, मानो मानव के साथ हास परिहास करती दिखाई देती हैं।

चतुरङ्गुतकचग्रहं स गच्छन् नवलतया परिहासलोलयेव।
नरपतिरवशः कृतः स काम वियति मुरेन्दुमुदस्त्रयाञ्चकार॥ (३।४)
नमदवनिपतिं पतिं प्रजानाम् अयि! चपले तु निरुध्यते कचेषु।
विरम मुहुरितीव मञ्जुगुञ्जध्वनिभिरसारलिभिर्लताऽभ्यधायि॥

(३।५)

इस प्रकार के वर्णनों में प्रकृति और मानव के हास परिहास द्वारा चित्ताकर्षकता उत्पन्न की गई है। इस भाँति हम देखते हैं कि पद्मगुप्त का प्रकृति चित्रण सरस, सुन्दर और सूक्ष्मानुभूतिपरक है, जिसमें प्रकृति के हृदय की सान्त्वना और उल्लास एवं रूपानुकृति के विशिष्ट प्रभावमय सौन्दर्य चित्र उपस्थित किये गये हैं। ये समस्त चित्र एक समष्टि रूप में कथाप्रवाह के विस्तार में सहायक होकर पाठकों के अन्तःकरण में एक रागात्मकता की छाया सी छोड़ देते हैं। पद्मगुप्त का प्रकृति-पर्यवेक्षण सूक्ष्म प्रेरणापरक है। प्रकृति की रहस्यमयी सौन्दर्यानुभूति का चित्रण करने में पद्मगुप्त सफल रहा है।

नवसाहसाङ्कचरित की शैली

शैली का कवि के व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। शैली के

आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कालिदास का व्यक्तित्व सुकुमार प्रतीत होता है। बाणभट्ट के व्यक्तित्व में वैचित्र्य का पर्याप्त पुट है, और परिमलपद्मगुप्त में न तो एकान्त वैचित्र्य ही देखा जाता है और न नितान्त सौकुमार्य। इस कवि का व्यक्तित्व मध्यममार्गी है, जिसमें सौकुमार्य और वैचित्र्य का सम्मिश्रण हुआ है। जो व्यक्ति जैसी प्रवृत्ति का होगा, उसके बोलने और लिखने का ढंग भी उसी प्रकार का होगा। क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति कुछ कर्कश और उद्वेलक बात कहेगा, पर मधुर प्रकृति का उदार व्यक्ति यदि सौन्दर्यप्रिय और अधिक भावुक होगा तो वह सरस और सुन्दर बात कहेगा और कभी-कभी भावों की गूढ़ता के लिये ऐसी बात कहेगा कि सुनते ही जिसका प्रभाव हृदय पर पड़े बिना न रहेगा। इन प्रवृत्तियों का पता भाषण या लेखन की शैली पर से ही लगता है।

पद्मगुप्त की कृति के अध्ययन से हम इस तत्त्व पर पहुँचते हैं कि पद्मगुप्त की शैली सुकुमारता तथा वैचित्र्य के अनोखे सम्मिश्रण से संवलित है। कवि के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब उसकी शैली पर पूर्ण रूप से पड़ा दिखाई देता है। कलात्मक प्रतिभा पद्मगुप्त की शैली का आदर्शमय पक्ष है। भावों और अलंकारों की नवीनता उसके आन्तर और बाह्यपक्ष का सामञ्जस्य है। इसकी पुष्टि नवसाहसाङ्कचरित के कतिपय उदाहरणों से हो जाती है, जिनके विवेचन से यह ज्ञात हो जाता है कि इस कवि ने अपने काव्य को विशिष्ट शैली से चमत्कृत किया है।

> निबद्धभीमभ्रुकुटिर्विलोकयन् दृशा तदोल्काकपिशोग्रतारया।
> स तीव्रकोपस्फुरिताधरोऽवदन् वचो ममाक्षिप्य कृतान्तरेरिति॥
> (१३।५४)

इस स्थल पर क्रोध की मुद्रा की सूचना है, शब्दविन्यास से ही यह बात स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। इस वर्णविन्यास में निबद्ध शब्द में ध्वनि मन्द है। भीम में कुछ बढ़ी हुई है। "भ्रुकुटिर्विलोकयन्" में उसकी गति और तीव्र रूप धारण कर लेती है। कपिशोग्रतारया में आगे बढ़ती हुई एवं तीव्र होती हुई कृतान्तरेरिति में पुनः एक सम पर आकर स्थित हो जाती है। ध्वनिक्रम की यह विशेषता वर्णविन्यास के विशेष चातुर्य का ही फल है। ठीक इसी भाँति कालिदास की "हिमालयो नाम नगाधिराजः" में भी ध्वनि का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाई देता है। जिससे नगाधिराज की ऊँचाई का बोध शीघ्र ही हो जाता है। इस प्रकार के वर्णविन्यास से वस्तु का प्रभाव पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है।

पद्मगुप्त की शैली परिष्कृत, प्रसादमयी एवं लालित्य आदि गुणों से युक्त है, जिसका परिचय उसके इस श्लोक से भी मिलता है :

अभिनवलिखितामिव प्रशस्तिं मदनमहानृपते स पार्थिवेन्द्रः ।
इति निविडकुतूहलाकुलस्ता ललितपदाभरणामवाचयच्च ॥ (३।६६)

न चिरादलङ्कृतिविशेषविहितरुचयोऽतिपेशला ।
लक्ष्यनवनवरसा शुचयः कविपुङ्गवोक्तय इवाङ्गना वसुः ॥ (१५।३७)

इन स्थलों पर "ललितपदाभरणा" और "अतिपेशला", "लक्ष्यनव-नवरसा", "कविपुङ्गवोक्तय" ये शब्द ही कवि की शैली का महत्त्व घोषित करते हैं। इस प्रकार के शब्दों पर विचार करने से कवि की सुकुमार और व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति का आभास सहज रूप से ही मिल जाता है। क्योंकि किसी भी भाव का चित्रण करते समय पद्मगुप्त ने एक अनूठा ही ढंग अपनाया है, जिसमें कहीं पर सौकुमार्य और कहीं पर वैचित्र्य का पुट मिलता रहता है।

धवलाभ्रकञ्चुरितभित्तिलिखितललिताङ्गनालिपिम् ।
अम्बु कुवलयदृशा प्रतिमा सितरत्नदर्पणनिभासु लेभिरे ॥ (१५।७)

उदितासु काञ्चिगुणमध्यमरकतमरीचिसूचिषु ।
व्यक्तिमलभत न रोमलता स्मरदीपकज्जलशिखा मृगीदृशाम् ॥
(१५।४४)

जलक्रीडा की यह जो विशेषताएँ हैं, वे स्वतः अभिव्यञ्जित हो जाती हैं। मधुर और सघोष शब्दों के प्रयोग से इनमें भी ध्वनिसौन्दर्य का अपना एक स्थान लक्षित होता है। जलक्रीड़ा में जिस भाँति इतस्ततः परिचलन होता है, उसी तरह शब्दों में भी ध्वनि इधर उधर दौड़ती सी प्रतीत होती है।

इस तरह का सुकुमार व्यक्तित्व इस कवि की रचनाओं से व्यक्त होता हुआ शैली की उत्कृष्टता का द्योतक बन जाता है।

विगलत्तिमिरांशुके शनैः स्पृशति व्यक्तिमयीरतारके।
इह पश्य निशावधूमुखे स्फुरति श्वेतमरीचिकुण्डलम् ॥

चन्द्रोदय के समय के वस्तुगत चित्रण की शैली से ही यह विदित होता है कि इस कवि को कोमल भावनाओं का चित्र अंकित करना अधिक प्रिय रहा है। इस स्थल पर आन्तरिक स्नेह और लघ्वात्मक भावना की अभिव्यञ्जना बड़ी ही विदग्धता से की गई है।

इति तद्वचस सौम्नि मसृणोत्कम्पितस्तनी।
व्याजसाचीकृतमुखं निशश्वास शशिप्रभा ॥ (६।८२)

इसमें शशिप्रभा की मानसिक दशा का चित्रण केवल मुँह मोड़ कर दीर्घ श्वास लेने से ही व्यक्त किया गया है। इस श्लोक में यद्यपि कोई ऐसा चमत्कारी अलंकार भी नहीं है, फिर भी मानसिक दशा का चित्रण जिस मधुर व्यञ्जनात्मक शैली में हुआ है, वह ठीक कालिदास के

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

इस श्लोक की भाँति ही है। कालिदास ने भी कमलपत्र की गिनती से पार्वती के लज्जाख्य संचारी भाव को व्यक्त कर दिया। यह शैली का ही फल है, जिसके कारण अतिविस्तार न होकर भी किसी भाव की अभिव्यक्ति कुछ निर्धारित शब्द से ही हो जाती है। इस प्रकार के सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति पद्मगुप्त का विशेष गुण है। भावाभिव्यक्ति के लिए वाक्यविन्यास का औचित्य, छन्दोज्ञान एवं अलंकार के सफल प्रयोग का सन्निवेश उपयोगी है। इसलिए सौन्दर्य प्रियता का परिचय कवि की वाणी सर्वत्र ही देती रहती है। जिससे यह भली भाँति विदित हो जाता है कि कवि ने सौन्दर्य की अनुभूति खुली आँखों से की है।

युता सिताभैः सुमनोभिरेतया परिश्लथेयं कबरी नियम्यते ।
उदस्तभास्वत्करकान्तया श्रिया दिनस्य ताराशबलेव शर्वरी।(४।१२)

यहाँ पर सजे हुए शिथिल केशकलाप वाली पाटला का साम्य "ताराशबला शर्वरी" के साथ करके कवि ने मानवसापेक्ष प्रकृति का चित्रण अति मधुर भाव से किया है। इस प्रकार के सुन्दर चित्रण और उन चित्रणों में विशुद्ध शृंगारी भावना का पुट देना कवि की मधुर प्रकृति और सुकुमार 'वर्ण-विन्यास की शैलीगत चातुर्य का ही फल है। इसीलिए हम देखते हैं कि अनुप्रास की छटा भी पद्मगुप्त की शैली में भावाभिव्यक्ति के लिए अनायास ही कारण बन गई है। कहीं पर भी केवल भर्ती के लिए शब्द नहीं रखे गये हैं।

अयं स न स्यान्नवसाहसाङ्क इत्यनङ्गलीलासुकृती भुवः पतिः ।
स येन मुक्तो निजनामलाञ्छितः शशिप्रभाकेलिकुरङ्गके शरः ॥(४।३४)
अयं स नो हार इवास्य दृश्यते करोदरे पल्लवपाटलत्विषि ।
इतः किमेतस्य न सैन्यते स किं सितच्छदो लोचनगोचरं गतः ॥ (४।३५)

इन श्लोकों में वर्णविन्यास देखने योग्य है। कितनी स्वाभाविकता के साथ दो समान वर्णों के बीच एक अन्य वर्ण रख कर फिर उसकी भी अन्यजातीय वर्ण के साथ कैसी संगति की गई है। इसी संगति के कारण कौतूहल की जागृति एवं संशय की वृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। यह वर्ण-विन्यास अपनी विशेषता रखता है।

विधातुमेनामहमेव वा क्षमा मितोदरीमद्भुतलेऽस्य को विधिः
ममेदृशो यद्विषय निमत्सरा स्तुवन्ति सन्तो मसृणोक्तिसौष्ठवम्

यहाँ पर पूर्णरूप से कवि के व्यक्तित्व की झलक मिलती है और शैली में मसृणोक्तिसौष्ठवम् का भी परिचय मिलता है। इसी मसृणोक्तिसौष्ठवम् के कारण ही सम्भवत तत्कालीन कवि इस कवि से प्रभावित रहे हैं और बिल्हण भी, जिसकी सूचना कवि ने दी है। इस श्लोक में 'म' की संगति आदि से अन्त तक अपना एक अद्भुत सौष्ठव रखती है।

ननाम मानिन्यवशा निशा पतिम् में भी यही बात पाई जाती है। इस प्रकार की रचना चातुरी को देखकर और उसकी प्रभावजन्य भावाभिव्यक्ति को देखकर यह कहना उचित ही जान पड़ता है कि पद्मगुप्त की शैली में प्रसाद गुण का सहजात सौन्दर्य, माधुर्य का यथोचित न्यास, भावों की ममज्ञता और अलकारों की समुचित योजना पाई जाती है।

अल्प शब्दों में विपुलार्थ की योजना यद्यपि भारवि की भाँति पद्मगुप्त से नहीं बन पड़ी है, पर इसका अधिकतर समावेश उसने अपनी शैली में किया है। रुचिर और परिष्कृत पदावली का सर्वत्र आधार लिया गया है। अवसर के अनुरूप भाषा का सदैव प्रयोग किया गया है। भाषा पर इस कवि का असामान्य अधिकार है। वह उसकी वशवर्तिनी होकर ही चलती है। भाव और भाषा का सामञ्जस्य पद्मगुप्त की शैली में सदैव ही रहा है। जहाँ शृगार की अभिव्यक्ति करनी हुई, वहाँ सरल सरस और असमास पदावली का प्रयोग किया गया है, किन्तु एक और इस प्रकार की सुकुमार योजना करने पर भी जहाँ युद्ध का वर्णन आया है, वहाँ समस्तपदावलि और कर्कश शब्दों की योजना पर भी कवि का ध्यान गया है। एक ओर माधुर्य और दूसरी ओर ओज का समावेश अवसरोचित रूप से किया गया है।

मदाम्बुपूर्णैः परितो गजाना स्वदानपङ्कोपचितैः पदाङ्कैः।
भयङ्करा ऽभूत्तस्णार्कबिम्बसहस्रकीर्णेव रणाङ्गणोर्वी ॥ (१७।१८)
स्फुरत्फणाचक्रमणिप्रतानतेजश्छटाजर्जरितान्धकारः।
अफल्गुवीर्यः फणभृत्कुमारोऽप्यमेऽभवत्तस्य च रत्नचूडः ॥ (१७।४)

यहाँ पर कठोर वर्ण की श्रुति से ही उत्साह का सचार होने लगता है और ध्वनि के क्रमिक विकास से वीररस का सचार होता हुआ प्रतीत होता है।

जहाँ अन्तर्मानसों को छूकर उन्हें तीखी बनाकर जब रागात्मिका प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करनी होती है, तब पद्मगुप्त सरल सुगम शैली का प्रयोग करता है।

मनसा किमालिखति किं समाचरत्यधुना किमिन्दुवदना च वक्ति सा ।
इति मेऽपदिश्य भवतीं प्रवृत्तया हृदयं सशल्यमिव हन्त चिन्तया ॥ (१०।६१)

पर जब इन्हीं मनोरागों की तीव्रता और असह्य प्रभाव को दिखाना होता है तो पद्मगुप्त उस समय एक उत्तेजना लाने के लिये समस्तपदावली वाली शैली का भी आश्रय लेता है।

शरदिन्दुदीधितिकलापसुन्दरम्
कथय प्रिये निहितसान्द्रचन्दनद्रवशीतलोज्ज्वलकरा कुचद्वये ।
मम हारयष्टिरपि सा सखीव किं
मदनाभितापमपटू करोति ते ! (१०।६३)

यहाँ पर यद्यपि समासों का प्रयोग किया गया है, परन्तु उनका प्रयोग रसानुगुण्य की दृष्टि से ही है। क्योंकि जब भावातिरेक होता है, तब या तो शब्दों की अति मन्द गति हो जाती है, या अत्यधिक सम्बद्ध गति। पद्मगुप्त ने इसी सत्य को यहाँ पर व्यक्त किया है। शैली का रस से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है और इसीलिये काव्य में शैली के औचित्य पर भी पूर्ण ध्यान देना पड़ता है, यह औचित्य पद्मगुप्त की शैली में आद्योपान्त देखा जाता है। वार्तालाप के ढंग में कवि ने कितनी स्वाभाविकता दिखाई है :

विलोकितं चित्रमलीकभाषिणी भवत्सखीयम् प्रतिभासते मम ।
उदीरितेवं किल पार्थिवेन सा भृशं ललज्जे निभृतं जहास च ॥ (८।७७)
तुम्हारी सखी मुझे बड़ी झूठी मालूम होती है। राजा के इतना कहने पर शशिप्रभा शरमाई भी और हँसी भी। इन गूढ़ भावों की सरलाभिव्यञ्जना को सर्वसाधारण के बोधगम्य बनाकर पद्मगुप्त ने अपनी शैली में परिहासप्रियता का परिचय दिया है।

इदं वदाशिक्षितकैतवं कुतं तवैष मुग्धे सरलाङ्गुलिः करः ।
सहैतदालिख्य शिलातले शनैरनेन लीलाकमलं यदुज्झितम् ॥ (७।५२)

हे मुग्धे ! यह तो बताओ कि तुम्हारे इस सीधी अंगुलियों वाले हाथ ने इतना ठगपन कहाँ से सीखा कि स्वयं शिलातल पर चित्र बनाया और फिर शीघ्र ही उसे कर्णकमल से ढँक दिया, जिससे और कोई उसे न देख सके ! यह कैसी चातुरी है !

इस प्रसंग को देखकर यह कहा जा सकता है कि परिहासप्रियता भी पद्मगुप्त की शैली का एक तत्त्व है और उसको कवि बड़ी सफलता के साथ निभाता है।

अपहर्तुमगास्त्वमेव हारं किमितः कल्पितराजहंसरूपः ।
विदितोऽसि घना तवोरगाणां नगरेऽस्त्येव हि कामरूपवार्ता । (५।६६)

परवञ्चनपण्डिता मतिस्ते यदि नैवं कथमन्यथा नरेन्द्र
इदमाभरणं हरस्यरण्ये हरहासैकसितं शशिप्रभायाः ॥ (५।७०)

जब पाटला राजा के समीप आई और राजा के पास उसने हंस द्वारा अपहृत शशिप्रभा के हार को देखा तो वह बोली, "हे नरेन्द्र ! यह तो बताओ कि यह हार तुम्हारे पास कैसे आया ? क्या कल्पित राजहंस का रूप धारण करके तुम ही तो हार चुराने नहीं गये ? क्योंकि नागलोक में तुम्हारे बहुरूपी होने की नाना कथायें सुनी जाती हैं। यदि ऐसी बात न होती और तुम दूसरे को धोखा देने में निपुण न होते तो यह हार तुम्हारे पास कैसे आता ?" फिर उसने कहा कि "मैं तो समझती थी कि तुम पृथ्वी का शासन करते हुए अपने राज्य में अविनय को लेशमात्र भी न सहते होगे। तब यह बताओ कि तुम स्वयं ही इस प्रकार चोरी का सा कृत्य क्यों करने लगे ? महाराज ! यह मजाक ठीक नहीं। आप हमारा हार दे दीजिये। न्यायमार्ग पर चलने वाले आप जैसे लोग दूसरे का द्रव्य हरण करने में क्या लज्जित नहीं होते ?" पाटला की यह अन्योक्तियाँ वस्तुतः अति स्वाभाविक हैं और व्यावहारिक भी। इनमें वाक्पटुता का पूर्ण परिचय मिलता है। इस शैली से परिमल पद्मगुप्त की भावाभिव्यक्ति में निखार आ गया है।

इन सब विवेचनों के द्वारा हम यह कह सकते हैं कि पद्मगुप्त कवि की शैली में सुकुमारता के साथ अभिव्यञ्जनात्मकता अधिक पाई जाती है, और ओज का भी पुट उसमें मिलता है। लालित्य तो इस कवि की शैली का प्रधान गुण है ही। भाषा की दुरूहता से पद्मगुप्त की शैली दूर ही है। इस कवि की शैली में सश्लिष्ट एवं चित्रोपम प्रकृति चित्रण का भी प्रमुख स्थान है। इसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

नवसाहसाङ्कचरित की छन्दोयोजना[1]

काव्य में छन्दोयोजना का महत्त्व यद्यपि भावाभिव्यक्ति के लिए ही होता है, फिर भी यह बात विचारणीय है कि औचित्य की दृष्टि में रखकर ही छन्दों का प्रयोग करना, उनके उत्कर्ष को बढ़ाना होता है। इस विषय में आचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है।

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥

---

१ विशेष जानकारी के लिए देखें पुस्तक 'पद्मगुप्त और छन्दोयोजना'।

काव्य में रसौचित्य की दृष्टि से और वर्ण्य विषय की मनोहारिता की दृष्टि से छन्दों के विभाग को जानने वाले कवि को चाहिये कि वह छन्दोयोजना करे।

वस्तुतः यह बात सत्य भी है कि छन्दोयोजना की सफलता पर भी काव्यसौन्दर्य की सफलता बहुत कुछ निर्भर रहती है। इसलिये महाकवियों ने विविध भावों, रसों और विषयों के वर्णन के लिये विविध प्रकार के छन्द अपनाये हैं। कवि का छन्द पर इतना अधिकार होना चाहिये कि चाहे वह कैसा भी छन्द क्यों न हो, यदि उसे वह उचित स्थान पर स्थित कर दे तो वह अयोग्य वृत्त भी सुयोग्य जान पड़ने लगे और उद्देश्यपूर्ति में सहायक भी सिद्ध हो। वाल्मीकि और व्यासादि कवियों ने इसी प्रकार साधारण-साधारण छन्दों को लेकर उन्हें ऐसा चित्ताकर्षक बना दिया कि उनके उद्देश्य की उनसे पूर्ति हो गई। प्रारब्ध-पूरण की सिद्धि इसीलिये वे कर सके। कविशासन के कारण ही छन्दों की सफल योजना होती है। कवेः श्रुतस्य शासनात्— छन्दोपयोगिता प्रौढ शासन वाले कवि के शासन से ही उत्कर्षजनक होती है।

कालिदास आदि महाकवियों को इसीलिये अपने काव्यों में उचित छन्दोयोजना का ध्यान रखना पड़ा होगा। उन्होंने जहाँ भी जिस छन्द को वर्णन का माध्यम बनाया, वहाँ उसमें चमत्कार उत्पन्न कर दिया। इसीलिये तो महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में काव्यविश्लेशक आचार्य ने यहाँ तक कह दिया :

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना॥

अर्थात् कालिदास की मन्दाक्रान्ता (छन्द) कालिदास के वशीभूत है, और मन्द एवं त्वरित क्रान्ति से उसी भाँति अपनी गति दिखाया करती है, जिस प्रकार प्रथम श्रेणी के घुड़सवार (अश्वारोही) के वश में आई हुई काबुली घोड़ी उसके इशारे पर अपनी चाल चला करती है। इस तथ्य में कवि की और अश्वारोही की शासनशक्ति से उद्भूत छन्द और तुरगाङ्गना की सुवश्यता पर जो प्रकाश डाला गया है, उससे सुविदित हो जाता है कि वृत्तयोजना पर कवि का पूर्ण अधिकार होना चाहिये।

परिमलपद्मगुप्त ने भी छन्दोयोजना पर पूर्ण ध्यान रखा। उसका छन्द पर पूर्ण अधिकार भी था। यद्यपि उसे वाल्मीकि एवं व्यासादि महाकवियों जैसा प्रारब्धपूर्ण यश न मिल सका, और न कालिदास की भाँति उसके लिए ऐसी कोई प्रशस्ति ही कही गई, तथापि यह कहा जा सकता है कि परिमलपद्मगुप्त का भी छन्दोयोजना पर पूरा ध्यान था और उसने भी छन्दोयोजना में पूर्ण सफलता प्राप्त की। इसकी पुष्टि क्षेमेन्द्र के कथन से हो जाती है। क्षेमेन्द्र ने वृत्तविवेचन के अवसर पर लिखा है :

आकारेऽपि कृते पूर्णे बन्धेऽल्पपदपेशले।
यस ततिलकः धत्ते निर्ग्रन्थि रमणीयताम् ॥

जिस में आकार की सुघटितता हो और उसका बन्ध में ऐसा सन्निवेश किया गया हो, जिस से उसमें अल्पपद हो, पर सुमधुर हो और जो निर्ग्रन्थि अर्थात् दीर्घ समासाश्रय से मुक्त हो ऐसी वसन्ततिलका (छन्द) अत्यन्त रमणीय लगती है। यह वसन्ततिलका की विशेषता क्षेमेन्द्र ने बताई है, और उदाहरण में कहा है—यथा परिमलपद्मगुप्तस्य "अच्छासु हंस" इत्यादि।

वसन्ततिलका की विशेषता को प्रदर्शित करने के लिये क्षेमेन्द्र ने पद्मगुप्त के ही छन्द को लिया। इससे विदित होता है कि पद्मगुप्त की छन्दोयोजना क्षेमेन्द्र को प्रिय एवं निर्दोष जान पड़ी, तभी तो उसने कालिदासादि कवियों की वसन्ततिलका को न लेकर पद्मगुप्त की वसन्ततिलका को उदाहरण रूप में दिया, और देखा जाय तो बात उचित ही जान पड़ती है। पद्मगुप्त ने वसन्ततिलका का प्रयोग उचित रूप से किया है।

आन्तासि कौतुकहृतेन मदयितासि प्रश्नैरनेन विहितो न मनोपचार
आतिथ्यमेष कुरुते परमद्रुलेखासवाहनैश्चतुरो निचुलानिलस्ते ॥
(६ ४।६७)

इस छन्द में स्वयं ही पदपेशलता और निर्ग्रन्थता देखी जाती है। आठवें सर्ग के अन्त में भी इसी छन्द की योजना की गई है। दसवें सर्ग के उपान्त में

भूम किमर्थं कथयन्न कालमल्पम् अश्रान्तपत्रनयने नयने निमील्य।
हेमाम्बुजं तरुणि वत्तरसाऽपहृत्य देवद्विपोऽयमहमागत इत्यवेहि ॥
(१०।६६)

इसमें ऐसी योजना छन्द में की गई है, जिसमें मृदु और अक्षमरता के कारण वास्तविक रमणीयता प्रतीत होती है, और मावौचित्य की सृष्टि में हुई है। निराशा और आश्वासन का भाव किस भांति छन्द की उपयोगिता से प्रकट हो जाता है, यह सहृदय स्वयं देख लें। ११ वें तथा १३–१८ सर्ग में भी इसी प्रकार वसन्ततिलका का सौन्दर्य देखने को मिलता है। वसन्ततिलका की इसी रमणीयता पर मुग्ध होकर क्षेमेन्द्र ने उक्त बात लिखी होगी।

इसके अतिरिक्त और छन्दों के विषय में भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त के सभी छन्दों में औचित्य का पूर्ण समावेश है।

सुवर्णाद्रिप्रबन्धेषु यथास्थाननिवेशिनाम्।
रत्नानामिव वृत्तानां भवत्यभ्यधिका रुचिः ॥

इस श्लोक पर विचार करते समय यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि जो कवि वृत्त (छन्द) का निवेश यथास्थान करते हैं, उनके वृत्तों में वही उपयोगिता मनोहारिता एवं आकर्षकता आ जाती है, जो उपयोगी और महार्घ रत्नों में होती है, प्रबन्ध काव्य के लिये यह भी महत्त्व की बात होती है कि ऐसे काव्य का निर्माण करनेवाले कवि को सुन्दर सन्निवेश वाली वृत्तयोजना को अपनाना चाहिये। पद्मगुप्त ने छन्दों का यथास्थान निवेश किया है, और प्रतिभादारिद्र्य व्यक्त न हो, इसलिये विविध छन्दों की योजना भी की है। कवि ने मालिनी, उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, रथोद्धता, उद्गता, पुष्पिताग्रा, शिखरणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, प्रहर्षिणी आदि विविध छन्दों का प्रयोग अपने महाकाव्य नवसाहसाङ्कचरित में किया है। अष्टम सर्ग में रथोद्धता की उपयोगिता का उचित सन्निवेश और सौन्दर्य देखिये :

लज्जया वलितकण्ठकन्दलं लोचनाञ्चलमिलद्वतंसकम्।
तस्य वर्तितमिवाभवत्तदा तत् प्रियावदनमुन्नसं हृदि ॥
(८।२२)

लज्जा के भाव में मुख मोड़ना आदि की चेष्टा का द्योतन उसी प्रकार दृष्टिगोचर हो रहा है, जैसे इस छन्द की गति। वस्तुतः यहाँ पर रथोद्धता ही प्रयुक्त होने योग्य है। उसकी गति में लज्जाजन्य चेष्टा विवर्तित होती दिखाई देती है। इस प्रसंग में सिन्धुराज की भी उन चेष्टाओं का वर्णन है, जो उसने शशिप्रभा की प्राप्ति के लिये की हैं। उसके लिये उसे यत्र तत्र गमन भी करना पड़ा और नाना आश्चर्य उसके सामने आये। इन लघु या वृहत् घटनाओं में जो कुछ भाव व्यक्त होना था या जो वर्णन की रोचकता लानी थी, वह रथोद्धता के द्वारा समुचित रूप में लाई जा सकी है।

रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु—यह बात भी पद्मगुप्त की छन्दोयोजना में घटित हो जाती है। यथा—ग्लानिमाप स तया विना नृपः।

प्रस्थितस्तदनु सोऽयमं पुरः सोऽथ साहसवतां पुरःसरः।
निर्मितं मणिमयूखपल्लवैर्बालमातपमिव व्यलोकयत् ॥ (८।६०)

इसमें भी साहस की उद्गत एवं संयमित भावना का दर्शन छन्दोयोजना की विशेषता के कारण ही होता है।

वाह्य चित्रण की विशदता के लिये इस कवि ने उपजाति और वंशस्थ का विशेष उपयोग किया है। किन्तु जहाँ संकोच और विस्तार की भावना को व्यक्त करना हुआ, वहाँ पुष्पिताग्रा को भी विशेष रूप से ग्रहण किया है। हंस की गति का वर्णन करने में इस छन्द का उपयोग करके अन्त में वसन्ततिलका

से उसे और भी प्रभावोत्पादक बना दिया है। यह पद्मगुप्त की विशेषता ही है। वह छन्दों के सुसन्निवेश में अतिदक्ष है।

> शृंगारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम्।
> वसन्तादितदङ्गञ्च सच्छायमुपजातिभि ॥

कवि को इसका भी ध्यान रखना पड़ता है, और पद्मगुप्त के काव्य में हम इस बात को पूर्णत पाते हैं। ऋतुवर्णन में उसने उपजाति छन्द को ही लिया है। भारवी ने उद्गता का प्रयोग किरातार्जुनीयम् में अर्जुन की तपस्या के प्रसंग में किया है। उसने अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके उसे वहाँ उचित रूप में रख दिया, पर पद्मगुप्त ने उसी छन्द का सुन्दर सन्निवेश जलक्रीड़ा के प्रसंग में किया है, और अपने छन्दसुघरता के बल पर उसको सफल भी बना दिया। विषयगत उपयोगिता के कारण पद्मगुप्त की छन्दोयोजना उत्तम कोटि की है।

इसके अतिरिक्त यह भी मान्य शास्त्रीय पक्ष है कि यदि किसी सर्ग का अन्त वसन्ततिलका अथवा मालिनी अथवा पुष्पिताग्रा से किया जाता है, तो यह कवि की छन्दोयोजना-चातुरी की विशिष्टता ही होती है।

महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में इसका यथावत् पालन किया गया है। परिमल पद्मगुप्त के काव्य में भी यही बात है। प्रथम और चतुर्थ सर्ग का अन्त वसन्ततिलका से हुआ है। पचम सर्ग का अन्त मालिनी से हुआ है। षष्ठ सर्ग का प्रहर्षिणी से और आठवें सर्ग का अन्त भी वसन्ततिलका से किया गया है। नवम सर्ग का अन्त पुष्पिताग्रा से हुआ है। अन्य कवियों की भाँति ही पद्मगुप्त ने इस परिपाटी को अपनाया है।

पद्मगुप्त का वृत्तवैचित्र्य उसकी प्रतिभासम्पन्नता को द्योतित करता है। उसके छन्दों के उपनिवेश के कारण ही रत्नानामिव वृत्तानाम् भवत्यभ्यधिका रुचि की बात उसके प्रति चरितार्थ हो जाती है।

अन्त में हम यह कहेंगे कि जिस प्रकार कालिदास की मन्दाक्रान्ता की *विशेषता संस्कृत साहित्य में अपना स्थान रखती है, उसी भाँति* पद्मगुप्त की वसन्ततिलका और पुष्पिताग्रा का भी स्थान साहित्य में छन्दोयोजना की दृष्टि से उत्तम कोटि का है। इसीलिये पद्मगुप्त के लिये कहा जा सकता है

> वसन्ततिलका वाणी पुष्पिताग्रा सुगुम्फिता।
> काव्ये परिमलापूर्णा पद्मगुप्तस्य शोभते ॥

उपसंहार

परिमल पद्मगुप्त और नवसाहसाङ्कचरित के सम्बन्ध में इस प्रस्तावना में जो कुछ भी विचार व्यक्त किये गये हैं, उन सब के निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त का व्यक्तित्व जिस रूप में उपस्थित हुआ है, वह कविप्रतिभा का सुन्दरतम निदर्शन है।

पद्मगुप्त ने नवसाहसांकचरित लिखकर संस्कृतसाहित्य को एक अमूल्य देन दी है। नवसाहसांकचरित की सौन्दर्य और शृंगारप्रियता को आदर्शोन्मुख बनाकर पद्मगुप्त ने परम पुरुषार्थ काम की सफलता को जनता के सामने रखा। गीता के "कामोऽस्मि सर्वेषाम्" के व्यापक रूप और व्यापक प्रभाव को नवसाहसांकचरित पूर्ण रूप से चरितार्थ कर देता है। इसके मूल में जीवन की सार्थकता का पुट है। उसी सार्थकता को पदमगुप्त ने व्यावहारिक रूप देकर स्पृहणीय बना दिया है।

इतना महाकाव्य लिखने पर भी पद्मगुप्त अपने विषय में मौन ही रहा। यह भी उसकी संस्कृतसाहित्य के सर्वसाधारण कवियों की ही भाँति निःस्पृह भाव की ही स्थिति रही है।



कथासार

जब प्रशस्त अन्तःकरण की पूत भावनायें व्यापक होने लगती हैं, तब किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए उनको एक साथ सीमित वातावरण में अपने तक ही रखना कठिन हो जाता है। उद्दाम पावसनदी की भांति जब भावनाओं का प्रवाह बह निकलता है, तब उसमें क्षुद्र नदियों की भाँति कई लघु भावनाएँ भी मिलकर एकाकार होकर उसे वेगवती बना देती हैं। यहीं से भावनाएँ एक धारारूप में बद्ध होकर मनोहारिणी होती हुई अनेक अन्तःकरणों की उदात्त वृत्ति की उद्‌बोधिका हो जाती हैं।

साहित्य की सृष्टि इन्हीं उदात्त, प्रशस्त और मंगलमयी भावना की आधार भूमि पर होती है, तभी विचारशील सहृदय कुछ लिखने के लिए भी प्रस्तुत हो जाते हैं। उनकी ये भावनाएँ लिपिबद्ध रूप में आकर अधिक प्रभावोत्पादिका हो जाती हैं, और तब वे यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान और मंगलमय प्रयत्नों की प्रसूतिका अनायास ही हो जाती हैं। इन वस्तुओं के अतिरिक्त कविकृति का सबसे भारी ध्येय इन (आनन्द)तरंगों में मानव को आत्मविस्मृति करा देना होता है। यही सफल कवि की कृति का उद्देश्यजन्य प्रभाव होता है। इसलिए आज हम देखते हैं कि यह सूक्ति उन्हीं यशस्वी व्यक्तियों पर चरितार्थ सी जान पड़ती है

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धा कवीश्वरा।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

यही जीवन की सार्थकता भी है। आज कालिदास, भवभूति, बाण, दण्डी, माघ, भारवि आदि सरस्वती के वरदपुत्र इसीलिए स्तुत्य हैं, इसीलिए उनकी कीर्ति गेय है, क्योंकि उन्होंने मानव के अन्तःकरण की उदात्त भावनाओं को जाग्रत करने के लिए, उसे मंगलमय पथ दिखाने के लिये, उसके मान सोल्लास के लिये अपनी वह अमर सुधास्यन्दिनी वाणी दी है, जिसका श्रवण, मनन एवं अध्ययन करके हम अपने को धन्य समझते हैं।

इस सन्दर्भ में हम परिमलपद्मगुप्त को भी भूल नहीं सकते। परिमल पद्मगुप्त ने अपने समय में जिस प्रकार की साधना में लगकर हमें नवसाहसाङ्क चरित जैसा महाकाव्य दिया, वह सदैव स्मरणीय रहेगी। यहां पर हम उस कथा से पाठकों को परिचित करा देना चाहते हैं, जो पद्मगुप्त ने नव-साहसाङ्कचरित में निबद्ध की है।

नवसाहसाङ्कचरित की कथावस्तु का सार

उज्जयिनी में वाक्पतिराजदेव नाम के महीपति महाकवि हुए हैं। उन्हीं के छोटे भाई सिन्धुराज नवसाहसाङ्क बड़े वीर, साहसी, काव्यकला-मर्मज्ञ, विद्वत्प्रेमी और आनन्दी राजा थे, जो समस्त कार्यभार का संचालन यशोभट उपनामक मंत्री रमांगद की सहायता से करते थे। रमांगद भी अति विचक्षण बुद्धि का कार्यकुशल व्यक्ति था।

एक दिन सिन्धुराज की इच्छा आखेट करने की हुई। रमाङ्गद को साथ लेकर वह विन्ध्याचल की वनभूमि में शिकार खेलने गया। इधर-उधर भ्रमण करते हुए उसने एक इन्द्रधनुषी आकृति के विचित्र मृग को देखा, जिसके गले पर सोने की शृंखला बंधी थी। राजा का चित्त उस मृग की ओर आकृष्ट हुआ। वह मृग के पीछे चला। मृग उसे घनघोर, बीहड़ वन के बीच ले गया। राजा ने उस पर अपना नामांकित शर चलाया। मृग बाण से विद्ध होकर भागा। राजा उसे ढूँढ़ते नर्मदा के किनारे की ओर बढ़ने लगा। इसी बीच एक और आश्चर्यजनक घटना घटी। एक राजहंस विचित्र मोतियों का हार लेकर सामने आता हुआ दिखाई दिया। वह चोंच मे हार को बाये राजा की ओर आया। राजा उस हार को ग्रहण करने के लिये चला। बहुत दूर तक घने जंगल में मार्गाक्रमण करने से राजा, रमांगद और हंस—तीनों ही थक गये। पुनः हंसएक स्वच्छ सररोवर के पास उस हार को छोड़कर पानी में कूद पड़ा। राजा ने हार को उठा लिया। पास में ही अशोक वृक्ष के नीचे पल्लवों का आसन रमांगद ने लगा दिया और राजा उस पर लेटकर हार की सुन्दरता को देख कर मुग्ध होने लगा। फिर हारमध्यमणि पर सुन्नर लिपि में "नागराजकया शशिप्रभा" लिखा हुआ देखा। उसको पढ़ते ही राजा शशिप्रभा के बारे में सोचने लगा और कामासक्त हो गया। रमांगद ने राजा को बहुत कुछ समझाया, पर राजा का मन शान्त न हो सका।

उधर शशिप्रभा का मृग घायल होकर उसके पास पहुँचा। शशिप्रभा ने अपने हाथ से उस बाण को निकाला। उसने बाण को ध्या से देखा तो उस पर "सिन्धुराजनवसाहसांक" लिखा था। वह भी राजा के नाम को पढ़कर राजा से मिलने के लिए उत्सुक हो गई, क्योंकि वह भी पातलोक में उसकी महिमा को सुन चुकी थी। दोनों ओर दोनों की विचित्र दशा थी।

जब राजा को रमांगद समझा रहा था, उसी समय दूर से एक सुन्दरी स्त्री हाथ में चॅंवर लेकर आती हुई दिखाई दी। राजा और रमांगद उसको इस विजन वन में एकाकिनी घूमती हुई देखकर आश्चर्य कने लगे। जब

वह पास पहुँच गई, तब उसने अपना परिचय राजा से कराया। फिर रमागद ने उसके साथ राजा का परिचय कराया। उसने अपने निर्जन वन में घूमने का कारण यह बताया कि हमारी राजकुमारी पाताललोक से धरती पर घूमने आई थी। वह नर्मदा के तट पर जब कुछ विश्राम करने लगी तो एक हंस मृणालतन्तु के धोखे में उसके हार को लेकर न जाने कहाँ चला गया। उसी को ढूँढने के लिए हम लोग इधर-उधर भटक रहे हैं। मैं नागराजपुत्री की चवरधारिणी पाटला हूँ। यदि आप लोगों ने उस हंस को कहीं देखा हो तो कृपया बता दीजिए।

कुछ देर बाद वह बोली—"हे राजन्! आपकी धरती पर आकर हम लोग इस भाँति एक पक्षी के द्वारा लुट जायँ और आप उसका कोई भी प्रतिकार न करें, यह कैसा न्याय है!" राजा ने कहा—"सुन्दरि! हम तुम्हारे हार को ढूँढने की चेष्टा करेंगे, तब तक तुम मेरे इस हार को अपनी राजकुमारी को दे दो।" पाटला ने राजा के हाथ में बाणों को देखकर यह अनुमान किया कि मृग को भी इसी तरह का बाण लगा है, तो इसी राजा ने उस पर बाण चलाया होगा। फिर पाटला बोली, "हे नृप! आपका बाण हमारे मृग के शरीर पर लगा है। आप चाहें तो चलकर अपना बाण ले लें। नर्मदा के तट पर हमारी सखी बैठी हुई आपके नामाक्षरों को पढ़कर व्याकुल सी हो रही है। यदि कष्ट न हो तो मेरे साथ आप वहाँ तक चलें।"

रमागद की सलाह लेकर राजा वहाँ चलने के लिए प्रस्तुत हो गया। आगे-आगे पाटला चल रही थी और उसके पीछे थे राजा और रमागद। वहाँ पहुँचने पर पाटला ने राजा से राजकुमारी का परिचय कराया। दोनों एक दूसरे को देखकर मुग्ध हो गये। पास की एक शिला पर शशिप्रभा के मनोविनोद के लिए उसकी सखी अनगवती ने राजा का चित्र बना रखा था। वह एक बार महाकालेश्वर की पूजा के लिए उज्जयिनी आई थी और उसने नृपति को देख रखा था। शशिप्रभा ने उस चित्र को अपने हाथ के कमल से ढँक दिया। राजा ने उससे कहा कि यह कौन पुण्यात्मा है या तुम्हारी किस प्रिय सहेली का यह चित्र है, जिसे तुम इतना छिपाकर रखना चाहती हो। इस बात को सुनकर उसकी सहेलियाँ भी मजाक करने लगीं। वहाँ पर उस समय एक आनन्दमय वातावरण उपस्थित हो गया था। सहसा आकाश में काले मेघ छा गये। चारों ओर से आँधी चलने लगी। मेघगर्जना सुनकर शशिप्रभा भयभीत होने लगी। राजा ने कहा—'नागराजकन्ये! डरो मत, मेरे पास चली आओ।' वह जैसे ही राजा के

पास आने लगी कि एकाएक आकाशवाणी सुनाई दी—"राजन्! व्यर्थ की मृगतृष्णा न करो, तुम शशिप्रभा को नहीं पा सकते हो, हे शशिप्रभे! तुम वापस लौटकर अपने पिता के पास चली जाओ।" आकाशवाणी को सुनते ही शशिप्रभा आकाश की ओर उड़ती हुई दिखाई दी। पर वह राजा के प्रति आसक्त होने के कारण दुखी थी। शशिप्रभा के अदृश्य हो जाने पर राजा अत्यन्त दुखी हुआ। आकाशवाणी गूँजती हुई पुनः राजा को सुनाई दी कि "जो इसकी प्राप्ति के लिए साहस करेगा, उसी को यह मिल सकेगी। देखो, यह तुम्हारे सामने से ही विलीन हो रही है, तुम जो कुछ कर सकते हो करो।" कुछ समय पश्चात् सारा वातावरण शान्त हो गया, मेघमाला नष्ट हो गयी। वायु अपनी गति पर चलने लगी। नर्मदा भी यथावत् शान्त रूप से बहने लगी। राजा को अपने बल तथा पुरुषार्थ पर लज्जा आने लगी कि मेरे देखते-देखते ही वह लुप्त हो गई और मैं कुछ भी न कर सका!

इसके पश्चात् सारसों की ध्वनि में मानो रेवा की वाणी राजा को सुनाई दी कि "नृप! दुःख मत करो, तुम्हारी प्रिया इसी रास्ते से गई है, यह उसके पदचिह्न बने हैं, यहाँ पर एक बड़ा भारी बिल है, उसी मार्ग से वह रसातल चली गई है। राजा धनुष-बाण सजाकर रुक्मांगद के साथ नर्मदा के तीर पर आया और नर्मदा के जल में कूद पड़ा। रुक्मांगद भी उसी के साथ नदी में कूद गया। नर्मदा ने राजा को धन्यवाद दिया और उस बिल को उसे दिखा दिया, जिसमें से होकर शशिप्रभा गई थी। राजा और रुक्मांगद उस बिल में प्रविष्ट हो गये। उस अन्धकारपूर्ण बिल में राजा ने एक भयानक सिंह को देखा। सिंह राजा की ओर झपटा। राजा ने उस पर बाण छोड़ा। फिर वहाँ राजा ने एक कुन्द के पेड़ को देखा। इसके बाद जब कुछ और आगे बढ़ा तो एक भयानक मदोन्मत्त हाथी उसे रास्ते में मिला। राजा ने जब उसे मारने के लिए बाण उठाया तो वह अदृश्य हो गया।

राजा अपने साहस से इन भयानक दृश्यों का सामना करके उन पर विजय पाता गया। इसी भाँति नदी को पार कर वह अन्धकारपूर्ण बिलमार्ग से नागराज की राजधानी भोगवती नगरी में पहुँचा। उस नगर की शोभा भी अनिर्वचनीय ही थी। उसके भवन इन्द्रनील मणियों से सजे थे, स्फटिक-शिला के आँगन बने थे। स्वर्ण के द्वारों से वह सुशोभित थी। सभी भवनों के कपाट स्वर्णमण्डित थे। आश्चर्य के साथ उस नगरी को देखता हुआ राजा सिंहद्वार को पार कर अन्दर गया। उसने देखा कि वहाँ के भवनों के गवाक्ष मूँगों से जड़े हैं, उनकी लालिमा को देखकर प्रतीत होता था, मानो संध्या यहीं वास किया करती है। एक स्थान पर

पद्मराग मणियों से बने हुए चबूतरे के बीचोंबीच स्वर्णकान्ति की माधवी लता लगी हुई थी। अपनी थकान को मिटाने के लिए जब सिन्धुराज उस लता के समीप जाने लगा, तब उसने बिल के गर्भ से निकलने वाली श्री की भाँति स्वर्ण गृह से निकलती हुई एक स्त्री को देखा। वह अद्भुत कान्ति से विराजित थी। नीले कपड़ों को पहन कर वह जमुना नदी की भाँति दिखाई दे रही थी। उसका मुख चन्द्रकान्ति को भी जीतने वाला था। वह एक हाथ में अक्षत, दधि, दूर्वा आदि सामग्री से पूर्ण पात्र लिए थी और दूसरे हाथ में स्वर्ण कमल लिए थी। पास में ही आम्र की शाखा पर लटकते हुए पिंजरे में एक तोता था। उसने देखा कि राजा इस स्त्री को देखकर विस्मित सा हो रहा है, तब उसने मनुज वाणी में यों कहा, "हे नृपते ! यह नर्मदा है, तुम्हारे अतिथि सत्कार के लिए आ रही है। आप जैसे लोग सभी के पूज्य होते हैं। हे नृप, यहाँ की नागवधुयें अपने प्रियों के साथ केलिभवनों में आप के यश को वीणा के स्वरों पर गाया करती हैं। अभी अभी शशिप्रभा अन्यमनस्का सी इसी रास्ते से गई है। उसके मुँह से मैंने भी तुम्हारे यहाँ आगमन की चर्चा सुनी है।" राजा ने तोते की बात ध्यान से सुनी और नर्मदा को प्रणाम किया। नर्मदा ने विधि विधान से राजा का सत्कार किया, और प्रश्न किया कि आपने किस प्रयोजन से [illegible] भूमि को अलङ्कृत किया है। राजा ने मृगया-विहार से लेकर यहाँ आने तक का सारा वृत्तान्त उसे कह सुनाया।

नर्मदा ने राजा से कहा—"ठीक है, यद्यपि आपने शशिप्रभा के कारण ही यहाँ तक की यात्रा की, पर मेरा भी पुण्योदय था, जो आप जैसे अतिथि को मैंने पाया। धन्य हैं वे माता पिता, जिनके आप जैसे साहसी लाल होते हैं। आप शशिप्रभा के प्रति इतने दुःखी न हों, वह त्रिलोक-ललाम-भूता नागराजपुत्री आपको अवश्य मिलेगी। क्योंकि वह भी आपके वियोग में उन्मनी सी बनी हुई है। भला आप जैसों का वियोग किसे दुख न देगा। चिन्ता की बात नहीं, आपको अवश्य सिद्धि मिलेगी।"

राजा ने नर्मदा की प्रशंसा करते हुये उससे कहा—"माता ! मुझे और किसी बात का दुःख नहीं, खेद इस बात का है कि मेरे देखते-देखते शशिप्रभा का हरण हो गया और मैं कुछ भी न कर सका, वह कहाँ गई, ऐसा क्यों हुआ, क्या इस विषय में आप मेरी उत्सुकता को मन्द कर सकेंगी ?"

नर्मदा बोली—"हे नृप ! एक बार शशिप्रभा के पिता ने सुर, सिद्ध, उरग—सबके समक्ष यह प्रतिज्ञा की थी कि जो वज्रांकुश राक्षस के लीलागृह की बावड़ी में लगे हुए स्वर्णकमल को लाकर मेरी पुत्री के कान का आभूषण बनायेगा, वही इसका पति होगा। यह सुनकर सब स्तब्ध रह गये।

मन्दोन्मत्त वन्यगज के कुम्भस्थल को विदीर्ण करने के समान इस कठिन कार्य को कौन करता ? आप इस काय को पूर्ण करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। आप इस कार्य की सिद्धि के लिए प्रस्थान करें। यहां से कुछ दूर पर रत्नपुरी नगरी है, जिसे मयदानव ने इन्द्रपुरी के समान ही बनाया है। वही वज्रांकुश की राजधानी है। वह राक्षस देव, उरग, मानुष सभी को व्याकुल एवं पीड़ित किए हुए है। आप भी देवांश हैं, अतः रावण-विनाश के लिए राम जैसे आप भी इसके विनाश के लिए समर्थ होंगे, और उसके यहां से स्वर्णकमल लाकर अवश्य शशिप्रभा का कर्णाभूषण बना कर उसे प्राप्त करेंगे। रास्ते में वंकुमुनि का आश्रम पड़ेगा, उनको प्रणाम कीजिएगा। वे आपकी कार्यसिद्धि के साधक होंगे।" ऐसा कहकर नर्मदा ने अपने हाथ से एक कंकण निकालकर राजा को दिया। राजा ने उसे अपने हाथ में पहना और नर्मदा अन्तर्धान हो गई। उसके चले जाने पर राजा ने अपने मंत्री रमांगद से नर्मदा ने जो कुछ कहा, उसके विषय में पूछा कि तुम क्या कहते हो ? रमांगद ने वज्रांकुश पर विजय प्राप्त करने का प्रस्ताव रखकर राजा को प्रोत्साहित किया और कहा कि आप अवश्य जयी होंगे, अब विलम्ब न कर शीघ्र अभियान कर देना चाहिए। जब आप इस कार्य के लिए प्रस्तुत हो जाएंगे तो फिर नागसेना, देवसेना और गन्धर्वसेना भी वज्रांकुश के विरोध में आपकी सहायिका हो जायेंगी।

राजा ने रमांगद की बात मान ली। उसने वज्रांकुश की राजधानी की ओर रमांगद के साथ चलने का निश्चय किया। इतने में वह पिंजरे में बन्द तोता राजा से बोला—"श्रीमन् ! मैं शंखचूड़ के वंश से उत्पन्न होनेवाला रत्नचूड़ नाम का नाग हूँ। कण्वमुनि के शाप से मैं तोता बन गया हूँ। मुनि ने कहा था कि जब नवसाहसाङ्क शशिप्रभा के पास जायेगा और तुम उसका संदेश राजकुमारी को सुनाओगे, तब अपने वास्तविक रूप में आ जाओगे। अतः अब से आपके कारण मैं शापमुक्त हो जाऊंगा। आप संकोच न करें। शशिप्रभा को जो सन्देश कहना हो, कहिये, मैं उसे शशिप्रभा तक पहुँचाऊंगा।" राजा ने उसके कथनानुकूल शशिप्रभा को सन्देश भेजा। उसने अपनी मानसिक दशा का पूर्ण चित्रण किया। तोता रत्नचूड़ उस सन्देश को लेकर शशिप्रभा के पास पहुँच गया और राजा वज्रांकुश की राजधानी की ओर चल पड़ा।

शत्रुजयार्थ प्रस्थान करने पर वह वंकुमुनि के आश्रम पहुँचा। आश्रम के सौन्दर्य से राजा को बड़ा आनन्द मिला। वहाँ महातपस्वी सिद्ध वंकुमुनि को राजा ने प्रणाम किया। मुनि ने राजा से उसका सारा वृत्तान्त पूछा। रमांगद ने राजा का परिचय देकर शशिप्रभा का वृत्तान्त भी कह सुनाया।

फिर मुनि ने कहा, "धन्य है तुम्हारा साहस। शीघ्र ही शशिप्रभा तुम्हारी रानी बनेगी, तुम चिन्ता न करो। कुछ दिन यहाँ आश्रम में रह कर आराम कर लो, बाद में चले जाना।" राजा ने कहा, "प्रभो! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है" और राजा कुछ दिन वहीं रुक गया।

एक दिन स्वप्न में राजा ने शशिप्रभा को देखा। उस स्वप्न ने राजा को धैर्यहीन कर दिया। शशिप्रभा से मिलनोत्सुकता ने उसे व्याकुल कर दिया। वह शशिप्रभामिलन की कल्पना में मग्न था, इसी बीच उसकी दक्षिण भुजा विशेष रूप से फड़कने लगी। वह विचारमग्न ही था कि इतने में उसे वसुमुनि आये दिखाई पड़े। समीप आने पर मुनि ने राजा से प्रश्न किया—"आपकी थकान दूर हो गई?" राजा ने उत्तर दिया—महाराज, आपके चरण के रज कणों के स्पर्श से ही मेरी थकान दूर हो गई थी। चन्द्र-किरणों का स्पर्श पाने पर भला कुमुदिनी कभी कान्तिहीन हो सकती है! महाराज! मैं आपके दर्शन से ही अपने को धन्य समझता हूँ।"

इतनी बातें हो ही रही थीं कि राजा ने सहसा आश्रम के एक दाडिम वृक्ष पर फल ग्रहण करते हुए एक कपि को देखा। वह कपि उस दाडिम वृक्ष को त्याग कर शीघ्र ही राजा और मुनि के मध्य में आकर खड़ा हो गया। उस बन्दर ने राजा को एक अनार दिया। राजा को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो सीतान्वेषण का सहायक यह हनुमान ही आया है, और उसे भेंट अर्पित कर रहा है। राजा बार-बार उस फल को देख रहा था, उसकी लालिमा को देख कर उसे शशिप्रभा के अधरों का स्मरण हो आया। राजा का हाथ कम्पायमान हुआ और वह फल धरती पर गिर कर फूट गया। उससे एक लालिमा वहाँ पर फैल गई, मानो शिव के तृतीय नेत्र की ज्वाला फैली हो। राजा ने सहसा नर्मदा के दिये कङ्कण को कपि के हाथ में पहना दिया। कङ्कण पहनते ही वह कपि एक श्यामाकृति का पुरुष बन गया। उसने विस्मित मुनि, राजा और रमाङ्गद को प्रणाम किया। मुनि ने उससे पूछा, "इस आश्चर्य का कारण क्या है? तुम कौन हो? कैसे तुम कपि बने हुए थे?" उसने कहा—"महाराज, मैं शिखण्डकेतु का पुत्र हूँ, मेरा नाम शशिखण्ड है। मेरे पिता विद्याधरराज हैं। मैं शशिकान्त पर्वत का निवासी हूँ। एक बार मैं मणिद्वीप में वहाँ की सर्वसुन्दरी मालती को देखने गया। उसे मैंने देखा और वह मुझ पर आसक्त हो गई। मैं उसे लेकर आकाशमार्ग से चलने लगा। कुछ देर बाद हम समुद्र के ऊपर उड़ने लगे। इतने में मालती का सीमन्त चूड़ामणि गिर पड़ा। मैं उसे पकड़ने की चेष्टा करता रहा, पर वह समुद्र में गिर ही गया। मैं उसकी प्राप्ति के लिए समुद्र में प्रविष्ट

हुआ। मैंने देखा कि उस मणि को हाथ में लेकर एक सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या ममता की मूर्ति जैसी एक आश्रम में जा रही है। मैंने उससे बार-बार अपनी प्रिया का सीमन्त-चूड़ामणि माँगा। बारबार माँगने पर भी जब उसने वह नहीं दिया, तब मैंने उसकी मकराकृति पादुकाएँ हरण कर लीं। उसने हल्ला मचाया कि क्या यह आश्रम निर्जन हो गया, जो कोई भी मेरी सहायता नहीं कर रहा है? इस दुष्ट ने मुझे लूट लिया। ऐसा कह कर वह जोर-जोर से रोने लगी। उसकी क्रंदन-ध्वनि को सुनकर रत्नशिलागृह में एक महातपस्वी मुनि बाहर आया। उस लड़की ने उनसे कहा, "महाराज! आपके आश्रम में इस दुष्ट नीच ने मेरी रत्नजटित पादुकायें छीन ली हैं।" जब तक मैं भी कुछ कहने ही वाला था कि उस मुनि ने भृकुटि चढ़ाकर आँखें लाल कर कहना आरम्भ किया—"दुष्ट, तुझे ज्ञात नहीं कि मेरे आश्रम में बिना मेरी आज्ञा के पवन भी एक तिनका हरण नहीं कर सकता? और तू अबला के आभूषण का अपहरण करना चाहता है? जा, इस महापराध के कारण तू कपि बन जा।" इस प्रकार उसने मुझे शाप दे दिया।

मुनि का क्रोध शान्त हो जाने पर मैंने प्रार्थना की—"भगवन्, मेरी भवितव्यता ही ऐसी थी, पर अब यह बतायें कि मेरे इस शाप का अन्त कब होगा?" उसने कहा, "जब वंकुमुनि के आश्रम में आकर सीयकराजपुत्र सिन्धुराज नर्मदा के दिए हुए कंकण को तेरे हाथ में डालेगा, तब तू शाप से मुक्त हो जायगा। इसी प्रतीक्षा में मैं आपके आश्रम में रहता था। आज इस नृप ने मुझे शापमुक्त कर दिया। महाराज, अब मैं यदि अपने शरीर को देकर भी इस नृपति का प्रत्युपकार कर सकूँगा तो मैं अपने को धन्य समझूँगा। मुझे कोई काम बतायें जिससे मैं इस नृपति से उऋण हो सकूँ।"

राजा ने भी शशिखण्ड से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। विद्याधर-पुत्र भी अपने घर न जाकर राजा के कार्य को सिद्ध करने के लिए सचेष्ट हो गया। उसने कहा, "महाराज, आप वज्रांकुश राक्षस पर आक्रमण करें। विद्याधरों की समस्त सेना आपके साथ होगी। इतना कह कर वह राजा के लिए एक रथ लाया। राजा, रमांगद और शशिखण्ड तीनों वंकुमुनि के निर्देशानुसार वज्रांकुश पर चढ़ाई करने के लिए चल पड़े। आश्रम से चल कर आकाशमार्ग से उनका रथ चलने लगा। उसकी गति को विद्याधर, गन्धर्व, नाग सभी देखने लगे। आकाश-मार्ग से दर्शनीय नाना प्रकार के दृश्यों को देखते हुए वे वज्रांकुश के निवास से थोड़ी ही दूर पर पातालगंगा-तट पर उतरे। वहाँ विद्याधरों द्वारा निर्मित निवासस्थान पर पहुँच कर राजा ने विश्राम किया। गंगा में स्नान कर पथजन्य परिश्रान्ति को दूर किया।

इसी बीच वहाँ पाटला भी आकाशमार्ग से आ गई। द्वार पर उसे रमागद मिला। रमागद के साथ वार्तालाप होने पर वह राजा के पास गई। उसने राजा को प्रणाम करके रमागद को पत्र दिया और संकेत किया कि वे उसे राजा को पढ़कर सुनायें। पुन वह राजा के समीप ही बैठ गई। फिर राजा की कुशल पूछी और कहा कि "आप इस भयानक भूमि में कैसे आ गये। अहो, आप बेचारी शशिप्रभा के लिए कितनी आपत्ति सह रहे हैं।"

राजा ने कहा, "पाटले ! क्या शशिप्रभा कभी हमारा स्मरण भी करती है ? अनंगवती, मालती क्या कहती हैं ? नागलोक में हमारे विषय की कोई चर्चा होती है क्या ? मैंने रत्नचूड़ को अपना सन्देश देकर शशिप्रभा के पास भेजा था, क्या उसे सन्देश मिला ? तुम यहां कैसे आई हो ? तुम कुछ उदास सी दीख रही हो, बताओ तो बात क्या है ?" पाटला ने कहा, "इस पत्र में सब कुछ लिखा है। पहिले आप इसे पढ़ लें। रमांगद ने राजा को पत्र दिया, राजा ने उसे पढ़ना प्रारम्भ किया। उसमें लिखा था—"श्रीमन्, आपका कल्याण हो। मैं माल्यवती अपनी सखी शशिप्रभा के कहने से लिख रही हूँ कि जब से शशिप्रभा आप से वियुक्त हुई है, उसकी दशा चिन्ताजनक है। आपका प्रेम उसके लिए विष हो गया है। वह न विनोद करती है न शयन और न भोजन, हम बहुत समझाती हैं, पर उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी मरणासन्न दशा हो रही है। दीपशिखा की भाँति वह प्रतिपल आपके स्नेह के बल पर जल रही है। अत आप शीघ्र ही हेमपंकज को लेकर आयें और शशिप्रभा के प्राण की रक्षा करें।"

पत्र पढ़ने के पश्चात् राजा ने पाटला से कहा—"पाटला, जो दशा तुम्हारी सखी की है, क्या तुम वही दशा मेरी नहीं देख रही हो ? तुम शीघ्र जाओ और शशिप्रभा को आश्वासन दो कि मैं हेमपंकज लेकर शीघ्र ही आ रहा हूँ, धैर्य धारण करो। यह न हो कि मेरा मनोरथ व्यर्थ जाय। प्राणधारण किये रहना।"

सन्देश पाकर पाटला चली गई।

राजा ने रत्नपुरी के प्रति गमन की इच्छा की। इसी बीच फणिकुमार रत्नचूड़ भी लौटकर वहां आ गया। वह अपनी सेना के सहित राजा के साथ चल पड़ा। विद्याधरों और नागों की सभी सेनायें सिंधुराज के साथ हो गईं।

तब सिंधुराज ने वज्रांकुश के पास रमांगद को दूतरूप में भेजा और सन्देश दिया कि तुम शान्तिपूर्वक हमें स्वर्णकमल दे दो। रमांगद रत्नपुरी पहुँचा। वहां वज्रांकुश से भेंट होने पर उसने रमांगद से पूछा, "आपका यहां कैसे आना हुआ ? आप तो भव्याकृति के व्यक्ति हैं, आपको देखकर

प्रीतिभाव उत्पन्न होता है। मालूम होता है, आप सिन्धुराज के दूत हैं। हमने आपके स्वामी के सेना सहित आगमन का समाचार पा लिया है। आपका स्वामी क्या चाहता है? मैं याचक की प्रार्थना को कभी विफल नहीं करता हूँ, निःसंकोच कहिये, क्या चाहता है आपका स्वामी।"

रमांगद ने कहा, "तुम वास्तव में प्रीति के पात्र हो, जो इस प्रकार स्वागत करना जानते हो। तुम नवसाहसांक के विषय में भी सब कुछ जानते ही होगे। वे फणिराजपुत्री शशिप्रभा से पाणिग्रहण करना चाहते हैं। परन्तु उसका शुल्क तुम्हारी बावड़ी में उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकमल को देना होगा। इसलिए यह अच्छा होगा कि तुम भी उस स्वर्णकमल को देकर नवसाहसांक के मित्र बनो, कमल देकर तुम राजा का आतिथ्य करो। तुमने स्वयं ही कहा है कि मैं अर्थियों को विमुख नहीं जाने देता।"

इतनी बात सुनकर वज्रांकुश कुछ क्रुद्ध हो उठा, और व्यंग्यभरी हँसी हँस-कर बोला, "तुम चतुर होते हुए भी मूर्ख मालूम होते हो। कहाँ तुम धरती के प्राणी और कहाँ शशिप्रभा। ऐसी स्त्रियाँ जो रत्नोपमा हैं, सदा मेरी ही गोद को अलंकृत करती हैं। वह मेरी हो कर रहेगी। उसके योग्य पात्र मैं ही हूँ। मैं इन्द्रादि को भी पराजित करने वाला हूँ। तुम्हारे स्वामी की इस धृष्टता को मैं सहन नहीं कर सकता। तुम्हारा स्वामी विषधर सर्प की मणि को छूने की अनधिकार चेष्टा क्यों कर रहा है? तुम लोग क्या अपने आपको बैठे-बैठे संकट में डालना चाहते हो! जाओ, इस अनधिकार चेष्टा करने से अपने स्वामी को रोको। उसे समझाओ कि वह मौत के मुँह में क्यों जाता है, और यदि उसमें शक्ति है तो वह स्वयं आकर मेरी बावड़ी से स्वर्णकमल ले जाय, वह मेरी तलवार का अतिथि तो बने।"

रमांगद ने उत्तर में कहा—"मालूम होता है तुम्हारे आखिरी दिन भी समीप ही आ गये हैं। तुम नवसाहसांक को केवल मनुष्य समझते हो, यह तुम्हारी मूर्खता है। वह भगवान विष्णु का अंश है। यदि तुम हेम-कमल न दोगे तो समझ लो, तुमने अपनी आपत्तियों के लिए द्वार खोल दिया। हम चाहते हैं, तुम्हारी रत्नपुरी में शोक-साम्राज्य न छा जाय। यदि नहीं मानते तो रण के निमित्त प्रस्तुत रहो। तुम्हारे शिरश्छेद के साथ ही हमारे स्वामी स्वर्णकमल भी स्वयं ही ग्रहण कर लेंगे।" इतना कह कर रमांगद वापस आ गया। जब रमांगद ने आकर राजा को सब बात सुनाई तो राजा की भृकुटि तन गई। उसने आक्रमण कर दिया। विद्याधर और नागराज सेना ने चारों ओर से रत्नपुरी को घेर लिया।

इसके पश्चात् वज्रांकुश की सेना के साथ विद्याधर और नागसेना का

भयंकर युद्ध हुआ। राम-रावण के युद्ध के समान ही यह युद्ध भी आश्चर्य का था। दोनों शक्तियाँ पूर्ण बल के साथ लड़ रही थीं। रणस्थल ने रक्तवाहिनी का रूप धारण कर लिया। रुण्ड-मुण्ड से समरांगण पट गया।

रमांगद राजा की रक्षा में लगा था। राजा प्रदृ काल सा लड़ रहा था। वज्रांकुश ने राजा पर रथचक्र का आघात किया। रमांगद ने उसे रोक लिया। अन्त में भयानक युद्ध के पश्चात् राजा ने वज्रांकुश का सिर काट लिया, स्वर्ग में पुष्पवृष्टि होने लगी, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं।

पुन राजा ने रत्नवती पुरी में प्रविष्ट होकर वहाँ रत्नचूड का अभिषेक कर उसे वहाँ का राजा बना दिया। वज्रांकुश की बावडी से स्वर्णकमल लेकर उत्सुकता के साथ वह नागपुरी भोगवती की ओर चल पड़ा। यह समाचार नागपुरी में पहुँचा और शशिप्रभा के पिता ने राजा के स्वागत की तैयारी की। राजा जब वहाँ आया तो नागराज ने उन्हें अर्घ्य दिया और अपने साथ पुरप्रवेश कराया। उस समय रमांगद, विद्याधरपति शशिखण्ड, नागपुत्र रत्नचूड़ और अन्य प्रमुख सैनिक भी राजा के साथ थे। नागपुरी की स्त्रियाँ इस कौतूहल को अपने-अपने गवाक्षों से देखने लगीं। राजा के रूप को देखकर सब मुग्ध हो गईं, और दर्पण में अपनी अपनी सूरतें देखने लगीं कि हम इसके योग्य हैं कि नहीं।

जब राजा नागराजगृह में आया, तब बन्दियों ने उसका यशोगान करना प्रारम्भ कर दिया। राजा की अद्भुत शक्ति का प्रभाव देख कर सब उसे श्रद्धा से देखने लगे और नागराज भी कह रहा था कि धन्य है यह नृपति, इसने वज्रांकुश जैसे असुर को मार कर हमारी प्रतिज्ञा पूर्ण की। अब यह स्वर्णकमल शीघ्र ही शशिप्रभा को पहना कर उसे राजा के अधीन कर दिया जाय।

इस उपलक्ष्य में पहले राजा को हाटकेश्वर महादेव का दर्शन कराया गया। राजा ने हाटकेश्वर की पूजा की। पुन वह लौटकर राजगृह में आया। समस्त पुरवासियों ने राजा का स्वागत किया।

प्रथम ही निर्मित मण्डप के नीचे विद्याधरपुत्र और रमांगद को आसन देकर एक फणिकुमार ने बैठा दिया। पुन राजा भी वहाँ आकर स्वर्णासन पर बैठ गया। फिर वहाँ की युवतियाँ मगलगीत गाने लगीं। राजा की दृष्टि सहसा उसी मृग पर जा पड़ी, जो उसने विन्ध्याचल में देखा था। और उसी के साथ आती हुई शशिप्रभा पर भी रमांगद और राजा की दृष्टि एक ही साथ पड़ी। वह अत्यन्त सुन्दर वेशभूषा धारण किये हुए थी। सखियाँ उसके साथ में थीं और वह लजाती हुई धीरे धीरे चली आ रही थी। सहसा नायक ने नायिका को और नायिका ने नायक को देखा।

उस समय उनकी गति अनिर्वचनीय थी। शशिप्रभा की सहेली माल्यवती ने राजा से कहा—"श्रीमन्, अब विलम्ब क्यों कर रहे हैं? अपने भुजबल से उपार्जित इस स्वर्णकमल से इसके कान को अलंकृत करें, और नागराज की प्रतिज्ञा को पूरा करें।" राजा ने जैसे ही उसके कर्ण को अलंकृत करने के लिए हाथ बढ़ाया, वैसे ही वह इन्द्रधनुषी आकृति वाला मृग मृगरूप को त्यागकर पुरुष रूप में परिणत हो गया। राजा को आश्चर्य हुआ। नृपति ने उससे पूछा—"तुम कौन हो? तुम कैसे मृग हो गये थे?" वह सतृष्ण नेत्र से राजा को देखकर बोला—"मैं हर्षदेव नृपति का प्रतिहार था। एक बार कैलास पर्वत से आया हुआ मुनि कण्व राजदरबार में प्रविष्ट होना चाहता था। मैंने उसे रोका। उसने क्रोध में आकर मुझे शाप दे दिया कि जा, तू मृगयोनि में विचरण कर और जब नवसाहसाङ्क फणिराजपुत्री शशिप्रभा के कान में स्वर्णकमल पहनायेगा, तब तेरे शापकी मुक्ति होगी", इतना कह कर वह पुरुष राजा के ऊपर पुष्प चढ़ाकर आकाशमार्ग से चला गया और कह गया कि मैं सर्वत्र तुम्हारे यश का विस्तार करूँगा।

इसके पश्चात् नागपुरी में नागराज के घर पर विवाह-मंगलविधि पूर्ण की गई। पुत्री को समर्पित करते हुए नागराज ने नृपति से कहा—"आपको क्या दिया जाय! आपके योग्य हमारे यहाँ कोई भी वस्तु नहीं है। यहाँ की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति यह एक स्फटिकनिर्मित शिवलिङ्ग है। यह अर्धनारीश्वर के आकार का है। इसके दर्शन करने पर देखने वाला साक्षात् शिव को इसी में देख लेता है।" इतना कहकर उसने राजा को शिवलिंग दिया और राजा ने उसे अपने यश के रूप में ग्रहण किया। राजा के स्वागत में वहाँ नाना प्रकार की वाद्यध्वनि की गई और पूर्ण रूप से उसका स्वागत किया गया।

विवाहोत्सव की समाप्ति पर कुछ दिन वहाँ रह कर राजा अपनी राजधानी धारानगरी जाने के लिए उत्सुक हो गया। वहाँ से विदा होकर जब सिन्धुराज अपनी नगरी में आया तो पुरवासियों ने महोत्सव मनाया। लाजा और पुष्पाञ्जलियों की वर्षा की गई। जिस प्रकार राम लक्ष्मण और सीता के साथ अयोध्या आये थे, राजा भी रमाङ्गद और शशिप्रभा के साथ वैसे ही घर आए। घर आकर वे महाकालेश्वर का दर्शन करने गये। पुनः राजकुल में प्रविष्ट हुए। उज्जयिनी में कुछ दिन व्यतीत करके पुनः वे धारा नगरी गये। राजा के वहाँ जाने पर धारा नगरी मानो प्राणवती सी हो गई।

वहाँ की शोभा वर्णनातीत हो गई। वहाँ राजा ने फिर नागराज के दिये हुए शिवलिंग की प्रतिष्ठा की। उत्सव के अन्त में अपने साथ आए

हुए अतिथियों का हृदय से स्वागत करके उनको आलिंगन करके राजा ने शशिखण्ड और रत्नचूड़ दोनों को विदा किया। वे लोग अपने अपने देशों को गये।

कुछ दिन बाद शशिप्रभा की सखियाँ भी उसे प्रबोध देकर अपने-अपने घरों को विदा हुईं। कुछ दिन बाद फिर राजा ने राज्यभार ग्रहण किया। इस प्रकार त्रिभुवनराज शशिप्रभा और राज्यलक्ष्मी को पाकर आनन्द से रमांगद की सहायता से राज्यशासन करने लगा।

प्रमाण ग्रंथ

प्रस्तावना लिखने के कार्य में अनेक ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। उन ग्रन्थों के लेखकों का मैं आभारी हूँ। जिन ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, उनकी सूची नीचे दे दी गयी है।

१. काव्यप्रकाश
२. ध्वन्यालोक
३. साहित्यदर्पण
४. संस्कृत साहित्य का इतिहास : श्री पं० बलदेव उपाध्याय
५. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : श्री पं० चन्द्रशेखर शास्त्री
६. हिस्ट्री आफ क्लासिकल लिटरेचर : श्री कृष्णमाचारी
७. सरस्वतीकंठाभरण
८. मुद्राराक्षस की आलोचना
९. शकुन्तला नाटक
१०. किरातार्जुनीय
११. शिशुपालवध
१२. मेघदूत
१३. राजा भोज : श्री वि० ना० रेव
१४. हिन्दू राज्यतंत्र १. २ : जायसवाल
१५. हिन्दू राज्यतंत्र : लक्ष्मीधर वाजपेयी



भूमिका-सूची

—×—

ग्रन्थ-सूची

—×—

मङ्गल-नवपदी

पद्मगुप्त कवि ! अमर ! अमर है दिव्य तुम्हारी वाणी ।
सहृदय जन मन मुग्ध कर रही जो मुदप्रदा कल्याणी ॥

(२)

सिन्धुराज नवसाहसाङ्क को, तुमने अमर बनाया ।
नहीं आज तक कुटिल काल ने जिसके यश को खाया ॥

(३)

देख तुम्हारी सुधोपमाकृति, भाव हृदय में आया ।
हिन्दी प्रेमी पढ़े इसलिये यह अनुवाद बनाया ॥

(४)

गुरुवर श्री अय्यरजी ने यह मुझको मार्ग दिखाया ।
उनकी ही आज्ञा से मैंने आगे पैर बढ़ाया ॥

(५)

पढ़ें सभी इस भव्य ग्रन्थ को काव्यामृत रस पायें ।
परिमल पद्मगुप्त की वाणी का मन से गुण गायें ॥

(६)

जिन गुरु-चरणों की अनुकम्पा से बल मुझमें आवा ।
उन चरणों पर भक्ति भाव से हूँ मैं सीस नवाता ॥

(७)

सिंह सदृश 'सत्यव्रत' पालक गुरु पथ-दर्शक पाये ।
बैठ उन्हीं के चरणों में कुछ भाव नवीन सजाये ॥

(८)

गुरु श्री सत्यव्रत सिंह जी का मिला सहारा भारी ।
तभी काव्य के भाषान्तर का हुआ सफल अधिकारी ॥

(९)

उनके ही चरणों पर ये मृदु श्रद्धा सुमन चढ़ेंगे ।
होगा सफल यत्न मेरा, यदि पाठक इसे पढ़ेंगे ॥



* विराजता सा जननी सरस्वती *

परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतिः—

नवसाहसाङ्कचरितम् ।

अव्यात् स वो यस्य निसर्गवक्रः स्पृशत्यधिज्यस्मरचापलीलाम् ।
जटापिनद्धोरगराजरत्नमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दुः ॥ १ ॥

शिव (देवाधिदेव) के शिर पर स्थित वह स्वभावत टेढ़ा चन्द्रमा पाठक एवं श्रोता की रक्षा करे जिसके दोनों छोर शिवशिर स्थित सर्प की मणिकिरणों का स्पर्श पा रहे हैं और जो कामदेव के धनुष के समान है ॥ १ ॥

जटाहिरत्नद्युतिपाटलोऽव्यात् स व शशी शङ्करमौलिरत्नम् ।
श्रुतानशोकाङ्कुरकौतुकेन य कर्तुमिच्छत्यचलेन्द्रकन्या ॥ २ ॥

शिवशिर का आभूषण बना वह चन्द्रमा श्रोता एवं पाठकों की रक्षा करे, जो शिव की जटाओं में स्थित सर्पराज की मणिकान्ति से लाल वर्ण का बना हुआ है, और जिसे अशोक का अंकुर समझ कर पार्वती अपना कर्णाभरण बनाना चाहती हैं ॥ २ ॥

कुम्भस्थली रक्षतु वो विकीर्णसिन्दूररेणुर्द्विरदाननस्य ।
प्रशान्तये विघ्नतमश्छटानां निष्ठ्यूतबालातपपल्लवेव ॥ ३ ॥

गजानन गणेश के गण्डस्थल आपकी रक्षा करें, जिन पर सिन्दूर सुशोभित हो रहा है। मानो वह विघ्नरूपी तमस्तोम का नाश करने के लिये बालसूर्य की भाँति चमक रहा है ॥ ३ ॥

चक्षुस्तदुन्मेषि सदा मुखे वः सारस्वतं शाश्वतमाविरस्तु ।
पश्यन्ति येनावहिताः कवीन्द्रास्त्रिविष्टपाभ्यन्तरवर्ति वस्तु ॥ ४ ॥

जिससे समाहित चित्तवाले कवि लोग तीनों लोकों में स्थित वस्तु को देखने में समर्थ होते हैं, वह शाश्वत देदीप्यमान (सारस्वत चक्षु) प्रतिभा आप (सामाजिकों) की वाणी से आविर्भूत होती रहे ॥ ४ ॥

प्राचीनकविवर्णनम् ।

तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति ।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥ ५ ॥

प्राचीन कवियों का वर्णन ।

(अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति श्रद्धाञ्जलि) तत्त्ववेदी उन भर्तृमेण्ठ आदि कवियों की जय हो (वे सर्वोपरि रहें) जिनकी कविता उस वैदर्भी मार्ग पर चलती रही, जिस पर चलना खड्ग पर चलने के समान है ॥ ५ ॥

पूर्णेन्दुबिम्बादपि सुन्दराणि तेषामपूरे (मदूरे) पुरतो यशांसि ।
ये भर्तृमेण्ठादिकवीन्द्रसूक्तिव्यक्तोपदिष्टेन पथा प्रयान्ति ॥ ६ ॥

जो कवि लोग भर्तृमेण्ठ आदि कवियों के काव्यपथ पर चलते हैं, उन्हीं का पूर्णचन्द्र से भी अधिक सुन्दर यश सर्वत्र फैलता है ॥ ६ ॥

सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम् ।
यस्य प्रसादाद्वयमप्यनन्यकवीन्द्रचीर्णे पथि संचरामः ॥ ७ ॥

सरस्वतीरूपी कल्पलता के कन्दभूत उस वाक्पतिराजदेव को मैं (पद्मगुप्त) प्रणाम करता हूँ, जिसकी कृपा से मैं भी कवियों के प्रशस्त एवं सर्वश्रेष्ठ मार्ग पर चल रहा हूँ ॥ ७ ॥

दिवं यियासुर्मम वाचि मुद्रामदत्त यो वाक्पतिराजदेवः ।
तस्यानुजन्मा कविबान्धवस्य भिनत्ति तां सम्प्रति सिन्धुराजः ॥८॥

(अ) जिस वाक्पतिराजदेव के मर जाने पर मेरी वाणी मुद्रित (मौन) हो गई थी, आज उस मौन वाणी को उनका लघु भ्राता कवियों का बन्धु, सिन्धुराज काव्य-निर्माण के लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ८ ॥

कवेः शालीनतादि ।

नैते कवीन्द्राः कति काव्यबन्धे तदेष राजा किमहं नियुक्तः ।
किं वालुकापर्वतके धरेयम् आरोप्यते सत्सु कुलाचलेषु ॥ ९ ॥

कवि का विनय-प्रदर्शन ।

क्या काव्य निर्माण के लिए मुझसे अच्छे और कवि नहीं थे जो सिन्धुराज ने मुझे ही नवसाहसाङ्कचरित - निर्माण के लिए नियुक्त किया । भला

(अ) तंजौर से मिली नवसाहसांक चरित की एक हस्तलिखित पुस्तक से इस कवि का दूसरा नाम कालीदास होना पाया जाता है। यद्यपि इस कवि ने अपने आश्रयदाता मुञ्ज के मरने पर कविता करना छोड़ दिया था, तथापि अन्त में मुञ्ज के छोटे भ्राता (भोज के पिता) सिन्धुराज के कहने से नवसाहसांक-चरित नामक १८ सर्गों के काव्य की रचना इसने की (इस श्लोक में यही घटना लिखी है) राजा भोज ३ पृ० (वि० नाथ रेउ)

अनेक शक्तिशाली कुलाचलों (पर्वतों) पर स्थिर रहने वाली यह पृथ्वी बालू के पत्तन पर टिक सकेगी ? (अर्थात् मैं नगण्य व्यक्ति भला इस काम को पूर्ण कर सकूँगा ?) ॥ ९ ॥

> अहो महत्साहसमेतदेव यद्वर्णनीयो नवसाहसाङ्कः ।
> दूरं परिच्छेदकथा हि सत्यं एतद्गुणानामुदधेरपां च ॥ १० ॥

नवसाहसाङ्क के चरित का वर्णन करना बड़े साहस का काम है। वास्तव में यह उतना ही कठिन कार्य है, जितना समुद्र के जलकणों का परिच्छेद करना ॥ १० ॥

> भक्त्याथ वाऽस्यैव मम प्रबन्धे सूक्ष्मोऽयमुन्मीलति शक्तिलेशः ।
> उल्लङ्घितो यत् कपिना पयोधिः सेवानुभावः स रघूद्वहस्य ॥ ११ ॥

इस प्रबन्ध काव्य के निर्माण में मेरी कवि प्रतिभा का जो कुछ भी सूक्ष्मांश उन्मीलित हुआ है वह इन्हीं (सिन्धुराज) की कृपा का अथवा भक्ति का फल है। क्योंकि (बड़ों के आशीर्वाद से ही कार्य सिद्ध होते हैं) हनुमान् के समुद्र पार करने में रामचन्द्र की सेवा का ही प्रभाव था ॥ ११ ॥

> मसृणस्य चेतसि दुर्जनानां न जातुचित् सूक्तिगुणो गुणाय ।
> निसर्गदुर्गेन्द्रवधूकपोले निरर्थकं कुङ्कुमपत्रभङ्गः ॥ १२ ॥

स्वभाव से ही कृष्णवर्ण की इन्द्रवधू (श्यामाङ्गना) के कपोलों पर जिस भाँति कुङ्कुम से चित्र बनाना व्यर्थ है उसी भाँति द्वेष से युक्त दुर्जनों के चित्त में काव्य गुण भी निरर्थक हो जाता है ॥ १२ ॥

> किमन्यदस्याश्चरितैर्नृपस्य मुक्तावदातं कृतमण्डनाया ।
> मद्वाचसूक्तेर्मुकुरीभवन्तु स्वभावशुद्धानि सतां मनांसि ॥ १३ ॥

और क्या कहें, मोतियों की भाँति इस राजा के उज्ज्वल चरित्रों से अलङ्कृत मेरी यह वाणी, स्वभाव से ही निर्मल सज्जनों के मन में दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होती रहे ॥ १३ ॥

> नमोऽस्तु साहित्यरसाय तस्मै निषिक्तमन्तः पृषताऽपि यस्य ।
> सुवर्णतां वक्त्रमुपैति साधोर्दुर्वर्णतां याति च दुर्जनस्य ॥ १४ ॥

उस साहित्य रस को मैं नमस्कार करता हूँ, जिसका एक कण भी अन्तःकरण का छूकर (अन्तःकरण में व्याप्त होकर) सहृदयों के मुख को सुवर्णता (भावपूर्ण अक्षर) प्रदान करता है और दुर्जन के मुख को विवर्ण (खिन्न) किंवा मलिन बना देता है ॥ १४ ॥

श्रीसाहसाङ्कोज्ज्वलकीर्तिगर्भा ममाथ वा कं न हरन्ति वाचः ।
कस्यात्र लोभाय न शुक्तयस्ता मुक्ता हि यासामुदरे स्फुरन्ति ॥ १५ ॥

श्रीसाहसांक की उज्ज्वल कीर्ति से मण्डित मेरी वाणी भला किसके मन को न मुग्ध कर देगी, जिन सीपियों के गर्भ में मोती रहते हैं उन्हें देखकर किसका मन नहीं ललच उठता ? ॥ १५ ॥

प्रतिज्ञा ।

एतान्यवन्तीश्वरपारिजातजातानि तारापतिपाण्डुराणि ।
सम्प्रत्यहं पश्यत दिग्वधूनां यशःप्रसूनान्यवतंसयामि ॥ १६ ॥

प्रतिज्ञा ।

अब मैं अवन्तिनाथरूपी पारिजात से उत्पन्न, चन्द्र के समान उज्ज्वल यशरूप पुष्पों की माला बनाकर सबके सामने ही दिग्वधुओं का कर्णाभरण बनाना चाहता हूं । (अर्थात् अपने काव्यग्रन्थद्वारा उनका यश सर्वत्र फैलाना चाहता हूं) ॥ १६ ॥

अथ उज्जयिनीवर्णनम् ।

अस्ति क्षिताबुज्जयिनीति नाम्ना पुरी विहायस्यमरावतीव ।
बबन्ध यस्यां पदमिन्द्रकल्पः श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः ॥ १७ ॥

नवसाहसांक की राजधानी उज्जयिनी का वर्णन ।

स्वर्ग में अमरावती की भाँति इस धरती पर उज्जयिनी नाम की नगरी थी, और इन्द्र के ही समान विक्रमादित्य नाम का (नवसाहसांक) राजा वहाँ राज्य करता था ॥ १७ ॥

आमञ्जुगुञ्जत्कलहंसपंक्तिविकस्वराम्भोजरजःपिशङ्गा ।
आभाति यस्याः परिखा नितम्बे सशब्दजाम्बूनदमेखलेव ॥ १८ ॥

यही थी वह उज्जयिनी जिसके परिखा (खाई) रूपी नितम्ब भाग पर स्थित विकसित कमलों के पराग से पीली बनी हुई और गुञ्जार करती हुई कलहंसों की पंक्ति ऐसी प्रतीत होती थी मानो शब्द करने वाली सोने की करधनी हो ॥ १८ ॥

प्राकारवप्रच्छलतः शरीरम् आवर्त्य लीलाशयनं मुरारेः ।
यत्रान्तरस्थायिनिधानरक्षां विधातुमुन्मग्न इवोरगेन्द्रः ॥ १९ ॥

जिसके बड़े-बड़े प्राकार (परकोटे) ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो विष्णु का लीलाशयन शेषनाग अपने शरीर को कुण्डलाकार करके स्थित हो गया हो, और समुद्र के रत्नों की रक्षा की भाँति यहाँ भी वह सजग होकर उज्जयिनी की सम्पत्ति की रक्षा कर रहा हो ॥ १९ ॥

पदे पदे मान्द्रसुधोज्ज्वलानि गृहाणि या नाकसदां बिभर्त्ति ।
अभ्युद्गतानान् फणीन्द्रलोकम् आपूर्य तद्भूमिभृतां यशांसि ॥२०॥

जिसमें जरा जरा दूर पर सुधा के समान श्वेत भवन हैं, जिनके कारण वह देवताओं की पुरी सी लग रही है। जिसके भवन पाताल लोक में अपने नृपतियों का यश फैला कर अब मानो स्वर्ग की ओर (यशप्रचार के हेतु) चढ़ रहे हैं ॥ २० ॥

हिमच्छटाहारिभिरंशुजालैः प्रालम्बिमुक्ताफलजालकानि ।
विलासिनीविभ्रममन्दिराणि यस्या हसन्तीव परस्परश्रीः ॥ २१ ॥

जिसमें तुषार के समान धवल मणिकिरण कान्ति से परिपूर्ण, एवं बड़ी बड़ी लटकती हुई मोतियों की मालाओं से भरे हुए विलासिनियों के केलि (रात्रिक्रीडा) भवन ऐसे जान पड़ते हैं, मानो एक दूसरे की शोभा देखकर आपस में हँस रहे हों ॥ २१ ॥

गृहाणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गाः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥ २२ ॥

जिस उज्जयिनी में गृह सुन्दर स्त्रियों से पूर्ण हैं, वराङ्गनाएँ रूपवती हैं, रूप हाव भाव का प्रकट करने वाला है, और हाव भाव साक्षात् काम के अस्त्र हैं ॥ २२ ॥

यत्राननैरेणदृशामभिख्या मिताश्मवातायनपङ्क्तिरेति ।
अम्भोरुहैरुज्ज्वलहेमरत्नैर्गगनाङ्गगङ्गाजलवेणिरेव ॥ २३ ॥

जहाँ संगमरमर के झरोखों की पंक्ति मृगलोचनाओं के मुखों से ऐसी सुन्दर जान पड़ती है मानो स्वर्णकमलों से सुशोभित आकाशगंगा की वेणी हो ॥ २३ ॥

विधूयमाना पवनेन यस्यां नीलाश्मवेश्मारुणवैजयन्त्यः ।
भिन्नाञ्जनश्यामघनोद्गतानां तडिल्लतानां द्युतिमावहन्ति ॥ २४ ॥

इन्द्रनीलकान्त मणियों से बने हुए भवनों पर लगी हुई गेरुए रंग की ध्वजाएँ जब वायुवेग से प्रचलित होती हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो कृष्णवर्ण के मेघों में बिजली चमकती हुई दिखाई दे रही हो ॥ २४ ॥

उदेति कान्तामणिमेखलानां गृहेगृहे यत्र गुरुर्निनादः ।
आयाति योऽनङ्गजयद्विपस्य मदावतारोत्थडिण्डिमत्वम् ॥२५॥

जहाँ प्रत्येक घर की वरनारियों की मणिमेखला का मधुर ध्वनि ऐसी प्रतीत होती है, मानो कामदेव रूपी विजयी गज के (गमन की) प्रथम

मदावतार उत्सव की मधुर घोषणा की जा रही हो (मणिमेखला की ध्वनि के श्रवण मात्र से ही कामोद्दीपन होने लगता है) ॥ २५ ॥

मुखेन्दुभिः पौरविलासिनीनां कपोलकान्त्या कृतसंविभागः ।
न याति कार्श्यं बहुलोऽपि यत्र वातायनासन्नचरः शशाङ्कः ॥ २६ ॥

जहा पौरवधुओं के मुखचन्द्र की कान्ति द्वारा सौन्दर्य युक्त चन्द्रमा जब भवनो की खिडकियों के समीप विचरण करता है तो कृष्ण पक्ष में भी वह क्षीण नहीं होता (अर्थात् मुखचन्द्र की कान्ति पाकर वह षोडश-कला-पूर्ण हो जाता है ।) ॥ २६ ॥

न पक्षपातेन वदामि सत्यमुपस्सु यस्यां भवनाङ्गणेभ्यः ।
सम्मार्जनीभिः परतः क्रियन्ते विसूत्रितैकावलिमौक्तिकानि ॥ २७ ॥

मैं बिना किसी पक्षपात के सत्य कहता हूं कि जहा प्रत्येक घर के आगनों से, रात्रि मे स्त्रियों द्वारा पहनी हुई मोतियो की मालाओं मे (रति-रण मे) टूटे हुए मोती प्रातःकाल झाड़ू लगाकर बटोरे जाते है ॥ २७ ॥

यस्यामसंक्षिप्तदृशां स्तनाङ्के कस्तूरिकापत्रलता चकास्ति ।
शरासनाभ्यासविधौ समाप्ते मुक्तेव गोधा मकरध्वजेन ॥ २८ ॥

जहा की दीर्घलोचना नारियोंके कुचाग्रभाग पर कस्तूरी की पत्ररचना शोभा पाती रहती है, जिसे देखकर ऐसा विचार उठता है कि मानो कामदेव ने धनुर्विद्या का अभ्यास करने के पश्चात् (अधिकाधिक कटाक्षपात के पश्चात्) अपना अंगुलित्राण (गोधा) यहा पर रख छोड़ा हो ॥ २८ ॥

विलासिनीसद्मलसत्पताकापटाञ्चले काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
निरन्तरैर्या रणितैरजस्रमाज्ञामिवोद्घोषयति स्मरस्य ॥ २९ ॥

जहा विलासिनी नारियोंके भवनों पर शोभा पाने वाली ध्वजाओं के पटाञ्चल पर लगी हुई छोटी छोटी घण्टिकाओं से जो ध्वनि निरन्तर होती रहती है, वह ऐसी प्रतीत होती है मानो कामदेव की रतिरंग आज्ञा घोषित की जा रही हो ॥ २९ ॥

प्रतिक्षणं या गलितांशुकानामनङ्गलीलाकलहोत्सवेषु ।
अनल्पकृष्णागरुधूमभङ्ग्या वामभ्रुवामर्पयतीव वासः ॥ ३० ॥

जो प्रतिक्षण रतिक्रीड़ा महोत्सव मे (आनन्द के कारण) अस्त व्यस्त वस्त्र वाली वामलोचनाओं को कृष्ण-अगुरु धूप के धुयें के रूप में झीना वस्त्र अर्पण कर दिया करती है ॥ ३० ॥

यत्राष्टमीचन्द्रमुपेयिवासमालम्ब्य सौधेग्वसमग्रकान्तिम्।
केशाहृतै केतकगर्भपत्रैरापूरयन्त्यर्धमरालकेश्य ॥ ३१ ॥

यही वह उज्जयिनी है जहा के सुआलम प्रासादों पर घुँघराले बालोंवाली रमणियाँ समीप आए हुए अधूरी कान्ति वाले अष्टमी के चन्द्र को पकडकर अपने केशों पर सजाए गये केवडे के बीच की कोमल पखुडियों से परिपूर्ण कर दिया करती हैं ॥ ३१ ॥

लीलाकटाक्षे मदिरेक्षणाना सम्मोहनास्त्रस्फुरित निवेश्य।
रत्या सह क्रीडति पुष्पधन्वा यस्यामशोकद्रुमवाथिकासु ॥ ३२ ॥

जहा कामदेव मदिरेक्षणाओं के कटाक्षों में तो अपने मोहनास्त्र की शक्ति को रख देता है और अशोक वीथिकाओं म रति के साथ विहार करता रहता है ॥ ३२ ॥

जाने जगन्मोहनकौतुकेन विधाय कूजामिषमन्यपुष्टै ।
अहर्निश चूतवनेषु यस्यामधीयते मान्मथमस्त्रतन्त्रम् ॥ ३३ ॥

मानो जहा आम्रकुंजों म कोकिलायें भी ससार के वशीकरण के कौतूहल से कलकूजन के बहाने काम की बाणविद्या का निरन्तर अध्ययन करती रहती हैं ॥ ३३ ।

दिक्चक्रसचारिमरीचिदण्डच्छलेन चामीकरतोरणानाम्।
अर्जैमि दिक्पालपुरीर्विजित्य या हेमवत्रग्रहणे नियुङ्क्ते ॥ ३४ ॥

स्वर्णरचित तोरणों (द्वारों) के सर्वत्र सचरण करने वाले मरीचिदण्ड (किरण समुदाय) के बहाने जो नगरी अमरावती आदि नगरियों को जीत कर उन्हें अपनी प्रतीहारी के रूप म निरन्तर दण्ड ग्रहण करने के काम में नियुक्त करती रहती है ॥ ३४ ॥

वल्लाभिषु स्वर्णगवाक्षपङ्क्तेर्या रश्मिदण्डेषु विघूर्णमानै ।
भान्त्यग्रवेदिस्फटिकांशुजालैर्दोधूयमानोज्ज्वलचामरेव ॥ ३५ ॥

जो स्वर्णनिर्मित वातायनपक्तियों के, ऊपर उठ रहे किरणदण्डों के चारों ओर घूमते हुए स्फटिकनिर्मित अग्रवेदिकाओं (गवाक्षों) के किरणजालों से ऐसी जान पडती है मानो उस पर चवर डुलाए जा रहे हो ॥ ३५ ॥

यस्यां गृहप्राङ्गणपद्मरागरश्मिच्छटापाटलमन्तरिक्षम्।
आलिङ्गित किंशुकशोणभासा सन्ध्यातपेनेव सदा विभाति ॥ ३६ ॥

जहाँ के गृह आगनों म जडे पद्मराग मणियों की कान्ति से पाटलवर्ण का हुआ अतरीक्ष सदा किंशुक (ढाक) के समान रक्तवर्ण वाली सन्ध्या-कालीन धूप से आलिंगित-सा शोभित होता रहता है ॥ ३६ ॥

अवाप्य यस्यां गृहदीर्घिकाच्छवैदूर्यसोपानमयूखसख्यम् ।
हारीतशङ्कां कलहंसशावा वामभ्रुवां प्रत्यहमर्पयन्ति ॥ ३७ ॥

जहाँ दीर्घिकाओं (बावड़ियों) की वैदूर्य रचित सीढ़ियों की किरणों का सम्पर्क पाकर कलहंस के बच्चे प्रतिदिन नारियों को अपने प्रति हारिल पक्षी का भ्रम उत्पन्न कराते रहते हैं ॥ ३७ ॥

निकाममच्छैः प्रमदाकपोलैर्यत्रेन्दुबिम्बाकृतिभिः क्रियन्ते ।
स्ववक्त्रसौन्दर्यविलोकनेषु विलासिनो दर्पणनिर्व्यपेक्षाः ॥ ३८ ॥

जहाँ की नारियाँ ऐसी हैं, जिनके चन्द्रबिम्ब समान कपोलफलक विलासियों को अपने मुखसौन्दर्य के देखने के लिये दर्पण की आवश्यकता को दूर कर देते हैं (अर्थात स्त्रियों के कपोलों पर ही उनके मुखों) का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है) ॥ ३८ ॥

पराङ्मुखीनामपि रत्नभित्तौ प्रसादवत्तद्वदनं विलोक्य ।
यस्यां युवानो हरिणेक्षणानामलीककोपं सहसा विदन्ति ॥ ३९ ॥

जहाँ बनावटी क्रोध कर प्रिय की ओर पीठ करके खड़ी हुई स्त्रियों के प्रसन्न मुख का प्रतिबिम्ब जब गृह की रत्नभित्तियों (दीवालों) पर पड़ता है तो युवक उन मृगलोचनाओं के बनावटी क्रोध को शीघ्र भाँप लेते हैं ॥ ३९ ॥

कुर्वन्ति यस्यां कुसुमेषुकेलिश्रमोत्थितस्वेदजवास्तरुण्यः ।
कपोलकालागरुपत्रवल्लीकल्माषमम्भो गृहदीर्घिकासु ॥ ४० ॥

जहाँ की रमणियाँ काम-क्रीड़ा से परिश्रान्त होकर स्वेद से सने, कालागुरु विभूषित अपने कपोलों को जब गृह-बावड़ियों में जाकर धोती हैं, तो उन बावड़ियों के पानी को भी गँदला बना देती हैं ॥ ४० ॥

यस्यां समुन्मीलति सुन्दरीणां सा कापि सौभाग्यविशेषलक्ष्मीः ।
विलासमुक्तागुणवद्यदासां सदा प्रियास्तिष्ठन्ति कण्ठलग्नाः ॥ ४१ ॥

जहाँ की स्त्रियों में एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य शोभा होती है। इसलिये विलास के समय कण्ठ में लग्न मुक्तामाला की भाँति उनके प्रिय सदैव उनके गले का हार ही बने रहते हैं ॥ ४१ ॥

अर्थेमि गीतेन हृते कुरङ्गे पुरन्ध्रिभिः सौधतलस्थिताभिः ।
श्यामासु यस्यां लभते तदच्छकपोलबिम्बानुकृतिं मृगाङ्कः ॥ ४२ ॥

जहाँ रात्रि में छतों पर बैठी स्त्रियों के गीत सुनने के लिये जब चन्द्रमा की गोद से मृग हट जाता है, मैं समझता हूँ, चन्द्रमा उन रमणियों के स्वच्छ कपोलों की समता तभी प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥

दुर्गेति सर्वत्र गता प्रसिद्धिं नगेन्द्रकन्येव मनोज्ञरूपा ।
या लग्नकाञ्चीविषयेण कान्तिं सिंहासनेनातितरां बिभर्ति ॥ ४३ ॥

जो (उज्जयिनी) सर्वत्र इस रूप में प्रसिद्ध है कि यह दुर्गा (पार्वती) है क्योंकि जैसे पार्वती भगवान शिव से संयुक्त रहती है वैसे ही यह भी महाकालेश्वर के मन्दिर से संयुक्त है और जैसे दुर्गा अपनी लटकती हुई करधनी से विभूषित अपने आसन (वाहन) सिंह से अधिक शोभा पाती है वैसे ही यह भी उज्ज्वल की हुई करधनी से सजे राजसिंहासन द्वारा अत्यधिक सुशोभित होती है ॥ ४३ ॥

धूताङ्गपार्श्वैर्मरुता विकीर्णैः सुगन्धिभिर्मारुतकम्प्रसूनैः ।
शिप्रासरित् कूलतमालमाला विभाति यस्याः कचपाललीव ॥ ४४ ॥

जहाँ की शिप्रा नदी किनारे पर लगे तमालों से (प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण) काली काली दिखाई देती हुई, फूलों से च्युत सुगन्ध युक्त वायु द्वारा इधर उधर फैलाए हुए लटकते बालों के रूप में भरी, ऐसा प्रतीत होता है, मानो उज्जयिनी की पुष्पाच्छन्न वेणी हो ॥ ४४ ॥

धूमेन या नैकमखोद्गतेन सरोषमाणा परितश्चकास्ति ।
महोत्तरत्नेति समत्सरेण कृतोपरोधेव महार्णवेन ॥ ४५ ॥

अनेक यज्ञों से उठने वाले धुएँ से चारों ओर से घिरी हुई वह ऐसी दिखाई देती है, मानो समुद्र ने ईर्ष्यालु हो कर इसे घेर लिया हो इसलिये कि इसने मेरे रत्नों को चुरा लिया है ॥ ४५ ॥

विलङ्घयन्ति श्रुतिवर्त्म यस्यां लीलावतीनां नयनोत्पलानि ।
बिभर्ति यस्यामपि वक्रिमाणम् एको महाकालजटार्धचन्द्रः ॥ ४६ ॥

जहाँ की विलासिनी स्त्रियों के नेत्रकमल श्रुतिमार्ग (कर्णमार्ग, वेदपथ) का भी उल्लंघन करते हैं वहाँ वक्रता (टेढ़ापन) कहीं देखने को मिलता है तो केवल महाकालेश्वर के जटाजूट में स्थित अर्धचन्द्र में ही दिखाई देती है ॥४६॥

ध्वजाग्रलग्नेन विलम्बता समं अनेकरत्नांशुकलापकेन ।
यस्यां स चण्डीपतिमण्डपोऽपि बिभर्ति मायूरमिवातपत्रम् ॥ ४७ ॥

जहाँ का चण्डीपति (शिव) मण्डप ऐसा लगता है, मानो अपने ध्वज के अग्रभाग में लगे हुए, नाना रंग के रत्नों के आकाश में फैलने वाले किरणकलाप से मोरपंखों का छत्र धारण कर रहा हो ॥ ४७ ॥

पुरा किल ब्रह्मकमण्डलोर्यत् आपूरितं पुण्यतमाभिरद्भिः ।
धत्तेऽत्र या तत् त्रिपुरान्तकस्य तडागमादर्शमिवाङ्गदश ॥ ४८ ॥

जो कि अपने अङ्कदेश (गोद) के मध्य भाग में दर्पण की भाँति स्वच्छ शिवतड़ाग को धारण कर रही है, जिसका जल पहले कभी ब्रह्मा के कमण्डलु के पावनतम जलकणों द्वारा भर दिया गया था ॥ ४८ ॥

यस्यामनेकामरवेश्मराजिर्मणिध्वजाग्रोच्छलितैर्मयूखैः ।
लिखत्यमर्त्यप्रमदाकुचेषु विचित्रवर्णा इव पत्रलेखाः ॥ ४९ ॥

जहाँ के देवमन्दिरों की अनेकानेक पंक्तियाँ अपनी रत्नध्वजाओं के अग्रभाग से निकलनेवाली किरणों के द्वारा स्वर्ग की अप्सराओं के कुचमण्डलों पर रंग-बिरंगी पत्र रचना सी करती हुई दिखाई देती हैं ॥ ४९ ॥

यस्यां विसूत्रोज्झितमेखलानि तथा शुकावर्तितसीत्कृतानि ।
शंसन्ति सङ्केतमुपस्सु यूनां शिप्रातटोद्यानलतागृहाणि ॥ ५० ॥

जहाँ शिप्रा के तटवर्ती उद्यानों के वे निकुञ्ज जिनमें मणिमेखलाएं रति-क्रीडा-प्रसंग पर टूटकर इधर उधर पड़ी रहती हैं, और जिनमें शुक नारियों के रति-सीत्कार का अनुकरण सा कर रहे हैं, मानो प्रातःकाल प्रेमी युवकों के मिलन स्थान का परिचय देते हैं ॥ ५० ॥

मनोहरैः कामिजनस्य यस्यां नारन्ध्रनिर्यन्मृगनाभिगन्धैः ।
सचन्दनैः काञ्चनकेलिशैलैः कुचैरिवोद्यानभुवो विभान्ति ॥ ५१ ॥

जहाँ चन्दन के वृक्षों वाले कस्तूरी की गन्ध से भरे काञ्चन केलिशैलों से सुशोभित उद्यान-भूमियाँ इस भाँति प्रतीत होती हैं, मानो कामियों के मन को मुग्ध करनेवाले, निरन्तर निकलते हुए कस्तूरी-सौरभ से भरे और चन्दन से युक्त स्तनों को धारण कर रही हों ॥ ५१ ॥

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु ।
यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति शिप्रा ॥ ५२ ॥

जहाँ शिप्रा, जब कि उसमें स्नान करने वाली पुरनारियाँ मत्स्यों का सम्पर्क पाकर ससम्भ्रम किनारों पर भाग आया करती हैं, तब अपने निकलते हुए फेन के बहाने अट्टहास सी करती प्रतीत होती है ॥ ५२ ॥

संसर्गमासाद्य विलासिनीनां विलासवेश्मागरुधूपधूमैः ।
बद्धास्पदाः सौधशिखासु यस्यां सुगन्धि तोयं जलदा वमन्ति ॥ ५३ ॥

जहाँ प्रासादों की चोटियों पर जमे हुए मेघ विलासिनियों के विलास भवनों से निकलने वाले अगुरु धूप के धुएँ का संसर्ग पाकर सुगन्ध पूर्ण जल बरसाते रहते हैं ॥ ५३ ॥

मरुपुष्करोऽ शोनितरङ्गशोभिन्यमन्दमार्गदमृङ्गनादाः ।
उद्यानवापीपयसोऽर यस्याम् एणाक्ष्यो नाट्यगृहे रमन्ते ॥ ५३ ॥

जहाँ की नारियाँ उद्यान वापियों में जिनकी लहरियाँ विकसित कमलों से चमक उठा करती हैं तथा जहाँ निरन्तर कलनादपक्षि उड़ती रहती हैं, (उनमें) इस प्रकार विहार करती रहती है मानो ऐसे नाट्यगृहों में विहार करती हों जो रंगमञ्च पुष्कर वाद्यों का ध्यान से गूँजते रहते हैं और जिनमें मृदगों की तुमुल ध्वनि उद्गत होती रहता है ॥ ५४ ॥

मणिस्थवातायनकान्तिजालविलुप्तरथ्यातिमिरोत्करासु ।
श्यामासु यस्या प्रमदा क्वचित् सङ्केतमुत्कम्पिरुचा प्रयान्ति ॥५५॥

जहाँ की प्रमदाएँ अँधेरी रातों में मणिमण्डित गवाक्षों के किरण समूह से गलियों का अन्धकार दूर हो जाने पर किसी किसी प्रकार जब सङ्केत स्थानों पर जाया करती हैं तो मार्ग घबराहट के उनके स्तन काँपने लगते हैं ॥ ५५ ॥

नवाम्बुनाड्यप्रतिबिम्बितस्या यत्रोच्चहर्म्याङ्गणरत्नभूमौ ।
व्यक्ति लभन्ते सुरसुन्दरीणां सालक्तका प्रावृषि पादमुद्रा ॥५६॥

जहाँ के युवराज उच्च भवनों पर जब वर्षा ऋतु में नवीन पत्थरों का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो उनमें सञ्चरण करने वाली अप्सराओं के लाक्षारस (आलता) युक्त पदचिह्न स्पष्टरूप से दिखाई देते हैं ॥ ५६ ॥

कृतार्थतानातिशयेन मन्ये या वेधसा मध्यमलोकरत्नम् ।
स्वशिल्पविज्ञानपरप्रकर्षप्रकाशनायात्र विनिर्मितेव ॥ ५७ ॥

मानो अपने शिल्पविज्ञान (कलाकौशल) की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करने के लिये विधाता ने अत्यन्त सावधान चित्त से पृथ्वी पर रत्न की भाँति इस उज्जयिनी का निर्माण किया हो ॥ ५७ ॥

अथ नायकवर्णनम् ।

राजास्ति तस्याः स कुलाचलेन्द्रनिकुञ्जविश्रान्तयशस्तरङ्गः ।
भास्वान् ग्रहाणामिव भूपतीनाम् अग्रासनस्थो धुरि सिन्धुराजः ॥५८॥

नवसाहसाङ्क का वर्णन ।

इस उज्जयिनी का राजा था, जिसकी कीर्तिनदी की लहरियाँ कुल पर्वतों के निकुञ्जों तक पहुँचा करती थीं, और ग्रहमण्डल में सूर्य की भाँति राजमण्डल में जिसकी गणना थी उसका नाम सिन्धुराज था ॥ ५८ ॥

निर्व्यूढनानाद्भुतसाहसं च रणे वृतं च स्वयमेव लक्ष्म्या।
नाम्ना यमेके नवसाहसाङ्कं कुमारनारायणमाहुरन्ये ॥ ५९ ॥

यह वही राजा था जिसका रणस्थली में लक्ष्मी स्वयं वरण कर चुकी थी, जो नाना साहस के कार्यों को करने में कुशल था, और जिसको कुछ लोग नवसाहसांक नाम से सम्बोधित करते थे तथा कुछ कुमारनारायण भी कहा करते थे ॥ ५९ ॥

सहेलमभ्युद्धरता धरित्रीं मग्नां द्विपद्वारिनिधावगाधे।
येनात्र नीता पृथुविक्रमेण व्यक्तिं जगत्यादिवराहलीला ॥ ६० ॥

शत्रुरूपी अगाध जलधि में मग्न धरती का अति सुगमता से उद्धार कर जिस महापराक्रमशाली ने विश्व में आदिवराहलीला का अभिनय किया ॥६०॥

उद्दामदुग्धाब्धितरङ्गभासो यस्यारिकान्ताकुचमण्डलानि।
हाराः पतत्साञ्जनबाष्पपङ्ककलङ्कभीत्येव परित्यजन्ति ॥ ६१ ॥

दूध की तरंगों वाले उमड़ते हुए समुद्र की उज्ज्वल प्रभा के समान यशवाले इस राजा की शत्रुनारियों के हार, अञ्जन से सने गिरते हुए अश्रुओं के संसर्ग से काले बने हुए, शत्रुनारियों के कुचों का इस भय से मानो परित्याग कर रहे हैं, कि यह कालिमा उन्हें भी न लग जाय ॥ ६१ ॥

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणेरणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥ ६२ ॥

यह बड़ी विचित्र बात है कि इस राजा के हाथों में आते ही इस की तलवार यद्यपि तमाल वृक्ष की कान्ति के समान कृष्ण वर्ण की है, फिर भी वह रणस्थल में शरत्कालीन चन्द्रकान्ति के समान उजले ऐसे यश को उत्पन्न कर रही है, जो तीनों लोकों को अलंकृत कर देता है ॥ ६२ ॥

पराङ्मुखेनापि सदा परस्वे पत्या भुवः सागरमेखलायाः।
अहो यशः पूर्वमहीपतीनाम् अनाविलं येन बलाद्विलुप्तम् ॥ ६३ ॥

यह भी विचित्र बात है कि दूसरे के धन या यश को ग्रहण करने की अनिच्छावाले, सागरपर्यन्तमेखला वाली धरा के पति इस राजा ने अपने पूर्ववर्ती अन्य राजाओं के निर्मल यश को बरबस विलुप्त कर दिया ॥ ६३ ॥

चित्तं प्रसादश्च मनस्विता च भुजं प्रतापश्च वसुन्धरा च।
अध्यासते यस्य मुखारविन्दं द्वे एव सत्यं च सरस्वती च ॥ ६४ ॥

इसके चित्त पर प्रसाद (कृपा) और मनस्विता का, भुजा पर प्रताप और वसुधा का, तथा कमल मुख पर सत्य और सरसता का ही केवल अधिकार है ॥ ६४ ॥

यस्याप्सरोभि परिगीयमानम् आकर्ण्य बाह्वोर्विजयप्रपञ्चम् ।
शचीकुचस्पर्शमिवाप्य धत्ते रोमोद्गमाध्यासितमङ्गमिन्द्रः ॥ ६५ ॥

अप्सराओं द्वारा गाई गई जिस राजा के बाहुबल की गाथाएँ सुनकर इन्द्र का अंग प्रत्यङ्ग उसी भांति रोमाञ्चित हो उठता है, मानो इन्द्राणी का कुचालिङ्गन पाकर रोमाञ्चित हो उठा हो ॥ ६५ ॥

प्रसाधिता येन च बाल्य एव चतुर्भिरुत्साहवता चतस्रः ।
श्रुतेन बुद्धिः प्रभुता नयेन त्यागेन लक्ष्मीर्वसुधा बलेन ॥ ६६ ॥

उत्साही जिस राजा ने बाल्यकाल में ही चार वस्तुओं को चार प्रकार से सिद्ध कर लिया था—अध्ययन से बुद्धि को, न्याय से प्रभुता को, त्याग से लक्ष्मी को और भुजबल से वसुधा को ॥ ६६ ॥

रणे रणे मुक्तकृपं कृपाणं यः शातधारं कृतवान् कृतास्त्रः ।
अनेकराजन्यघटाकिरीटमाणिक्यशाणोपलपट्टिकासु ॥ ६७ ॥

अस्त्र विद्या में निपुण और कठोर बने हुए जिस राजा ने प्रत्येक रण में अनेक राजाओं के मुकुटों पर लगे हुए मणिरूपी शाण पर धर कर अपनी तलवार को पैना किया। अर्थात् अनेकानेक शत्रुराजाओं का नाश कर दिया ॥ ६७ ॥

भरेण भूमेः स्फुटमानमन्त्या पातुच्छटा शेषफणामणीनाम् ।
न्यमीलयन् यद्विजयप्रयाणे नागाङ्गनानां नयनोत्पलानि ॥ ६८ ॥

जिसकी विजययात्रा में सेना के भार से दबी हुई पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग की फणाओं की मणियों की रगड़ से उठी हुई धूल ने नाग ललनाओं के नेत्रों में पड़कर उन्हें बन्द कर दिया ॥ ६८ ॥

अन्योन्यसंश्लेषविशीर्णहारच्युतेन सेवावसरे नृपाणाम् ।
कीर्णासु मुक्तानिकरेण यस्य कक्ष्यासु वारप्रमदाः स्खलन्ति ॥ ६९ ॥

जिसकी ड्योढ़ी पर वारविलासिनियां अब यहां इसलिये फिसलती हुई दिखाई देती हैं कि सेवा के लिये आये हुए राजाओं के अंग-संघर्षण से टूटे हुए हारों के मोती इधर उधर बिखर पड़े रहते हैं ॥ ६९ ॥

आक्षिप्य हारान् निजविक्रमाग्निस्फुलिङ्गशङ्कामनुसन्दधन्ति ।
येनारिकान्ताकुचमण्डलेषु गुञ्जाफलान्याभरणीकृतानि ॥ ७० ॥

जिसने शत्रुरमणियों के गलों से हारों को दूर करके अपने पराक्रम रूपी चिनगारी का स्मरण दिलाने वाले घुंघची के फलों को उनके उरःस्थलों का आभूषण बना दिया ॥ ७० ॥

कृपाणपातैर्दलतामरातिकरीन्द्रकुम्भस्थलमौक्तिकानाम् ।
धूलिच्छटा मांसलयन्ति यस्य समुद्गतान्याजिमुखे यशांसि ॥ ७१ ॥

भयंकर युद्ध में जिसकी कृपाण धारा की चोटों से फटे हुए शत्रुगजगणों के गजराजों के गण्डस्थलों के मोतियों का धूल, उड़कर, उसके विस्तृत यश को और भी विस्तृत कर देती है ॥ ७१ ॥

इन्दुद्युतिः कुन्दसितान् दधाना गुणाननङ्गोत्सववैजयन्ती ।
येन द्विषां दूरमनायि कण्ठात् एकावली वामविलोचना च ॥ ७२ ॥

चन्द्र के समान कान्तिवाली कुन्दपुष्प के समान निर्मल गुणों को धारण करनेवाली और रतिक्रीडा की वैजयन्ती एकावली और रमणी, इन दोनों को जिसने शत्रुकण्ठों से सदा के लिये दूर कर दिया ॥ ७२ ॥

यस्मिन्वहत्यम्बुधिनेमिमुर्वीम् मौर्वीकिणश्यामलदीर्घदोष्णि ।
विभाव्यते पौरवराङ्गनानाम् मध्यं परं धाम दरिद्रतायाः ॥ ७३ ॥

धनुष की डोरी की चोट से चिह्नित लम्बी भुजा वाले जिस राजा के समुद्र पर्यन्त धरती पर शासन करते हुए, केवल सुन्दर नगरनारियों के कटिभाग में ही दरिद्रता या क्षीणता दिखाई देती थी ॥ ७३ ॥

आक्रान्तदिङ्मण्डलकुन्तलेन्द्रसान्द्रान्धकारान्तरितं रणे यः ।
स्वराज्यमस्रारुणमण्डलाग्रो गृहीतवान्दीधितिमानिवाऽह्नः ॥ ७४ ॥

युद्धभूमि में रक्तरंजित खड्ग धारण किये जिस राजा ने अपने राज्य को, जिस पर कुन्तलेन्द्र रूपी घनघोर अन्धकार छाया हुआ था उसी भांति वश में कर लिया जिस भांति रक्तरंजित (लालवर्ण) सूर्य अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिनको अपने वश में कर लेता है ॥ ७४ ॥

आकम्पितानां मरुतेव यस्य दोष्णाऽऽजिभूमावति दक्षिणेन ।
अजायतारिप्रमदालतानां बाष्पोदबिन्दूत्करपुष्पमोक्षः ॥ ७५ ॥

युद्धभूमि में जिसके अतिदक्षिण वायु तुल्य (दक्षिणी वायु एवं शत्रु-विनाशी) भुजदण्ड से हिलाई डुलाई गई शत्रुनारीरूपी लताएँ आँसुओं के रूप से पुष्प बरसाया करती है ॥ ७५ ॥

विपक्षहृद्भङ्गकृता नितान्तम् भ्रूलेखयाकुञ्चितयोल्लसन्त्या ।
नाकारमात्रेण परन्तपस्य यस्यान्वकारि क्रिययापि चापम् ॥ ७६ ॥

शत्रुओं को दुखी दशा देने वाले, जिस राजा की शत्रुओं के हृदयों को निराश करनेवाली वक्र एवं प्रभावसम्पन्न भ्रूलेखा ने आकृति से ही धनुष का अनुकरण नहीं किया अपितु क्रिया से भी अनुकरण किया ॥ ७६ ॥

दाक्षिन्दनानोत्सवमाप्य यस्य समुल्लसत्सान्द्रयशःप्रसूना ।
गतातिवृद्धिं लतलीलतेव निरुद्धमूला परमारलक्ष्मी ॥ ७७ ॥

जिस राजा के भुजदण्डरूपी चन्दनवृक्ष का सहारा लेकर परमारों का परम्परागत राजलक्ष्मी लता (मालती) लता की भाँति अत्यधिक (बढ़ने लगी) कीर्ति सुमनों को उत्पन्न करने लगी और दिन प्रतिदिन बढ़ता चला गई ॥ ७७ ॥

कृतानतिभ्यः सहसा ददाति य सम्परायेष्वभयं रिपुभ्यः ।
यशश्च गृह्णाति तुषारहारमृणालकर्पूरपरागपाण्डु ॥ ७८ ॥

शरण में आये हुए शत्रुओं को युद्धस्थल में भी जो राजा शीघ्र ही अभय दान दे दिया करता था और तुषार, हार, कमलनाल, कर्पूरपराग के समान उजले रंगवाले उनके यश को ग्रहण कर लेता था ॥ ७८ ॥

प्रकाशिताशं परितः प्रजानां यन्नोदयं धामभिरैर्वदन्ति ।
मुक्ताञ्जनध्वान्तपरिग्रहाणि नेत्राणि शत्रुप्रमदाजनस्य ॥ ७९ ॥

जिस राजा के उदय का प्रजाओं के कल्याण के लिए सूर्य के उदय के समान लोग (सभी) चाहते रहते थे, और शत्रुनारियों के अञ्जनरहित नेत्र जिसके उदय (अभ्युत्थान, पराक्रम) की सूचना दिया करते थे। अथवा—अञ्जन रूपी अन्धकार से रहित शत्रुनारियों के नेत्र ही प्रजाओं और तेजस्वी जिस (सूर्यसम) राजा के सकल प्रजाजन के मनोरथ को पूर्ण करने वाले अभ्युदय की सूचना दिया करते थे ॥ ८० ॥

यस्य प्रयाणे घनताभरेण परिस्खलत्सप्तसमुद्रमुद्रा ।
परस्परक्षोदसमाकुलासु दोलायते भूः फणभृत्फणासु ॥ ८० ॥

जिसकी (विजय) यात्रा के समय सेनाओं के भार से धरती के सातों समुद्र अस्त व्यस्त हो जाते हैं, और धरा शेषनाग की एक दूसरी से (बोझ सभालने में) रगड़ी हुई फणाओं पर हिलती डुलती सी दिखाई देती है ॥८०॥

निभिन्नमानं कमलेक्षणानां व्यक्तानुभावं भुवनत्रयेऽपि ।
आहुर्नना दीर्घगुणाभिरामं यमेकचापं कुसुमायुधस्य ॥ ८१ ॥

तीनों भुवनों को अपने प्रताप से व्याप्त करने वाले, कमललोचनाओं के मान का भंग करने वाले, सुन्दर गुणों से युक्त जिसको लोग काम का एक चाप अर्थात् अमोघास्त्र कहा करते थे ॥ ८१ ॥

असंशयं प्रागसृजद्विधाता यमेकमेव त्रिजगद्वदान्यम् ।
कल्पद्रुमादीनथ तैस्तदीयनिर्माणशेषैः परमाणुलेशैः ॥ ८२ ॥

निश्चित ही सर्वप्रथम विधाता ने तीनों लोकों में गाई जाने वाली कीर्ति से युक्त इस दानी राजा का निर्माण किया होगा, पुनः इसके निर्माण से बचे हुये परमाणुओं से कल्पद्रुम आदि वस्तुओं को बनाया होगा ॥ ८२ ॥

अकृत्रिमत्यागसमुद्गतानि विपक्वतालीदलपाण्डुराणि ।
आशालतानां वलयेषु भर्तुर्यशांसि यस्य स्तवकीभवन्ति ॥ ८३ ॥

जिस राजा के स्वाभाविक त्याग से उत्पन्न तथा पके हुए ताड़पत्र के समान पीत वर्ण वाले यश, दिशारूपी लताओं की शाखाओं में ऐसे जान पड़ते हैं, मानो पुष्पगुच्छ लगे हों ॥ ८३ ॥

यत्र प्रतापोर्जितराजचक्रकिरीटरत्नद्युतिचुम्बिताङ्घ्रौ ।
यथार्थतां याति ययातिपाण्डुदिलीपतुल्यौजसि राजशब्दः ॥ ८४ ॥

पराक्रम द्वारा जीते, अनेकानेक राजाओं के मुकुटों में लगे रत्नों की प्रभा जिस राजा के चरणों का चुम्बन करती रहती है, अतः ययाति, पाण्डु और दिलीप के समान तेज वाले जिस राजा के लिये राजशब्द का प्रयोग वस्तुतः सार्थक हो जाता है ॥ ८४ ॥

उच्छिन्दतः क्ष्मासरसीं विगाह्य धर्मक्रियापङ्कजिनीवनानि ।
स्वैरप्रचारः कलिकुञ्जरस्य येनाङ्कुशेनेव बलान्निरुद्धः ॥ ८५ ॥

पृथ्वी रूपी तालाब का आलोडन (मथन) करके धर्म क्रिया रूपी कमलिनी-वन का नाश करने वाले कलिरूपी हाथी के स्वेच्छा विहार (विचरण) का जिस राजा ने मानो जबरदस्त (बलप्रयुक्त) अंकुश से रोक दिया ॥८५॥

चिरं विभिन्नाः कुमुदेन्दुकुन्दभासः समग्रा अपि यत्र ते ते ।
अन्योन्यमेकत्रनिवाससौख्यकुतूहलेनेव गुणा घटन्ते ॥ ८६ ॥

कुन्द, इन्दु, कुमुद की सी कान्ति वाले समस्त गुण जो अबतक यत्र तत्र पृथक् भाव से रहते थे, वे एक एक करके जिस राजा की शरण में निवास सुख प्राप्त करने के लिये कौतूहल पूर्वक एकत्र हो गये ॥ ८६ ॥

कान्त्याऽनुलिप्तानि विलोचनानाम् आ पाटलानामतिरोदनेन ।
सकुङ्कुमानीव पुनर्भवन्ति यस्यारिनारीकुचमण्डलानि ॥ ८७ ॥

अत्यधिक रोने के कारण रक्तवर्णवाले लोचनों की कान्ति से प्रतिबिम्बित (युक्त) जिस राजा की शत्रुनारियों के कुचमण्डल आज भी एसे प्रतीत होते हैं, मानों उनमें कुमकुम लगाया गया हो ॥ ८७ ॥

श्रियि प्रतापे यशसि क्षमायां त्यागे विलासे विनये महिम्नि ।
किमन्यदारोहति यस्य साम्यं न रन्तिदेवो न पृथुर्न पार्थः ॥ ८८ ॥

शोभा, प्रताप, यश, क्षमा, त्याग, विलास, विनय और गौरव में जिसकी समता न रन्तिदेव कर सकता है, न राजा पृथु और न युधिष्ठिर ही। और लोगों का तो कहना ही क्या है ॥ ८८ ॥

सचिववर्णनम् ।

साम्राज्यभारोद्वहनप्रगल्भो यशोभटाख्यः सचिवोऽस्ति यस्य ।
रसासूक्तिचर्यारसपरेण नाम्ना रमाङ्गदं यं कवयो वदन्ति ॥ ८९ ॥

सिन्धु राजा के मन्त्री का वर्णन ।

साम्राज्य के भार के धारण करने में अति निपुण यशोभट नाम के इसके मन्त्री को कवि लोग अपनी काव्यचर्चा के समय 'रमाङ्गद' इस दूसरे नाम से सम्बोधित किया करते थे ॥ ८९ ॥

कुलराजधानीवर्णनम् ।

विजित्य लङ्कामपि वर्तते या यस्याश्च नायात्यलकापि साम्यम् ।
जेतुं पुरी साप्यपरास्ति यस्य धारेति नाम्ना कुलराजधानी ॥ ९० ॥

कुलराजधानी का वर्णन ।

लङ्का जैसी नगरी को भी (अपने गौरव से) जीतने वाली, अलकापुरी भी जिसकी समता नहीं कर सकती इस प्रकार की इस विजेता राजा की दूसरी कुलक्रमागत राजधानी भी थी, जिसे लोग धारा (उज्जयिनी) कहते थे ॥९०॥

तस्यां स साहसजितावनिपालमौलिरत्नांशुपल्लवितकाञ्चनपादपीठः ।
देवः क्षमावलयमेतदुदञ्चितैकलीलातपत्रललिताभरणं भुनक्ति ॥९१॥

इति श्रीमृगाङ्कगुप्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये नगरीनरेन्द्रवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

वह राजा उस राजधानी में अपने पराक्रम से जीते हुए राजाओं के मुकुटों के रत्नों की कान्ति से युक्त स्वर्णसिंहासन पर बैठकर ऊपर उठाये हुए लीलातपत्र रूपी सुन्दर आभरण से सजे इस सम्पूर्ण भूमण्डल का अकेले ही उपभोग किया करता था ॥ ९१ ॥

इति श्रीमृगाङ्कगुप्त के पुत्र परिमल उपनाम वाले पद्मगुप्त रचित नवसाहसाङ्कचरित महाकाव्य का नगरी नरेन्द्र वर्णन नामक पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

—·*—

अथ द्वितीयः सर्गः

कदाचिल्लोचनातिथ्यमाप्तेनालेख्यवेश्मनि ।
स मृगव्याविनोदेन पस्पृशे पार्थिवो हृदि ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग ।

किसी समय चित्रशाला में मृगया (शिकार) विनोद के लिये बने हुए चित्र को देख कर राजा के मन में शिकार खेलने की भावना जाग्रत हुई ॥१॥

उच्चैस्तुरगारूढः स समं राजसूनुभिः ।
गिरेरगच्छद्विपिनं विन्ध्यस्यावन्ध्यशासनः ॥ २ ॥

अनतिक्रमणीय आज्ञा वाला (सफल आज्ञा वाला) वह राजा अति ऊंचे घोडे पर चढ़कर अन्य राजपुत्रों के साथ विन्ध्याचल के पहाड़ी वनों में शिकार खेलने गया ॥ २ ॥

हारेणाऽऽमलकस्थूलमुक्तेनामुक्तकुन्तलः ।
फणीन्द्रबद्धजूटस्य श्रियमाप स धूर्जटेः ॥ ३ ॥

आंवले के समान बडे बडे मोतियों के हार से बँधे हुए बालों वाला, वह शेषनाग से युक्त जटाजूट वाले भगवान् शंकर के समान दिखाई देने लगा ॥ ३ ॥

देवः स वारबाणेन नलिनीपत्रबन्धुना ।
श्यामजीमूतसन्नद्धः काञ्चनाद्रिरिवाऽऽबभौ ॥ ४ ॥

नलिनी के पत्रों के समान कान्ति वाले कवच से वह राजा ऐसी शोभा पा रहा था, जैसे नीले बादलों से युक्त सुमेरुपर्वत शोभा पाता है ॥ ४ ॥

तस्योपरि विभोर्नीलमातपत्रं व्यराजत ।
वारिधेरिव पीताम्भश्श्यामलं मेघमण्डलम् ॥ ५ ॥

उस राजा के सिर के ऊपर नील वर्ण का छत्र ऐसा दिखाई दे रहा था, मानो समुद्र के ऊपर नये पानी से भरा श्यामघन हो ॥ ५ ॥

व्याधूतिमुक्तमरुता व्यरुचच्चामरेण सः ।
वन्दिगृहान्निःश्वसता यशसेवादिभूभुजाम् ॥ ६ ॥

हिल-डुलकर पवन उत्पन्न करते हुए श्वेतचामर द्वारा वह राजा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बन्दीगृह से निकलता हुआ पहले के शत्रु-राजाओं का यश आहें भर रहा हो ॥ ६ ॥

न्यधादिवोद्गतैर्दूरं स चूडारत्नरश्मिभिः ।
निशाकरकुरङ्गस्य पाशमाकाशवर्त्मनि ॥ ७ ॥

अपने मुकुट के मणिरत्नों के दूर तक फैले हुए किरणसमुदाय से वह मानो चन्द्रमा के मृग को फँसाने के लिये आकाश मार्ग में जाल बिछा रहा था ॥ ७ ॥

तस्यांसयोर्नृसिंहस्य हारकान्तिसटाभरः ।
उवाह कण्ठलग्नश्रीविलासहसितश्रियम् ॥ ८ ॥

नरसिंहावतार रूप (नरश्रेष्ठ उस राजा) के दोनों कन्धों पर लटकने वाला अयालों के समान कान्ति वाला हार ऐसा लग रहा था, मानो उसके कण्ठ का गाढालिङ्गन करने वाली लक्ष्मी रूपी राजश्री का मन्द हास हो ॥ ८ ॥

पुरः पदेपदे तस्य नानारत्नाङ्गदत्विषः ।
रचयन्ति स्म सञ्चारि चापं प्राचीनबर्हिषः ॥ ९ ॥

उस राजा के आगे पद पद पर अनेकानेक (रंग बिरंगे) रत्नखचित अंगद (भुजबन्द) की किरणें फैल रही थीं (तब) ऐसा प्रतीत होता था, जैसे चलता फिरता इन्द्रधनुष हो ॥ ९ ॥

भाति स्म कण्ठाभरणपद्मरागप्रभावृतः ।
राजन्यासृक्सरःस्नातः स भार्गव इवापरः ॥ १० ॥

कण्टहार में जटित पद्मराग-मणियों की किरणों से चारों ओर से घिरा हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था, मानो क्षत्रवंश के रक्त में स्नान किये हुए दूसरा भार्गव (परशुराम) हो ॥ १० ॥

रुरुचे स पुरस्त्वङ्गत्सितछत्रपरम्परः ।
वेलानिलसमुद्‌धूतफेनः पतिरिवार्णसाम् ॥ ११ ॥

जब वह चलता था, तब उसके आगे श्वेतवर्ण के राजछत्रों की पंक्तियाँ ऐसी लगा करती थीं, मानो ऐसा समुद्र हो जिस पर तीर के वायु के थपेड़ों से फेन उतरा रहा हो ॥ ११ ॥

उपायनीकृतोन्निद्रपद्मकिञ्जल्कसौरभः ।
तमसेवत सम्राजं विन्ध्यदूत इवाऽनिलः ॥ १२ ॥

विकसित कमल के पराग की गंधभेंट चढाकर विन्ध्याचल के पवन ने दूतरूप में उस राजा की सेवा की ॥ १२ ॥

तदश्वीयखुरोत्खातैः पांसुकूटैरजायत ।
पुनः प्रसभवर्धिष्णुविन्ध्यशङ्काकुलं जगत् ॥ १३ ॥

उसके घोड़ों के खुरों से खोदी हुई विन्ध्यभूमियों से जो धूल ऊपर को उठी, उसे देख कर लोगों को ऐसी शंका हुई, मानो विन्ध्याचल पुनः ऊपर को उठ रहा हो ॥ १३ ॥

सहेमशृङ्खलाः श्वानः श्वेतास्तस्याग्रतो ययुः ।
वहन्तः सतडिद्दामशारदाम्बुधरश्रियम् ॥ १४ ॥

शरत्कालीन चपला से सुशोभित बादलों के समान स्वर्णजञ्जीरों से बँधे सफेद कुत्ते उस राजा के आगे आगे चलने लगे ॥ १४ ॥

ततस्तुरगहेषाभिः पत्तिकोलाहलेन च ।
अजायन्त भयोद्भ्रान्तश्वापदा विन्ध्यभूमयः ॥ १५ ॥

तब घोड़ों की हिनहिनाहट से और पदाति सेना के कोलाहल से विन्ध्याचल के हिंस्र जन्तु भय से व्याकुल हो गये ॥ १५ ॥

रभसाकृष्टकोदण्डं कर्णपूरीकृतेक्षणाः ।
तमनङ्गमिवाऽपश्यन् वनान्ते वनदेवताः ॥ १६ ॥

वेग से सहसा धनुष को चढ़ाने वाले उस राजा को, विन्ध्यवासी देवताओं ने अपने कानों तक फैले नेत्रों से काम के समान देखा ॥ १६ ॥

मयि गोप्तरि चोरोऽयमबलालोचनश्रियः ।
इतीव मुमुचे तेन कृष्णसारे शिलीमुखः ॥ १७ ॥

मुझ जैसे रक्षक के होते हुए भी यह अबलाओं की नयनशोभा चुरा लेता है, इसीलिये मानो उस राजा ने (चोर) कृष्णसार मृग पर बाण चलाया ॥१७॥

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।
श्रीहर्ष इव सङ्घट्टं चक्रे बाण-मयूरयोः ॥ १८ ॥

विभिन्न रंगों की शोभा धारण करनेवाले बाण और मोर का उस पृथ्वीपति ने ऐसा संयोग उपस्थित कर दिया (मोर पर बाण छोड़ा) जैसा श्री महाराज हर्ष ने चित्र विचित्र काव्य-रचनाएँ करनेवाले बाण और मयूर कवि को अपनी सभा में जुटा कर किया था ॥ १८ ॥

चमरीणां शरोत्कृत्तैः स वालधिभिरुज्ज्वलम् ।
परितो व्यधिताऽरण्यं स्वयशःस्तबकैरिव ॥ १९ ॥

उसने अपने बाणों से काटी गई, चमरी गायों की पूँछों से सारे वन को ऐसा उज्ज्वल कर दिया, मानो इस रूप में उसके कीर्तिकुसुम के गुच्छे वहां खिले हों ॥ १९ ॥

आहूत इव साटोपं लाङ्गूलास्फोटनिःस्वनैः ।
अभ्यधावदभिव्याघ्रानाघ्रातः कौतुकेन सः ॥ २० ॥

मृगयाविहार के प्रति उत्सुक वह राजा व्याघ्रों की ओर ऐसे दौड पड़ा, मानो पूँछों की फटकार और गर्जन तर्जन से उन्होंने ही उसे अहकार पूर्वक ललकारा हो ॥ २० ॥

निधित्सुरात्मनः शौर्यमसामान्यमिवाद्धे ।
स शरान् पुण्डरीकेषु पुण्डरीकायतेक्षणः ॥ २१ ॥

कमल के समान दीर्घ नेत्र वाले उस राजा ने अपने पराक्रम का विस्तार करने के लिये पुण्डरीकों (व्याघ्रों) पर बाण छोडे ॥ २१ ॥

तैस्तस्य बाहुवीर्येण दृष्टेन ब्रीडितैरिव ।
तत्यजे विक्रमस्पर्धा पुरः पश्चात्तु जीवितम् ॥ २२ ॥

उस राजा के भुजबल को देखकर प्रथम तो उन्होंने मानो लज्जित हो कर पराक्रम करना छोड़ दिया और बाद में प्राणों का ही त्याग कर दिया ॥२२॥

क्षितेरेकातपत्रायाः स पतिर्मत्सरादिव ।
उन्नपुण्डरोकत्व न सेहे विन्ध्यभूभृतः ॥ २३ ॥

समस्त पृथ्वी का एक छत्रपति वह राजा, मानो जलन से युक्त हो कर विन्ध्याचल (रूपी राजा) के व्याघ्रों की प्रबलता (श्वेत कमल रूपी छत्र की उच्चता) सहन न कर सका ॥ २३ ॥

अरण्यमहिषेन्द्रैस्तस्मात्सायकवर्षिणः ।
अपसस्रे विकीर्णाशोऽलमोभिरिव भास्वतः ॥ २४ ॥

जिस भांति इधर उधर फैली हुई चमकती हुई, सूर्यकिरणों के समक्ष अन्धकार ठहर नहीं सकने के कारण दूर हट जाया करता है, उसी भांति बाणवर्षा करने वाले उस राजा के (चमकते हुए) बाणों के सामने जंगली भैंसे भी न ठहर सके ॥ २४ ॥

महामहिषनिष्पेषकेलिः पारमगाद्द्वयोः ।
राज्ञस्तस्यातिचण्डस्य चण्डिकाचरणस्य च ॥ २५ ॥

अत्यन्त क्रोधी इस राजा और चण्डिका के चरण इन दोनों ने जो भयानक महिष मर्दन लीला की वह पराकाष्ठा को पहुँच गई ॥ २५ ॥

शारदीव प्रसर्पन्त्यां तस्य कोदण्डटाङ्कृतौ ।
विनिद्रजृम्भितहरिर्विन्ध्योदधिरजायत ॥ २६ ॥

शरत्कालीन छटा के विस्तार के समान जब उस राजा की धनुष टंकार विन्ध्याचल के वन में फैलने लगी, तो विन्ध्याचल रूपी उदधि ऐसा हो गया, मानो उसमें विराजमान हरि (विष्णु अथवा सिंह) निद्रा त्याग कर उठ खड़ा हुआ हो ॥ २६ ॥

अशेषभुवनख्यातविक्रमेऽव्यक्तविक्रमैः ।
दर्पान्मुमुचिरे तस्मिन् तिर्यक्केसरिभिर्दृशः ॥ २७ ॥

छिपे हुए पराक्रम वाले विन्ध्य-वनवासी सिंहों ने समस्त भूमण्डल में विख्यात पराक्रम वाले उस राजा पर सगर्व तिरछी दृष्टि डाली ॥ २७ ॥

स तेषां सहजोदग्रशौर्यसञ्चारवीथिषु ।
मत्तेभमौक्तिकोत्तंसान्न सेहे नखशुक्तिषु ॥ २८ ॥

सहज ही प्रचण्ड बल का संचार जिनमे हो रहा था, सिंहों की उन नखरूपी सीपियों मे सजे मतवाले हाथियों के मस्तक के मोतियों को वह राजा न सह सका ॥ २८ ॥

यूथे महावराहाणां गते तद्बाणगोचरम् ।
चिरात् पल्वलमुस्तानां सन्तानः स्वस्तिमानभूत् ॥ २९ ॥

महावराहों (सूअरों) का समुदाय जब उस राजा के बाणों का लक्ष्य बना तो तालाबों मे लगा हुआ नागरमोथा कुशल मनाने लगा (अर्थात् सूअरों के मर जाने पर वह बचा रहा) ॥ २९ ॥

समदक्रोडदंष्ट्राभिः कृत्ताभिः कौतुकेन सः ।
स्थलीर्व्यधित विन्ध्यस्य विकीर्णेन्दुकला इव ॥ ३० ॥

उस राजा ने कौतूहल से ही काटी गई मदोन्मत्त वराहों की दाढ़ों से विन्ध्याचल की भूमि को ऐसे पाट दिया जैसे वह चन्द्रकला से सुशोभित हो ॥ ३० ॥

असैरिभमसारङ्गमवराहमकेसरि ।
क्षणाद्वनमशार्दूलमात्तचापश्चकार सः ॥ ३१ ॥

अपने धनुष पर बाण चढ़ा कर उस राजा ने शीघ्र ही विन्ध्याचल की भूमि को जंगली भैंसों, हिरणों, सूअरों, सिंहों और बाघों से रहित कर दिया ॥३१॥

अलं प्रहृत्य भूपाल सत्त्वेष्वनपराधिषु ।
इतीव स खगारावैर्न्यषेधि वनराजिभिः ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! निरपराध प्राणियों पर इस प्रकार बाण का प्रहार मत करो, इस भाँति वनसमुदाय ने खगकोलाहल की वाणी द्वारा मानो उसे रोका ॥३२॥

असेवन्त समीरास्तमनस्तमृगयाश्रमम् ।
सुरतश्रान्तशबरीकबरीमाल्यचुम्बिनः ॥ ३३ ॥

सुरतक्रीड़ा करके थकी हुई भीलनियों के जूड़ों पर सजी मालाओं का चुम्बन (स्पर्श) करने वाली वायु ने शिकार खेलने से थके हुए उस राजा की सेवा की (इस प्रकार की वायु के लगने से उसकी थकान दूर हो गई) ॥ ३३ ॥

कुरङ्गदर्शनम् ।

अथेन्द्रचापललित सञ्चरन्तमितस्ततः ।
अमन्दमृगयासङ्गः स कुरङ्गमलोकत ॥ ३४ ॥

मृगदर्शन ।

इसके पश्चात् मृगया के उत्साह से सम्पन्न सिन्धुराज ने इन्द्रधनुष की कान्ति वाले चञ्चल (विचित्र वर्ण के) एक मृग को इधर उधर विचरण करते देखा ॥ ३४ ॥

सोऽपि स वलितग्रीव क्षण स्थित्वा ददर्श च ।
निरन्तरलतापुञ्ज विन्ध्यकुञ्ज निवेश च ॥ ३५ ॥

उस मृग ने भी गर्दन घुमा कर थोड़ी देर खड़े रह कर उस राजा को देखा और शीघ्र ही वह विन्ध्यके सघन लताकुञ्ज में घुस गया ॥ ३५ ॥

ततस्तुरगमुत्सृज्य निसृज्यानुप्लवानपि ।
तमन्वियाय सारङ्ग सारङ्गायतलोचन ॥ ३६ ॥

मृग के समान विशाल लोचनों वाला वह राजा अपने घोड़े और अनुचरों को वहीं पर छोड़ कर उस मृग के पीछे चल पड़ा ॥ ३६ ॥

देवो रमाङ्गदेनाथ स श्रियेवान्वगम्यत ।
छाया निवर्तते जातु नतु तस्यैष भूपते ॥ ३७ ॥

सिन्धुराज के मत्री रमाङ्गद ने राजलक्ष्मी के समान सदैव इसका अनुगमन किया । राजा की छाया चाहे राजा से पृथक् हो जाय किन्तु वह मत्री उनसे अलग नहीं हो सकता था ॥ ३७ ॥

मृगानुसारी विचरन्नात्तचापो वने वने ।
लीलां किरातवेषस्य स प्रपेदे पिनाकिन ॥ ३८ ॥

धनुष पर बाण चढ़ाए मृग का पीछा करते हुए वन वन में घूमने वाला वह राजा, किरातवेष धारण करने वाले शिव के समान प्रतीत हो रहा था ॥ ३८ ॥

दूरादेव स तेनाथ शरव्यत्वमनीयत ।
स्वनामधेयचिह्नस्य हेमपुङ्खस्य पत्रिण ॥ ३९ ॥

उस मृग को दूर से ही इस राजा ने अपने नाम से चिह्नित तथा स्वर्ण-फलक वाले अपने बाण का निशाना बनाया ॥ ३९ ॥

शिलाभेदक्षमेनापि किमपि श्लथमुष्टिना ।
अभूद्विद्ध स सारङ्ग तेन त्वचि न मर्मणि ॥ ४० ॥

यद्यपि वह बाण पत्थरों को भी भेदने में समर्थ था, किन्तु कुछ शिथिल

मुट्ठी से छूटने के कारण उस ने मृग के चर्म को ही वेधा, उसके मर्म स्थल को नहीं वेधा ॥ ४० ॥

स शरापातभीतेन मनसोऽप्यतिरंहसा ।
अतिदूरं कुरङ्गेण निन्ये राम इवापरः ॥ ४१ ॥

बाण गिरने के डरसे मन से भी अधिक वेग वाला वह मृग उस राजा को दूर तक अपने पीछे वैसे ही ले गया, जैसे स्वर्णमृग राम को ले गया था ॥ ४१ ॥

तेन विन्ध्याटवीमध्ये धावन्नीरन्ध्रवीरुधि ।
उत्पतन्नुत्पतन्नेव स केवलमलक्ष्यत ॥ ४२ ॥

विन्ध्याचल के वन में दौड़ता हुआ वह मृग जब घने लताकुञ्जों में बार-बार उछलता था तभी दिखाई देता था ॥ ४२ ॥

दृशा वनस्थलीः कुर्वन् विकीर्णेन्दीवरा इव ।
जवाद्दूरमतिक्रान्तं तं क्षितीशस्तदैक्षत ॥ ४३ ॥

पुनः अपने दृष्टिपात से सारे वन में मानो कमल बिखेरते हुए उस राजा ने वेग से दूर निकल गए हुए मृग को देखा ॥ ४३ ॥

ततस्तिरोहिते तस्मिन्नसमाप्तकुतूहलः ।
स्वबाण इव स प्राप पृथिवीं दुर्विलक्षताम् ॥ ४४ ॥

पुनः उस मृग के आँखों से ओझल हो जाने पर कौतूहल युक्त वह राजा भी लक्ष्य भ्रष्ट हुए अपने बाण को ही भाति धरती पर गिर पड़ा (बैठ गया) ॥ ४४ ॥

दशनज्योत्स्नया कुर्वन् लताः स्तवकिता इव ।
इति पार्श्वगतं स्मित्वा स जगाद रमाङ्गदम् ॥ ४५ ॥

मुस्करा कर अपने दाँतों की काति से लताओं को पुष्पित सा करता हुआ वह राजा अपने बगल में बैठे हुए रमांगद से बोला ॥ ४५ ॥

रमाङ्गदाय मृगवर्णनम् ।

अयं तुलितपौलोमीकान्तकार्मुकविग्रहः ।
मृगो दृग्गोचरं कच्चिद्गतस्तव रमाङ्गद ! ॥ ४६ ॥

रमाङ्गद से मृग का वर्णन ।

हे रमाङ्गद ! अपने शरीर से इन्द्रधनुष को समता करने वाले इस मृग को क्या तुमने भी देखा ? ॥ ४६ ॥

तद्वधूस्वकरन्यस्तचित्रपत्रलताङ्कितः ।
असौ विहारहरिणः किं स्यादनलसारथेः ॥ ४७ ॥

इन्द्र की वधुओं के हाथों से निमित्र रंगों की चित्रकारियों से सजाया गया, यह वायु का पालतू मृग तो नहीं है ? ॥ ४७ ॥

अपि दृष्टा त्वयैतस्य कण्ठे कनकशृङ्खला ?।
छुरितस्येन्द्रचापेन मेघस्येव तडिल्लता ॥ ४८ ॥

क्या तुमने इसके कण्ठ में वह सोने की जञ्जीर देखी जो ठीक इन्द्र धनुष से शोभित मेघ की विद्युल्लता सी प्रतीत हो रही है ॥ ४८ ॥

मृगजातिरपूर्वेयं सर्वथा वसुधातले।
सम्भवत्यमराद्रौ वा भुवने वा फणाभृताम् ॥ ४९ ॥

यह मृग या तो सुमेरुपर्वत पर ही हो सकता है, या फिर नागलोक में ही हो सकता है। इस जाति का मृग वसुधा पर आज ही देखा गया ॥ ४९ ॥

अस्याखण्डलकोदण्डकान्ति चर्मातिपावनम्।
गजपृष्ठे निधास्यामि महासमरपर्वसु ॥ ५० ॥

इस मृग के इन्द्रधनुष की सी कान्तिवाले पवित्र चर्म को बड़े बड़े युद्धों मे जाते समय मैं हाथी की पीठ पर सजाया करूँगा ॥ ५० ॥

यस्मिन्मज्जति मच्चेतः कुतूहलरसोर्मिषु।
मार्गमन्वेष्टुमेतस्य तदेहि प्रयतावहे ॥ ५१ ॥

मेरा चित्त कौतूहल की लहरों में डूब उतरा रहा है (कौतूहल मग्न हो रहा है) अतः आओ इसके अन्वेषण का प्रयास करें ॥ ५१ ॥

इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् परमारमहीभृति।
ऊचे रमाङ्गदेनैवमवाप्यावसरं वचः ॥ ५२ ॥

ऐसा कहकर परमारवंश के महाराज (नवसाहसाङ्क) के चुप हो जाने पर अवसर पाकर रमाङ्गद बोले ॥ ५२ ॥

रमाङ्गदकृतो मृगानुसरणनिषेधः।

क्रुधेवाधिज्यधापनं वर्णसङ्करदर्शिना।
त्वयैष चित्रसारङ्गो देव दूरमनुद्रुतः ॥ ५३ ॥

रमाङ्गद का आखेट निषेध करना।

महाराज ! आपने वर्णसंकर (नाना वर्णों वाले तथा दोगले) के दर्शन मात्र से ही मानो क्रोध में आकर धनुष पर बाण चढाकर इस कृष्णसार मृग का बहुत दूर तक पीछा किया ॥ ५३ ॥

अशून्या सुर-गन्धर्व-सिद्ध विद्याधरोरगैः।
इमा नवनवाश्चर्यनिधयो विन्ध्यभूमयः ॥ ५४ ॥

सुर, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर और सर्पों से परिपूर्ण यह विन्ध्यवनभूमि नये-नये कौतुकों की खान है ॥ ५४ ॥

विरमात्यादरः कोऽयं कुरङ्गान्वेषणे तव ।
न धावन्त्यर्थरिक्तासु क्रियासु त्वादृशां धियः ॥ ५५ ॥

आप शान्त हो जावें । मृग के अन्वेषण के लिये आप यह कैसी उत्सुकता दिखा रहे हैं ? निष्फल कामों मे आप जैसे व्यक्तियो की बुद्धियाँ नहीं लगा करती है ॥ ५५ ॥

मृगयासक्तचित्तस्य तवात्र विचरिष्यतः ।
पथि लोचनयोरेष पुनरप्यापतिष्यति ॥ ५६ ॥

मृगयासक्तचित्त होकर वन में विचरण करते हुए आपकी दृष्टि में वह मृग फिर आयेगा (एक बार फिर आप उसे देखेंगे) ॥ ५६ ॥

शरः संह्रियतामेष धनुरप्यवतार्यताम् ।
शेषा च स्वस्तिमत्यस्तु देव श्वापदसन्ततिः ॥ ५७ ॥

हे देव ! अब आप धनुष की डोरी खोल दीजिए और बाण को उतार लीजिए, ताकि बचे हुए जंगली जानवरो का समुदाय कल्याण का अनुभव करे ॥ ५७ ॥

दशा दिनस्य तीव्रेयं यदयं भगवान् रविः ।
कृष्णस्योरसि पुष्णाति नभसः कौस्तुभश्रियम् ॥ ५८ ॥

मध्याह्न हो गया है, (देखिए) नभस्तल पर भगवान् सूर्य, श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर लगे कौस्तुभ मणि की सी शोभा को धारण करने लगे है ॥ ५८ ॥

निहतेषु त्वया देव सत्त्वेषु व्यथिता इव ।
एता वहन्ति सन्तापमतीवारण्यभूमयः ॥ ५९ ॥

हे देव ! आपने बहुत से जगली जीव मार डाले, इसीलिये मानो ये वनभूमियाँ वेदना से अत्यन्त सन्तप्त (दुखी तथा तपी हुई) हो रही हैं ॥५९॥

अमीभिर्बालवानीरविटपेष्वग्ग्लमैः ।
कपिञ्जलैरितः पश्य सहसैव निलीयते ॥ ६० ॥

हे देव ! इधर देखिये । ये थके हुए कपिञ्जल पक्षी छोटी छोटी वेत की लताओं के बीच कैसे जल्दी जल्दी छिप रहे हैं ॥ ६० ॥

अर्कांशुग्लपितैरेभिरितोऽप्यालिखितैरिव ।
राजजम्बूनिकुञ्जेषु पश्य पुंस्कोकिलैः स्थितम् ॥ ६१ ॥

सूर्य की किरणों से व्यथित ये नर-कोकिल बडे बड़े जामुन के वृक्षों में ऐसे बैठ गये हैं, मानो चित्रस्थ हो ॥ ६१ ॥

आह्लादहेतु स्निग्धेयमितो वन्येन दन्तिना।
पश्य नीपतरोश्छाया सवशेन निषेव्यते ॥ ६२ ॥

देखिये, पास ही यह जगली हाथी अपनी हथिनी के साथ मन को प्रसन्न करने वाली कदम्ब की इस घनी छाया को कैसे सेवन कर रहा है ॥ ६२ ॥

नवाम्बुधरनीलोऽयं दावधूमलतोद्गमः।
नीलकण्ठैरितस्तर्षात्सोत्कण्ठैरवलोक्यते ॥ ६३ ॥

काले बादल की कान्ति का रूप धारण करने वाले इस जगली आग से उठने वाले धुयें को ये मोर तृणावश कैसे उत्कण्ठित होकर देख रहे हैं ॥६३॥

अनया विद्रुमस्निग्धभङ्गपिङ्गलया दृशा।
इत पल्वलपङ्कान्तर्व्यक्तिमभ्येति सैरिभः ॥ ६४ ॥

तालाब के कीचड़ के बीच पड़ा हुआ भैंसा अपनी मूंगे के समान पिंगलवर्ण वाली आँखों से ही पहचाना जा रहा है ॥ ६४ ॥

कठोरातपतप्तस्य राजहंसस्य सम्प्रति।
नरेन्द्र नलिनीपत्रमातपत्रीभवत्यदः ॥ ६५ ॥

हे राजन् ! दोपहर की धूप से व्याकुल इस राजहंस के लिये इस समय यह नलिनी का पत्र ही छाते का काम कर रहा है ॥ ६५ ॥

तुरगखुरजन्मरजःकपोलफलकस्पृशि।
देव कुर्वन्त्यलं ते तवापि स्वेदबिन्दवः ॥ ६६ ॥

घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूल से युक्त कपोलों वाले आपके मुख को भी ये पसीने की बूँदें सुशोभित कर रही हैं (आपके परिश्रम को घोषित कर रही हैं) ॥ ६६ ॥

तदत्र कुसुमस्मेरे निःस्वनत्समदालिनि।
विनीयतां लताकुञ्जे त्वयैष मृगयाश्रमः ॥ ६७ ॥

इसलिए हे देव ! विकसित पुष्पों वाले एवं मत्तभ्रमरों के मधुर गुञ्जार से परिपूर्ण इस लताकुञ्ज में आप आखेट के परिश्रम को दूर करें ॥ ६७ ॥

अपि स्वच्छजला देव कलहंसाङ्कसैकता।
वराहोत्खातमृत्स्नेयं पुरः पुष्करिणी तव ॥ ६८ ॥

हे देव ! स्वच्छ जलवाली, कलहंसों से शोभित पुलिन वाली, सूकरों द्वारा खोदी हुई कोमल मिट्टी से युक्त यह बावड़ी आपके सामने ही है ॥६८॥

त्वामिवार्ककरक्लान्तमाकारयितुमेतया।
अयमाधूतकह्लारकलिकः प्रेषितोऽनिलः ॥ ६९ ॥

सूर्यरश्मियों से व्याकुल आपको बुलाने के लिये इसने मानो कह्लार (कण्डैल)

कलिकाओं को कम्पित करने वाले वायु को भेजा है (अर्थात् कह्लार पुष्पों के गन्ध से युक्त नदी का स्पर्श करने वाली ठण्ढी ठण्ढी हवा भी चलने लगी है) ॥६९॥

लतापुष्पोत्करैः कीर्णो मार्गोऽयमवगाह्यताम् ।
इतो वन्येभमुक्ताभिरिमाः शर्करिला भुवः ॥ ७० ॥

इधर जंगली हाथियों के मस्तक के मोतियों से युक्त यह भूमि पथरीली-सी हो गई है और इस ओर लतापुष्प-समुदाय से भरा हुआ यह मार्ग है। आप इधर से ही चले ॥ ७० ॥

इत्युक्ते मसृणं तेन नृपस्य पदमादधे ।
स्मितं सरस्वतीरत्नपर्यङ्के दन्तवाससि ॥ ७१ ॥

मंत्री के इस प्रकार कहने पर सरस्वती के रत्नपर्यङ्करूपी राजा के अधरों पर स्निग्धमन्दहास ने अपना अधिकार जमाया ॥ ७१ ॥

यशोभटोपदिष्टेन गत्वा किञ्चिदिवाध्वना ।
प्राप पुष्करिणीतीरमवन्तितिलकोऽथ सः ॥ ७२ ॥

यशोभट (रमाङ्गद) के बताए हुए मार्ग से कुछ दूर चलकर यह अवन्ती का तिलक (अवन्तिनाथ) बावड़ी के किनारे पर पहुँचा ॥ ७२ ॥

करादनुचरस्तस्य सान्द्रस्वेदजलाङ्गुलेः ।
मधुर्मनोभवस्येव सशरं चापमाददे ॥ ७३ ॥

राजा के अत्यधिक पसीने से सनी अँगुलियों वाले हाथ से उसके अनुचर (रमाङ्गद) ने इस भाति धनुष-बाण ग्रहण कर लिये जैसे वसन्त ने कामदेव के हाथ से धनुष बाण ले लिए हों ॥ ७३ ॥

अथ स्नानादिवर्णनम् ।

ततः स्नानेच्छया स्पृष्टो विसृष्टश्यामकञ्चुकः ।
स रेजे मेघनिर्मुक्तः पर्याप्त इव चन्द्रमाः ॥ ७४ ॥

राजा के स्नानादि का वर्णन ।

तदनन्तर जब स्नान करने की इच्छा से उस राजा ने अपने कृष्णवर्ण के कञ्चुक (चोला या कवच) को उतारा तो वह ऐसा दिखाई देने लगा, मानो मेघ से मुक्त पूर्ण चन्द्रमा हो ॥ ७४ ॥

प्रमृष्टमृगयारेणु तन्मुखं पार्श्ववर्तिना ।
रुरुचे मारुताक्षिप्तपरागमिव पङ्कजम् ॥ ७५ ॥

जब अङ्गरक्षक ने उसके धूलभरे मुख को धोया तो उसका मुख उस कमल के समान शोभित हुआ जिसका केशर वायु द्वारा उड़ा दिया गया हो ॥७५॥

निसर्गललिता तस्य विमुक्तालङ्कृतिस्तनु ।
लतेव पारिजातस्य पर्यस्तस्तबकाऽभवत् ॥ ७६ ॥

स्वभाव से ही सुन्दर, अलकारों से रहित उसका शरीर पुष्पगुच्छों से रहित पारिजात-लता-सा दीखने लगा ॥ ७६ ॥

स्वेदभिन्नाङ्गराग॰ स सरसीं तामगाहत ।
मदसिक्तलटाघातधूलिर्वन्य इव द्विप ॥ ७७ ॥

पसीने से सने हुए अगराग वाला वह राजा मद से सने हुये, तटाघात से उठी धूल से युक्त हाथी की भाँति उस बावडी में स्नान करने लगा ॥७७॥

स तस्या दूरविक्षिप्तविहगश्रेणिमेखल ।
विजहार यथाकाम विलासकुसुमायुध॰ ॥ ७८ ॥

उस राजा ने पुष्करिणी (बावड़ी) की विहग पक्ति रूपी मेखला को दूर करके विलासी काम की भांति स्वेच्छापूर्वक उसके साथ विहार किया (जी भर कर स्नान किया) ॥ ७८ ॥

उवाह विस्फुरन्नालकण्टककण्ठ्यनापि सा ।
तदङ्गयष्टिस्पर्शेन रोमाञ्चमिव पद्मिनी ॥ ७९ ॥

ऊपर उठे कमलनाल रूपी रोमों के बहाने कमलोंवाली बावड़ी भी पद्मिनी नायिका की भाँति उस राजा के अगस्पर्श से मानो रोमाञ्चित हुई सी दिखाई देने लगी ॥ ७९ ॥

ततस्तरङ्गनिर्धौतमध्यास्य स शिलातलम् ।
यश स्नपितदिक्सीमा देव सस्नौ यथाविधि ॥ ८० ॥

पुन अपने यश से दिग्दिगन्त को श्वेत करने वाले उस महाराज ने बावड़ी की तरगों से धुली हुई शिला पर बैठकर विधिपूर्वक स्नान किया ॥ ८० ॥

तस्याऽविरलमत्तालिनि स्वनच्छद्मना वने ।
अगीयतेव देवस्य लताभि स्नानमङ्गलम् ॥ ८१ ॥

निरन्तर गुञ्जार करने वाले मत्त भ्रमरों के गुञ्जार के रूप में वन की लताओं ने मानो उसके स्नान के समय मगल गीत गाये ॥ ८१ ॥

स दूरोदस्तपर्यस्तसपुष्पसलिलाञ्जलि ।
जगत्तमोपह ज्योतिस्त्रयीमयमुपस्थित ॥ ८२ ॥

जल से दूर होकर (निकल कर) पुष्प और जल से अञ्जलि भर कर उस राजा ने अधकार को नष्ट करने वाले त्रयीमय—भू भुव स्व अथवा ऋग्, यजु, साममय ज्योति सूर्य को अर्घ्य दिया ॥ ८२ ॥

तमानर्च स राजेन्दुर्मौलौ यस्येन्दुलेखया।
क्रियते स्वधुनीबालमृणालशकलभ्रमः ॥ ८३ ॥

जिसके शिर की चन्द्रलेखा मन्दाकिनी में उत्पन्न कोमल कमलखण्ड की भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है उस शिव (चन्द्रशेखर) की अर्चना भी उस राजा ने की ॥ ८३ ॥

धन्या हि ता वनलता यत्फलान्याजहार सः।
कार्यतः सदृशी तासां समुद्ररशना मही ॥ ८४ ॥

वे वन की लताएं धन्य हैं, जिनके फलों को राजा ने ग्रहण किया और यह समुद्ररशना पृथ्वी भी धन्य है, जो उन लताओं की भांति राजा के काम आती रही है ॥ ८४ ॥

निपीय निखिलव्यक्तराजचिह्नेन पाणिना।
उपास्पृशत्स चाम्भोजकिञ्जल्ककपिशं पयः ॥ ८५ ॥

चक्रवर्ती राजा के समस्त लक्षणों से परिपूर्ण हाथ से पुनः उस राजा ने कमलपराग से पीतवर्ण जल का आचमन और मार्जन किया ॥ ८५ ॥

नीलातपत्रमित्रेण पत्रेणाम्बुजिनीभुवा।
निवारितोष्णः सश्रीकं लताकुञ्जं जगाम सः ॥ ८६ ॥

(इस प्रकार) वह राजा जिसके सिर पर नीलछत्र के समान कमलिनी के पत्र से छाया की जा रही थी, राजलक्ष्मी के चिह्न (छत्र) से युक्त होते हुए लताकुञ्ज में गया ॥ ८६ ॥

सपरागे विशश्राम कुसुमप्रस्तरे च सः।
लक्ष्मीकुचाङ्गरागेण भिन्ने शेष इवाच्युतः ॥ ८७ ॥

लक्ष्मी के कुचों पर लगे हुए और छूटे हुए अंग पराग से सनी शेष-शय्या पर जैसे भगवान् विष्णु सोते हैं, वैसे ही इस राजा ने भी परागपूर्ण पुष्पों के बिछौने पर विश्राम किया ॥ ८७ ॥

रमाङ्गदोऽपि निर्वर्त्य त्वरया किञ्चिदाह्निकम्।
अवाप्तसेवावसरः पर्युपास्त विशाम्पतिम् ॥ ८८ ॥

रमाङ्गद (मंत्री) भी शीघ्र दैनिक क्रियाओं को समाप्त कर, सेवा करने का अवसर पाकर इस नरेन्द्र के पास ही आ गया ॥ ८८ ॥

स भृङ्गध्वनिना सुप्तो विपञ्चीनादबन्धुना।
तमालपल्लवैस्तेन किञ्चित्किञ्चिदवीज्यत ॥ ८९ ॥

वीणा की मधुरध्वनि के समान भ्रमरगुञ्जन की ध्वनि को सुनते सुनते राजा को नींद आ गई और रमाङ्गद तमाल-पत्रों से धीरे धीरे हवा करने लगा ॥८९॥

निद्रागृहीतनिर्मुक्तलोचनोऽथ जहार स ।
घनच्छायावृतव्यक्तभास्वतो नभस श्रियम् ॥ ९० ॥

निद्रा से आँखें मूँदते तथा खोलते हुए यह राजा उस आकाश की सुन्दरता चुरा रहा था (ऐसा सुन्दर लग रहा था) जिसमें मेघों के छा जाने और हट जाने से सूर्य गुप्त और प्रकट हो रहा हो ॥ ९० ॥

पीनांसतटसश्लिष्टपुष्पकेसरशोभिना ।
उष:कालकल्पेनेव शयनीयममुच्यत ॥ ९१ ॥

पुष्ट कन्धों के तट पर चिपके हुए फूलों के पराग से सुशोभित, अतएव उष काल के समान सुन्दर महाराज ने शय्या छोड़ दी ॥ ९१ ॥

पुनर्मृगयाविहारः ।

चकार च पदं चित्र: स मृगस्तस्य चेतसि ।
लग्नं हि किमपि क्वापि कृच्छ्राद्विरुष्यते मन ॥ ९२ ॥

पुन आखेट करना ।

विचित्र वर्णवाले उस मृग ने राजा के मन में अपना स्थान बना लिया था, क्योंकि किसी कारण कहीं पर लगा हुआ मन बड़ी कठिनाई से वहां से हटाया जा सकता है ॥ ९२ ॥

प्रसादवद्भिरलङ्कारैस्तेन मूर्तिरभूष्यत ।
अत्युज्ज्वले कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव ॥ ९३ ॥

उस राजा ने प्रसन्नतादायक मनोहर अलंकारों से अपने शरीर को उसी भांति सजाया जैसे कविवर कालिदास ने अपनी कविता को अति प्रसादगुण-सम्पन्न अलंकारों से सजाया था ॥ ९३ ॥

जगाहे स महारण्यमंसासक्तधनुर्लत ।
उपोढशशभृल्लेख सायमब्धिमिवार्यमा ॥ ९४ ॥

सायंकाल कन्धे पर धनुष लटकाए उस राजा ने महारण्य में ऐसे प्रवेश किया जैसे सूर्य (जिसके समीप में उदित होनेवाले चन्द्र की कला हो) समुद्र में प्रवेश कर जाय ॥ ९४ ॥

तस्मिन्कुसुमकिर्मीरतले च विचचार स ।
स्फुरन्नक्षत्रशबले नभसीव निशाकर ॥ ९५ ॥

चमकते हुए तारागणों से विचित्र वर्ण वाले आकाश में चन्द्रमा की भांति वह राजा भी पुष्पों से रंग बिरंगी भूमि वाले उस वन में घूमने लगा ॥ ९५ ॥

मृगानुगमनिर्बन्धो न जगामास्य मन्दताम् ।
मैथिलीरमणस्येव विपिने पृथिवीपते ॥ ९६ ॥

जिस भांति वन मे रामचन्द्रजी की मृग के पीछे जाने की भावना मन्द नहीं पड़ी, उसी भाति मृग के पीछे जाने की सिन्धुराज की भावना (इच्छा) भी मन्द न हो सकी ॥ ९६ ॥

निशातिक्रमणम् ।

ततः पपात जलधौ विरोचनफणामणिः ।
दिनाहेर्नीयमानस्य बलात्कारगरुत्मता ॥ ९७ ॥

रात्रि बिताना ।

इसके बाद दिन रूपी सर्प का, बलात्कार रूपी (काल) गरुड़ के द्वारा अपहृत सूर्य रूपी फणामणि समुद्र मे जा गिरा (सूर्यास्त हो गया) ॥ ९७ ॥

शनैः शनैरथ व्योम्नि मृगाङ्कः पदमादधे ।
सशङ्क इव भूपालान्मृगयासक्तचेतसः ॥ ९८ ॥

मृग के आखेट मे आसक्त चित्त वाले भूपति से शंकित होकर (ही) मानो मृगाक (मृग को गोद मे रखने वाले चन्द्रमा) ने आकाश मे धीरे धीरे पैर बढ़ाया ॥ ९८ ॥

रमाङ्गदास्तृतस्निग्धपल्लवप्रस्तरे ततः ।
वने राजेन्दुना निन्ये तेनेन्दुतिलका निशा ॥ ९९ ॥

रमाङ्गद के बिछाये हुए कोमल पत्तों के बिछौने पर लेट कर उस राजचन्द्र ने चन्द्रविभूषिता निशा को बिताया ॥ ९९ ॥

अथ मुखरखगापनीतनिद्रः क्वचिदपि पद्मसरस्युपास्य सन्ध्याम् ।
पुनरपि तमवेक्षितुं वनान्ते नृपतिरियेष्ट मृगं मृगेन्द्रकल्पः ॥१००॥

इसके पश्चात् कल कोलाहल करने वाले पक्षियों के कलरव से नींद दूर हो जाने पर किसी पद्म-सरोवर मे जाकर सन्ध्या-वन्दन करके सिंहसदृश वह राजा फिर वन-मध्य मे उस मृग को देखने के लिये चल पड़ा ॥ १०० ॥

पञ्चैकेन स्मर इव शरान्पाणिना हेमपुङ्खान्
अन्येनोर्वीविजयि च धनुः साहसाङ्कं दधानः ।
देवः सोऽथ व्यहरदरिपु न्यस्तपादः पिकाली-
नीडन्यञ्चन्निचुलनिचयश्यामलासु स्थलीपु ॥ १०१ ॥

इति श्रीमृगाकदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाक-
चरिते महाकाव्ये चित्रमृगावलोकनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

शत्रुओं के मस्तक पर चरण रखने वाला वह नृपति एक हाथ पर काम की भाति पांच स्वर्ण फलक (अग्रभाग) वाले बाणों को और दूसरे हाथ मे भुवनविजयी एवं साहसांक (साहस के प्रतीक) धनुष को धारण कर, कोयलों

के नीडों के भार से नीचे झुकी हुई वेतस लताओं से अन्धकारपूर्ण वनस्थली में विचरण करने लगा ॥१०१॥

इति श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनाम वाले
पद्मगुप्त-रचित नवसाहसाङ्कचरित महाकाव्य का
चित्रालोकन नाम का द्वितीय सर्ग
समाप्त ॥ २ ॥





अथ तृतीयः सर्गः

अथ बहु चरतोऽस्य चापपाणेश् चकितचलन्मृगयूथवीक्षितस्य ।
वनभुवि सुलभः परिश्रमोऽभून् न तु हरिणः स हृतेन्द्रचापशोभः ॥ १ ॥

धनुष-बाण हाथ में लेकर चकित चित्त से अत्यधिक विचरण करते-करते मृग को इधर-उधर देखते-देखते उस वन में राजा को थकावट तो खूब मिली, पर वह मृग न मिला ॥ १ ॥

धनुषि तनुभरं निधाय किञ्चित् तरुणतमालवने विनीतखेदः ।
मृगरुधिरलवाङ्कितेन देवः सम-विषमेण पथा पुरः प्रतस्थे ॥ २ ॥

तब धनुष की कोटि (अग्रभाग) पर अपने शरीर का भार धरकर नव तमाल-निकुञ्ज में थोड़ा सा विश्राम करके पुनः वह राजा मृग के रक्त-बिन्दुओं से चिह्नित ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर आगे बढ़ा ॥ २ ॥

विन्ध्यकन्दरप्रवेशः

अथ स चटुलषट्पदोपगीतं वनगजदानसुगन्धि गन्धवाहम् ।
परिसरमभिनृत्तनीलकण्ठं न्यविशत विन्ध्यनगेन्द्रकन्दरस्य ॥ ३ ॥

विन्ध्याचल की कन्दरा में प्रवेश

जिसमें चपल भ्रमरों का गीत हो रहा था, जो जंगली हाथियों के मद की सुगन्ध से युक्त वायु को धारण कर रही थी, जिसके आस-पास मयूर नृत्य कर रहे थे, ऐसी विन्ध्याचल की गुफा में राजा प्रविष्ट हुआ ॥ ३ ॥

चतुरकृत-कचग्रहः स गच्छन् वनलतया परिहासलोलयेव ।
नरपतिरवशः कृतः स कामं वियति मुखेन्दुमुदञ्चयाञ्चकार ॥ ४ ॥

मार्ग पर चलते हुए उस राजा से परिहास की इच्छुक वनलताओं ने उसका कच-ग्रह किया । तब उस राजा ने बड़ी कठिनाई से अपने चन्द्रानन को ऊपर की ओर उठाया ।

विमर्श—अर्थात् राजा के लम्बे-लम्बे बाल अगल-बगल की लताओं में उलझे जा रहे थे, तब राजा को बराबर रुककर अपना मुँह ऊपर आकाश की ओर करना पड़ता था । ॥ ४ ॥

नमदवनिपतिः पतिः प्रजानाम् अयि ! चपले नु विकृष्यते कचेषु ।
विरम मुहुरितीव मञ्जुमुक्तध्वनिभिरसावलिभिर्लताऽभ्यधायि ॥ ५ ॥

अरी ! तू कितनी चञ्चल है कि इस राजा के, जिसको बड़े-बड़े राजा शीश झुकाते हैं, केश पकड़ने चली है ? इस प्रकार भ्रमरों ने अपनी मधुर गुञ्जार के बहाने मानो उसे (लता को) मना किया ॥ ५ ॥

कतिचिदलिनिपीतयूपगन्धान् अनतिविलम्बिपराघ्यंमौलिरत्नान् ।
त्वरितमथ रमाङ्गदोऽस्य केशान् विपिनलताविटपान्तराचकर्ष ॥ ६ ॥

लता की टहनियों के बीच उलझे हुए राजा के केशों को रमाङ्गद ने छुड़ाया, जिनकी सुगन्ध भौंरे झुक-झुककर पी रहे थे, और जिनसे बहुमूल्य मौलि रत्न (मुकुट के रत्न) लटकते दिखाई पड़ रहे थे ॥६॥

हंसदर्शनम्

नृपतिरथ तदोन्मुखस्वरं तम् झटिति सितच्छदमम्बरे ददर्श ।
दधतमधिगता कुतोऽपि चञ्च्वा बिसलतिकामिव तारहारलेखाम् ॥७॥

हंस-दर्शन

पुन राजा ने मृणाल तन्तुओं के समान उज्ज्वल तथा कहींसे पाये हुए हार को चोंच में दबाकर अपनी ओर आते हुए एक हंस को आकाश में देखा ॥ ७ ॥

विकसितकुमुदच्छदावदाते ततनिभृते पततां ततीर्दधानम् ।
विरचयितुमुपायनं नृपेन्दोर् नवघटिते इव दन्तपत्रलेखे ॥ ८ ॥

विकसित कुमुद पत्र के समान श्वेत वर्ण के फैले हुए और बन्द, जिसके दोनों डैने दिखाई दे रहे थे, उस हंस को राजा ने ऐसे देखा, मानो वह (अपनी ओर आते हुए) उनके लिये भेंट स्वरूप नवनिर्मित हाथीदाँत की दो पत्रलेखाएँ ला रहा हो ।

विमर्श—जब पक्षी उड़ते हैं, तब एक बार उनके डैने फैल जाते हैं तथा एक बार बन्द हो जाते हैं। इसी क्रिया का स्वभावोक्ति रूप में वर्णन करने के लिए 'ततनिभृत' शब्द दिया गया है ॥ ८ ॥

चितमतनु विसर्पता समन्तात् किरणलतानिकरेण हारयष्टेः ।
सितमणिमयसूचिनिर्मितस्य स्थितमिव जङ्गमपञ्जरस्य मध्ये ॥ ६ ॥

उस दिव्य हार की चारों तरफ से पड़ने वाली किरण रेखाओं से बिलकुल ढँका हुआ वह हंस ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो स्फटिक मणि की शलाकाओं (सीखचियों) से बने हुए चलते फिरते पिंजड़े में बैठा हो ॥ ६ ॥

तरलमणिरुचाऽऽवृत प्रकृत्या विदलितविद्रुमकन्दकान्तितुण्डम् ।
प्रणयनिहितपादयावकाङ्कम् कमलवनस्थितिलोलयेव लक्ष्म्या ॥ १० ॥

स्वभाव से तो वह हंस ऐसा है, जिसकी चोंच में कटे हुए मूंगे की कान्ति है, किन्तु हार के मध्यमणि की कान्ति से चारों ओर से युक्त है। अत उसे श्वेत कमल समझकर मानो लक्ष्मी उसपर महावर लगे पैर को प्रेम से धरे हुए हो ।

विमर्श—हंस की चोंच लाल है। लाल चोंच में सफेद हार लटक रहा है। यहाँ कवि ऐसी उत्प्रेक्षा करना चाहता है कि लक्ष्मी रक्त कमलासन पर विराजमान है। लक्ष्मी का रंग गौर है। अतः वह हार रूप से हंस की लाल चोंच में विराजमान है। लाल चोंच की उत्प्रेक्षा रक्त कमलासन में है।

विद्रुमकन्दकान्तितुण्डम्—मूंगा स्वभावतः ही लाल होता है। फिर अगर उसे फोड़ दिया जाय तो उसकी लालिमा का क्या पूछना? धूलि आदि का संसर्ग न रहने से अन्दर का भाग अत्यन्त लाल होता है। कवि को इतनी लालिमा से ही सन्तोष नहीं है, अतः वह उसकी जड़ याने मूल भाग की लालिमा चाहता है। कन्द शब्द का अर्थ है जड़ (मूल)। 'कन्दकान्चितुण्डम्' पाठ मे 'कन्द एव कन्दकः' (स्वार्थे कन्) ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिये ॥ १० ॥

चरणयुगतले विभातकाल-स्फुटितजपाकुसुमाभिताम्रभासि।
स्वयमिव नलिनीवनप्रसूतेः परिचयतः कृतकान्तिसंविभागम् ॥ ११ ॥

प्रभात काल मे खिले हुए जपाकुसुम की भांति उसके चरण थे। ऐसा मालूम पड़ रहा था जैसे लाल कान्तिवाले उस हंस ने अपने जन्मस्थान कमल-वन से अत्यन्त प्रेम के कारण उसकी रक्तिमा में हिस्सा बँटा लिया हो।

विमर्श—हंसों का जन्म तथा निवास कमल-वन में होता है, यह बात प्रसिद्ध ही है। प्रत्येक प्राणी को अपनी जन्मभूमि या सम्बद्ध वस्तुओं से अत्यन्त प्रेम होना स्वाभाविक है। उसी प्रेम के कारण हंस ने रक्तवर्ण कमल-वन से उसकी रक्तिमा का कुछ अंश माँग लिया और कमल-वन ने भी प्रेमवश दे दिया। हंस के लाल वर्ण के चरणों पर कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है ॥ ११ ॥

प्रतिपदमतिदीर्घहारभारात् अवनमदुन्नमयन्तमुत्तमाङ्गम्।
शिरसि निपततो निकाममुष्णान् अहिमरुचः किरणानिवोत्क्षिपन्तम् ॥ १२ ॥

अति दीर्घ हार के भार के कारण पग-पग पर नीचे दबते हुए सिर को वह ऊपर उठा रहा था, मानो अपने सिर पर पड़ती हुई सूर्य की अत्यन्त उष्ण (प्रखर) किरणों को बार-बार दूर करना चाहता हो ॥ १२ ॥

विवृतमुखधृतस्य निष्पतद्भिस् तरल[1]मणेररुणस्य कान्तिलेशैः।
अविरतमरविन्दवृन्दपीतान् मधुपृष[2]तानिव भूयसोद्वमन्तम् ॥ १३ ॥

खुले मुख में पकड़े हुए रक्तवर्ण के हारस्थित मेरुमणि की कान्ति ऐसी निकल रही थी, मानो वह कमल-वन में पीये गये मधुबिन्दुओं को निरन्तर अपने मुख से बाहर फेंक रहा हो ॥ १३ ॥

---

१. 'तरल' शब्द से यहाँ तात्पर्य है हार के बीच ग्रथित 'मेरुमणि'। 'तरलो हारमध्यगः'—अमरकोश।

२. पृषन्ति बिन्दुपृषताः—अमरकोश।

परिसचितमयत्नपूरिताशैर् अविरलमौक्तिकदामरश्मिजालैः ।
यश इव परभूभुजां निरुद्धय प्रसभमुपाहृतमात्मनो यशोभिः ॥ १४ ॥

उस मुक्ताहार के किरण-समुदाय से अनायास ही दिग्दिगन्त को परिपूर्ण करते हुए दूसरे राजाओं के यश को रोककर, मानो अपने यश का विस्तार कर रहा हो ॥ १४ ॥

अभिनवबिसशङ्कयाऽपहृत्य स्फटिकमयीमसमच्छमक्षमालाम् ।
विहगमिव विमानहंसपङ्क्तेर् विघटितमेकतरं चतुर्मुखस्य ॥ १५ ॥

मानो वह हंस ब्रह्मा के विमान की हंसपंक्ति में से अलग निकला हुआ एक हंस हो और उसने मृणाल समझकर ब्रह्मा के बिना देखे ही उनकी स्फटिक अक्षमाला हरण कर अपने मुख में धर ली है ?

विमर्श—ब्रह्मा जी का वाहन हंसों का रथ है। यहाँ कवि ऐसी उत्प्रेक्षा कर रहा है कि वह हंस रथस्थ हंसों में से एक है। तथा नवीन मृणाल समझ कर उसने ब्रह्मा की स्फटिक की अक्षमाला ही ले रखी है ॥ १५ ॥

च्युतमिव सितचामरं मघोनः श्रमजडवारविलासिनीकराग्रात् ।
अपहृतमिव लोलपत्रजालं सुरसरितः पवनेन पुण्डरीकम् ॥ १६ ॥

जो परिश्रम से थकी हुई अतएव जड़ अर्थात् हिलने-डुलने में असमर्थ इन्द्र की वार-विलासिनियों के हाथ से गिरे हुए इन्द्र के श्वेत चँवर की भाँति था, अथवा पवन द्वारा उड़ाये गये मन्दाकिनी के चंचल पंखुड़ियों वाले कमल की भाँति जान पड़ता था ॥ १६ ॥

हरहसितसितं दिवापि कान्तिस्तबकमिवापतितं सुधाकरस्य ।
अपि पतितमिवावरीषपीलोर् मघवद्विपस्य विलासकर्णशङ्खम् ॥१७॥

वह हंस भगवान् शंकर के हास्य की तरह सफेद था। मानो दिन में ही चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (किरण-समूह) छिटक रही हो। अथवा इन्द्र के हाथी ऐरावत का विलासकालीन (विलास की सूचना देने वाला) कर्ण शंख हो।

विमर्श—'शङ्खो निधौ ललाटास्थ्नि' (अमरकोश)। 'शंख' शब्द का अर्थ है भाल-प्रदेश के आस-पास की हड्डी। यहाँ कर्णशंख से तात्पर्य है हाथी के पंख तुल्य शूर्पकर्णों से। अर्थात् आकाश में उड़ता हुआ वह हंस ऐसा मालूम पड़ रहा था, जैसे ऐरावत का कर्णशंख (शूर्पकर्ण) ही आकाश से गुजर रहा हो। ज्ञातव्य है कि हंस का रंग सफेद है, तो ऐरावत का रंग भी सफेद ही है। अतः इस तरह की उत्प्रेक्षा नितान्त सही है ॥ १७ ॥

कुलकम्[1]

स च परिणतलोध्रधूलिशुक्लम् तरलमवन्तिपतेश्चकार चेतः ।
किसलयमिव बालचन्दनस्य स्तिमितगतिर्मलयाचलेन्द्रवातः ॥ १८ ॥

पके हुए लोध्र पुष्प (कन्डेल) की पराग की भाँति शुभ्र वर्ण के उस हंस ने राजा का चित्त कुछ इस भाँति चंचल कर दिया, जैसे मन्द मलयानिल चन्दन-पत्र को चंचल कर दिया करता है !

विमर्श—अर्थात् जैसे मन्द मलयानिल से कोमल पत्ते हिल उठते हैं, उसी तरह उस अति मनोहर हंस-दर्शन से राजा का चित्त भी चंचल हो उठा । इससे हंस की हृदयावर्जकता तथा राजा की सहृदयता प्रकट होती है ।

'लोध्र' को हिन्दी में लोध कहते हैं । यह एक प्रकार का वृक्ष है । वैद्यक में इसकी छाल और लकड़ी दोनों का प्रयोग होता है । यहाँ लोधपुष्प से तात्पर्य है ॥ १८ ॥

नायकवाक्यम्

अवददथ विबुद्धपुण्डरीक-प्रतिममुपान्तचरे निधाय चक्षुः ।
दशनमणिमयूखभिन्नवर्णां गिरमिति मालवराजपूर्णचन्द्रः ॥ १९ ॥

नायक के वचन

मालवराज रूपी पूर्णचन्द्र ने विकसित कमल की शोभा वाले पीछे की ओर स्थित रमांगद पर दृष्टि गड़ाकर इस प्रकार वाणी कही । उसकी वाणी दाँत रूपी मणियों की किरण-कान्ति से युक्त थी ॥ १९ ॥

सुरभिकुसुमचुम्बिनाऽवनम्राम् अलिपटलेन लतामिमां विना मे ।
खगममुमुपदर्शयेत् क एवं गगनरमापतिपाञ्चजन्यमन्यः ॥ २० ॥

सुगन्धित पुष्पों को चूसने वाले भ्रमर-समुदाय (के भार) से झुकी हुई इस लता के अतिरिक्त दूसरी कौन ऐसी वस्तु हो सकती थी, जो गगनरूपी विष्णु के पाञ्चजन्य शंखस्वरूप इस हंस को दिखाती ।

विमर्श—गगनरमापतिपाञ्चजन्यम्—यहाँ पांचजन्य के साथ हंस का उपमानोपमेय भाव रूपक द्वारा सिद्ध है । शंख भी सफेद होता है और हंस भी श्वेतवर्ण का है ॥ २० ॥

स्मरवरकरिहस्तशीकराणां हिमशुचयो नवहारमौक्तिकानाम् ।
विदधति रुचयोऽस्य चञ्चुकोटौ कवलितबालमृणालसूत्रलीलाम् ॥२१॥

---

१. कुलक का लक्षण—'पंचभिः कुलकं स्मृतम्' (सा. द. ६।३१४)
अर्थात् जहाँ पांच या इससे अधिक श्लोकों का अन्वय एक साथ होता हो, उसे कुलक कहते हैं ।

कामदेव रूपी गजराज की सूंड से फेंके जाते हुए जलबिन्दुओं के समान इस नवीन हार के मोतियों की हिम धवल कान्ति, इस हंस के चोंच के अग्र भाग पर ऐसी दिखाई दे रही है, मानो उसने इसके खाये हुए छोटे-छोटे मृणाल-तन्तुओं की शोभा को धारण कर रखा हो ॥ २१ ॥

अयि ! कथय सितच्छद, क्व चायं वननलिनीपुलिनान्तमद्वासः ।
अवनिपतिकलत्रकण्ठयोग्य क्व च शशिनन्धुरनर्घ एष हारः ॥२२॥

अरे ! देखो, कहाँ जंगली कमलिनियों के झुण्ड में निवास करनेवाला यह हंस, और कहाँ राज रमणियों के कण्ठ में रहने योग्य चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यह अमूल्य हार ॥ २२ ॥

वनभुवि पतितः कुतोऽयमस्याः कथमयमस्य मुखातिथित्वमाप ।
गुरुविभवपदस्य कस्य वा स्यात् अयमिति मे न परिच्छिनत्ति चेतः ॥२३॥

यह हंस इस वन में कहाँ से आ गया ! यह हार किस भाँति इसके मुख में आया ! यह हार किस वैभवशाली पुरुष का होगा ! मेरा मन कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा है ॥ २३ ॥

अयमुचितसरः[1] फणिस्त्रियो वा कुचकलशान्तरमर्त्ययोषितो वा ।
नियतमुदधिमुद्रमीदृशानि क्षितितलमाभरणानि न स्पृशन्ति ॥ २४ ॥

या तो यह किसी नाग वनिता के कुच-कलश का आभरण हो सकता है, अथवा किसी देवांगनाके कुच-कलशों का अलंकार है। निश्चित ही इस प्रकार का रत्नाभरण चारों समुद्रों से घिरे पृथ्वीतल पर कहीं नहीं पाया जा सकता ॥ २४ ॥

किमपरमनुगम्य एष हंसः श्रमजडपत्तिरावयोर्वनान्ते ।
अयि यदयमवाननस्य भूमिर् मुखधृतहारलतः कुतूहलस्य ॥ २५ ॥

हंस अब उड़ते उड़ते थक गया है। थकने से उसके पंख कुछ शिथिल हो चले हैं अर्थात् अब वह पहले इतनी तेजी से नहीं उड़ रहा है। इसलिए हम उसका अनुसरण आसानी से कर सकते हैं। अतः दूसरा सब कुछ छोड़कर हम इसका अनुसरण ही करें। क्योंकि इसने मुख में धारण किये हुए हार से हमें बहुत आश्चर्य हो रहा है ॥ २५ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इति विरतवचस्युदीर्ये तस्मिन् कृतिनि नृपे परमारवंशकेतौ ।
स्फुरदधरविकीर्णदन्तकान्तिप्रसरमिदं जगदे रमाङ्गदेन ॥ २६ ॥

---

१ 'अमर्त्या अमृता स्वः' देवा इत्यर्थः ।
२ 'स्त्री पद्धति पद्मूलं'—अमरकोश ।
३ 'श्रीमान् हरिः हंसौ'—इत्यमरः

इस प्रकार परमार वंश के केतु रूप विद्वान् तथा कुशल इस राजा के कहने के पश्चात् अधरों को कम्पित करते हुए, तथा दाँतों की किरण-कान्ति-समूह का विस्तार करते हुए (हँसते हुए) रमांगद ने यह कहा ॥ २६ ॥

जडरुचिरपि रोचते न कस्मै कथमपि दोर्वगुणेन लब्धसङ्गः।
नरवर यदनेन हारदाम्ना तव पतगः स्पृहणीय एव जातः ॥ २७ ॥

चन्द्रमा में दोष रहने पर भी सभी उसका आदर करते हैं, वह सभीका प्रियपात्र बना रहता है। क्योंकि उसमें सकललोकाह्लाददायकत्वरूप महान् गुण विद्यमान है। उसी प्रकार कोई मनुष्य मूर्ख इच्छा वाला अर्थात् अकर्मण्य हो, पर उसमें एकाध महान् गुण हो तो भला उसे कौन न चाहेगा ? वह तो सभी का प्रियपात्र बनेगा। इस हंस के पास भी हाररूपी महान् गुण है, इसीलिए एक यः कश्चित् पक्षी होने पर भी इसपर आपकी दृष्टि पड़ी, अर्थात् आप इसे चाहने लगे।

विमर्श—'तुषारः शिशिरो जडः' (इत्यमरः) अर्थात् जड़ याने शीतल। 'रुक् रुचिस्त्विड् भा' (इत्यमरः) अर्थात् रुचि याने कान्ति। जड़ा रुचिः यस्य सः जड़रुचिः चन्द्रमाः।'

'अभिष्वंगे स्पृहायां च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्'—इत्यमरः। रुचिः = इच्छा। इस पक्ष में जड़रुचि का मतलब होगा ऐसा पुरुष, जिसकी इच्छा जड़ हो गयी हो, उत्साह ठंडा पड़ गया हो अर्थात् अकर्मण्य ॥ २७ ॥

उपवन इव सम्भवः कदाचित् नृप घटते विपिनेऽपि हारयष्टेः।
यदसुर-सुर-नागराजकन्या इह विहरन्ति नगेन्द्रकन्दरेषु ॥ २८ ॥

हे महाराज ! यह हार उपवन की भाँति इस वन में भी मिल सकता है; क्योंकि यहाँ विन्ध्याचल पर्वत की कन्दराओं में सुर, असुर, और नागराज की कन्याएँ विहार करती रहती हैं ॥ २८ ॥

शकुनिरयमितो दिगन्तलग्नैर् अनुपममौक्तिकनिर्गतैर्मयूखैः।
तव विरचयतीव सूत्रपातं सुकृतनिधान भविष्यतः शुभस्य ॥ २९ ॥

हे पुण्य के भण्डार! अनुपम मोतियों से निकलनेवाली, एवं चारों दिशाओं में व्याप्त होनेवाली हार की किरणों द्वारा यह हंस आपके भावी मंगल का सूत्रपात कर रहा है ॥ २९ ॥

कृतमयमनुगम्यतामिदानीम् अनुगमनेन यतोऽस्य हारलाभः।
फलमधिकमतोऽपि नः कदाचित् किमपि भवेदयमेव यस्य हेतुः ॥ ३० ॥

इसलिये अब शीघ्रातिशीघ्र इस हंस का पीछा करना चाहिये, क्योंकि इसका पीछा करने से हार की प्राप्ति हो सकती है, और सम्भव है कि इससे भी अधिक और कोई फल प्राप्त हो, जि[illegible] हेतु यही हार बने ॥ ३० ॥

तरुविटपलतान्तरेण गच्छन् भुवमभजन् बहुमुक्तमेघवर्त्मा ।
अयमतिगुरुहारभारजातां श्रमजडतामलमात्मनो व्यनक्ति ॥ ३१ ॥

यह हंस कभी वृक्ष शाखाओं की लताओं के बीच में से चलता हुआ, कभी भूमि से ऊपर उठकर कभी आकाशमार्ग को त्याग कर भारी हार के भार से उत्पन्न होनेवाली अपनी थकान को स्पष्ट प्रकट कर रहा है।

विमर्श—प्राय हंसपक्षी आकाशमार्ग से अपनी गंभीर चाल से एक समान मार्ग का आक्रमण करता है। प्रस्तुत हंस कभी वृक्ष-शाखाओं के बीच से, कभी ज़मीन के बिलकुल पास से उड़ रहा था। इसका कारण था कि वह उस गुरुतर हार के भार से थक चुका था। इसमें स्वभावोक्ति अलंकार का चमत्कार है, गुरुतर हार के कथन से यह सिद्ध होता है कि हार अत्यन्त कीमती रहा ॥ ३१ ॥

नयनपथमयं यथा तवारा[1]त् त्वमपि तथास्य सितच्छदस्य यातः ।
अवनितलमृगाङ्क ! यद्भवान्तरा चकितमिवायमितस्ततः प्रयाति ॥ ३२ ॥

हे पृथ्वी के चन्द्रमा ! जिस प्रकार यह हंस दूर से ही आपकी दृष्टि में आया, अर्थात् दूर ही से आपकी दृष्टि इस पर पड़ी, वैसे ही आप इस हंस की दृष्टि में आ गये हैं। अर्थात् इसने भी आपको देख लिया है। इसीलिये यह चकित (भयभीत) सा होकर वन में इधर उधर भागा भागा फिर रहा है ॥ ३२ ॥

निचुल[2]वनमतीत्य वर्ततेऽयं पुरत इमामयमब्जिनीमुपेतः ।
नवजलधरशङ्कयेव शङ्के तरुणतमालवनाद्वितो निवृत्तः ॥ ३३ ॥

यह बेतस वन को पार कर चुका है तथा सामने वाली कमलिनी के पास पहुँच रहा है। मैं सोचता हूँ, इसने नई तमालवीथि को इसलिये छोड़ दिया है, मानो वह नव जलधर माला सी हो ॥ ३३ ॥

किसलयकलिताञ्जलिं त्वरावान् अयमुपसर्पति नीलसिन्दु[3]वारम् ।
क्षणमयमिह बालचूतमौलौ विचकिलमारयविलासमादधाति ॥३४॥

शीघ्रता से चलने वाला यह हंस कोमल किसलयों की अंजलि बनाने वाले नील सिन्दुवार वृक्ष के पास आ रहा है। और ज़रा ही देर में छोटे आम के पेड़ के ऊपर विकसित मञ्जरी की शोभा धारण कर रहा है ॥ ३४ ॥

---

१ 'आराद् दूरसमीपयोः'—अमरकोश।

२ 'निचुलो हिज्जुलोऽम्बुज' अमरकोश—ये तीनों शब्द 'स्थलवेत' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। निचुल को हिन्दी में निर्चोल भी कहा जाता है।

३ 'सिन्दुवारे न्द्रसुरसौ निर्गुण्डी'—अमरकोश—सिन्धवार।

अयमभिनवकर्णिकारयष्टिं झटिति घनस्तवकस्तनीमुपात ।
अयमतिचपलो निसर्गरक्तां स्थलनलिनीमवधीर्य देव ! यातः ॥ ३५ ॥

हे देव ! अब यह शीघ्र ही घने पुष्पगुच्छ रूपी स्तन वाली नवीन कर्णि-कार (बड़हर) लता (कनेल का पेड़) के पास पहुँच गया है । यह अत्यन्त चपल है, क्योंकि स्वभाव से ही लाल (प्रेम में पगी) स्थल-कमलिनी का तिर-स्कार कर अर्थात् उसे छोड़कर आगे बढ़ गया है ॥ ३५ ॥

अयमिह हि लतामुपैति कौन्दीं[1] कुसुमवतीं नवमाधवीं[2] विलङ्घ्य ।
क्वणदलिवलयासु नाऽऽसु तेन स्खलितमितः सहकारमञ्जरीषु ॥३६॥

अब यह पुष्पसंभार से युक्त वासन्ती लता को छोड़कर इस कुन्द पुष्प-लता पर आ रहा है । भ्रमरों के समूह के समूह जिन पर गुंजार कर रहे हैं, ऐसी आम्रमंजरियों पर भी इसका मन नहीं ठहरता ।

विमर्श—यहाँ कवि ने रूपक अलंकार का चमत्कार दिखाया है । जैसे कोई नायक पहले मुग्धा नायिका के पास जाय, फिर मध्या नायिका के पास जाकर भी जब उसका मन वहाँ नहीं लगता, तब वह प्रौढ़ा नायिका के पास जाता है। यह हंस तो प्रौढ़ा नायिका (सहकार-मंजरियों) के पास जाकर भी वहाँ स्थिर न हो सका । अर्थात् अत्यन्त चंचल नायक की तरह इसका बर्ताव है ।। ३६ ।।

अभिसरति वनस्थलीमिवैताम् मदनवतीमयमूढकामिलीलः ।
स्फुरदतनुशिलीमुखस्य चाग्रे विचरति कर्ण इवायमर्जुनस्य ।। ३७ ।।

किसी कामासक्त पुरुष के हाव-भाव को यह हंस दिखा रहा है । कामी पुरुष किसी कामोन्मत्ता से अभिसरण करता है, यह हंस वनस्थली के साथ अभिसरण कर रहा है । अर्थात् इस पर से जोरों से उड़ा जा रहा है । भयंकर बाणवर्षा करने वाले अर्जुन के सामने जिस तरह कर्ण विचरण कर रहा था, उसी प्रकार यह भी बहुत से भौंरे जिसके आस-पास मँडरा रहे थे, ऐसे अर्जुन वृक्ष के आगे विचरण कर रहा है ।

विमर्श—यहाँ शिलीमुख तथा अर्जुन दो पद श्लिष्ट हैं । शिलीमुख—'अलिबाणौ शिलीमुखौ'—अमरकोश । भ्रमर तथा बाण । अर्जुन—तृतीय पाण्डव तथा एक प्रकार का वृक्ष—'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः'—अमरकोश ।। ३७ ।।

श्रममपहरतस्तनूर्मिवातैर् अयमतिथिर्वनपल्वलस्य[3] जातः ।
तरुततिषु तिरोहितोऽऽयमेतास्त्वयमरविन्दवनादिवोज्जिहीते ।। ३८ ।।

---

१. 'वासन्ती माधवी लता' अमर ।

२. 'माध्यं कुन्दम्'—अमर । यह सफेद रंग का एक पुष्प है ।

३. 'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरो'—अमर । पल्वल का अर्थ है छोटा तड़ाग अर्थात् पोखरी-पोखरा आदि ।

अपनी तरंगों की मन्द वायु से जो इसके शरीर की थकान को दूर कर रहा है उस तड़ाग का यह अतिथि बन गया है। (अर्थात् वहाँ पर रुक गया,) और अब यह वृक्षों के झुरमुट से ढँका हुआ सा दिखाई दे रहा है। देखो, अब यह कमल वनों से भी निकलता चला जा रहा है॥ ३८॥

कुरबकनतः कदम्बराजिं व्रजति ततो मुचकुन्दकाननानि।
इति नगमवगाहते सहारस् त्वमिव धृतक्लम एष राजहंसः॥ ३९॥

(अब यह) कुरबका से हटकर कदम्ब वृक्ष के पास पहुँच गया है। वहाँ से जल्दी जल्दी मुचकुन्द के वन में पहुँच गया है। तुम्हारी तरह ही थका हुआ यह राजहंस हार सहित अब पर्वत में घुसना चाहता है॥ ३९॥

कुरु विजयमितो समार्पयैतत् धनुरधुना ससुवर्णपुङ्खबाणम्।
यदयममितगतिर्गतोऽतिदूरं जलपतगः सह नः कुतूहलेन॥ ४०॥

अब आप स्वर्णफलकवाले बाणों सहित इस धनुष को मुझे दीजिये और इस पर (हंस पर) विजय प्राप्त कीजिये। क्योंकि हमारे कौतूहल के साथ ही साथ यह हंस शीघ्रगति से बहुत दूर निकल गया है। अर्थात् देखते देखते यह बहुत दूर निकल गया, अतः अब देर लगाना उचित नहीं॥ ४०॥

हंसानुगमनम्

इति कथयति चापमर्पयित्वा सममिषुभिः स रमाङ्गदे नरेन्द्रः।
पतगमनुययौ तमात्तहारः हरति न कं नववस्तुसम्प्रयोगः॥ ४१॥

हंस के पीछे दौड़ना

रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर राजा ने बाण सहित धनुष उसको दे दिया, और स्वयं हार लिये हुए उस हंस के पीछे गया। (सच है) नवीन वस्तुओं का सम्पर्क (उसे प्राप्त करने की इच्छा) किसके चित्त को नहीं हर लेता॥ ४१॥

ऋजु तमथ विहायसा व्रजन्तम् रभसवशादनुगच्छतो नृपस्य।
समजनि भृशमायतोऽस्य पन्थाः तरुविटपाऽवटवर्जनेन वक्रः॥ ४२॥

सीधे आकाश में उड़ने वाले उस हंस के पीछे, जल्दी-जल्दी जाते हुए राजा को विटपों और गर्तों (गड्ढों) से बचाव करने से घुमाव के कारण मार्ग बहुत लम्बा सा मालूम पड़ने लगा।

विमर्श—हंस आकाश में उड़ रहा था। उसको कोई असुविधा न थी। उसका मार्ग सरल सुगम था। राजा को जमीन पर चलना पड़ रहा था। अनेक गड्ढे-गुड्ढे पड़ते थे। अतः राजा को यह मार्ग अपेक्षाकृत लम्बा लगना स्वाभाविक ही था॥ ४२॥

नृपतिरनुययौ वने विहङ्गं नृपतिमभि प्रणयी रमाङ्गदोऽपि ।
श्रुतमिव विशदं शुचिविवेकःक्षितिनि विवेकमिवान्तरः प्रसादः ॥ ४३ ॥

उस वन में राजा हंस के पीछे-पीछे चला और राजा के पीछे-पीछे राजा का प्रियपात्र रमाङ्गद भी चला। वह दृश्य ऐसा लग रहा था, मानो किसी यशस्वी व्यक्ति के जीवन में शुद्ध विवेक विशद शास्त्र के पीछे चल रहा हो और अपना आन्तरिक प्रसाद (प्रसन्नता) विवेक के पीछे चल रहा हो ॥ ४३ ॥

अथ कमलसरस्तरङ्गदोला-वलयविलोलरथाङ्गनामयुग्मम् ।
मदकलकलहंसनादकृष्टः श्रमविवशः स सितच्छदः प्रपेदे ॥ ४४ ॥

मदविह्वल कलहंसों के नाद से आकृष्ट हुआ, थका हुआ वह हंस तरंग रूपी झूले[1] पर, जिसमें चकवा-चकवी का जोड़ा क्रीड़ा कर रहा है, उस कमल-मण्डित तालाब के पास पहुँचा ॥ ४४ ॥

विलुलितकबरी[2]कलापमाल्या मृदुनवशैवलमेखला वहन्त्यः ।
रतिरणमवसाय यत्र नित्यं सह रमणैरमराङ्गना रमन्ते ॥ ४५ ॥

वह तालाब ऐसा था, जहाँ पर रतिक्रीड़ा को समाप्त कर, केशपाश (जूड़ा) में अस्तव्यस्त रूप में स्थित मालाओं को धारण करनेवाली, कोमल एवं नवीन शैवाल (काई) की करधनी पहनी हुई अप्सराएँ अपने प्रेमियों के साथ विहार किया करती हैं ॥ ४५ ॥

सलिलगतधियाऽथ तेन दूरान् स गुरुरमुच्यत निःसहो न हारः ।
जड(ल)हृत हृदयाः कियच्चिरं वा गुणमहतामिह भारमुद्वहन्ति॥४६॥

थके हुए उस हंस ने जल में प्रविष्ट होने की इच्छा से उस बोझिल हार को दूर से ही जल में फेंक दिया, क्योंकि जड़ता ने जिनके हृदय को हर लिया है, ऐसे लोग गुणशाली वस्तुओं के भार को कितनी देर तक ढो सकते हैं ।

विमर्श—उस तालाब को देखते ही हंस के मन में जलावगाहन की इच्छा होना उसकी प्रकृति के अनुरूप स्वाभाविक ही था। फिर वह बेहद थका भी था। अतः उसने वह हार ऊपर से ही फेंक दिया। इस पर कवि ने अर्थान्तर-न्यास द्वारा अपनी बात पुष्ट की। जिनका हृदय मूर्खता के अधीन हो चुका है, अर्थात् मन्दबुद्धि वाले महान् गुणों का भार कब तक ढो सकते हैं, वह तो उसे तत्काल दूर कर देंगे ॥ ४६ ॥

---

१. झूले पर चढ़कर झूलने से वलय अर्थात् चक्कर आता है। यहाँ तरंग रूपी झूले से वलय याने भँवर की उत्पत्ति से तात्पर्य है। उस भँवर में इधर-उधर थपेड़े खाने से चंचल चकवा-चकवी का जोड़ा जिसमें था, ऐसा तालाब।

२. 'कबरी केशपाशः स्यात्'—इत्यमरः।

स च सितसमरीचिचञ्चुलेशो विगलितहारलताभिषेण हंसः ।
परिणतबिसकाण्डभङ्गपीतं पय इव विस्तृतवारमुज्जगार ॥ ४७ ॥

फैली हुई हार की किरणों से युक्त चोंच वाले उस हंस ने जब उस हार को पानी में फेंका, तो ऐसा जान पड़ा कि मानो भक्षण करने के पश्चात् पके हुए खोखले कमल-खण्डों द्वारा पिये हुए जल की सी धार फेंकी गई हो।

विमर्श—उस हंस की चोंच का अग्रभाग हार की इतस्ततः फैलने वाली किरणों से शोभित था। उस हंस ने जब हार तालाब में फेंक दिया, तब ऐसा मालूम पड़ा कि कमलवन में निवास के समय पके हुए मृणाल खण्डों के भक्षण के साथ जो पानी पिया गया था, या पोले मृणाल दण्ड से जो पानी पीया गया था, उसीको अब छोड़ रहा हो। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ४७ ॥

अथ कनकमृणालिकायुगस्य द्युतिनिचयेन चिरं विसर्पताथ।
अशिशिरमहसो निसारिणा खवे वलयितमंशुलताकदम्बकेन ॥ ४८ ॥

इसके पश्चात् स्वर्ण कमल समुदाय के नीचे फैलती हुई उस हार की कान्ति ने आकाश में फैलने वाले सूर्य किरणों के समान एक गोल आवृत्त (घेरा) सा वहाँ पर बना दिया ॥ ४८ ॥

तटभुवि तमपश्यदापतन्तं पतिरवनेरवतंसि[1]तायताक्षः।
सितमभिनवहेमदण्डशोभि स्फटिकशलाकमिवातपत्रमैन्द्रम् ॥ ४९ ॥

तब सुशोभित दीर्घ नेत्रों वाले उस राजा ने तालाब के तट पर आते हुए उसे देखा। वह ऐसा प्रतीत होता था, जैसे तपाये हुए सोने का दण्ड लगा हुआ तथा स्फटिक शलाकाओं से बना हुआ इन्द्र का छत्र हो ॥ ४९ ॥

सरसि धवलिते तत समन्तात् अमृतमरीचिरुचेव तस्य कान्त्या।
व्यधित बलवती वियोगपीडा पदमपदे हृदयेषु चक्रनाम्नाम् ॥ ५० ॥

चन्द्रमा की कान्ति की भाँति उस हार की कान्ति से जब सारा सरोवर सफेद ही सफेद लगने लगा, तब अत्यधिक विरह वेदना ने असमय में ही चकवा-चकवी के हृदय पर अधिकार कर लिया (वे विरह शंका से व्याकुल हो उठे) ॥ ५० ॥

अतिविततगुणोऽधाम्नि तस्मिन् निपुरमथ पतिते विशुद्धिभाजि।
कथमपि वसुधाधिप प्रमोदं झटिति जगाम गुणिष्वमत्सरो हि ॥ ५१ ॥

अत्यधिक गुणों के भण्डार, पवित्रता से पूर्ण, उस हार के (पानी में) गिर जाने पर वह भूपति हार रहित उस हंस को देखकर किसी तरह याने बड़ी कठिनाई से प्रसन्न हुआ, क्योंकि गुणी लोगों के चित्त में ईर्ष्या नहीं होती।

---

१ 'अवतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे'—अमरकोश।

विमर्श—यह बात कविसमयप्रसिद्ध है कि चक्रवाकों का जोड़ा सूर्योदय होते ही अर्थात् दिन में तो संयुक्त रहता है। पर जैसे-जैसे चन्द्रोदय होता जाता है, वे एक दूसरे से दूर-दूर होते जाते हैं ॥ ५१ ॥

अथ नभसि पिशङ्गसान्ध्यरागच्छुरित इवाम्बरनिम्नगातरङ्गम्।
कियदपि सरसस्तटे स गत्वा कमलरजः कपिशं ददर्श हारम् ॥ ५२ ॥

तालाब के किनारे जाकर राजा ने कमल-पराग से पीत वर्ण वाले उस हार को ऐसे देखा, मानो आकाश में पीत और लोहित संध्याकालीन लालिमा की शोभा से युक्त आकाश-गङ्गा की तरंग हो।

विमर्श—यहाँ पर आकाश-गंगा से तालाब का, तरंग से हार का सादृश्य वर्णित है। आकाश में सायंकाल में सूर्यास्त-छटा बड़ी मनोरम रहती है! उस समय आकाश में कुछ धुँधलापन लिये रक्तिमा रहती है ॥ ५२ ॥

स च सपदि रमाङ्गदोपनीतं कनकसरोरुहकान्तिना करेण।
निजयश इव मूर्तमाददे तं भुवनतलाभयदानदीक्षितेन ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् शीघ्र ही स्वर्णकमल की कान्तिवाले एवं समस्त भुवनतल को अभयदान देने में दक्ष (अथवा समस्त लोक को अभयदान की दीक्षा देनेवाले) हाथ से राजा ने रमाङ्गद द्वारा लाये गये उस हार को अपने मूर्तिमान यश की भाँति ग्रहण किया ॥ ५३ ॥

सुजनमिव गुणैरुपोढशोभं शुचितरबालमृणालसूत्रदीर्घैः।
अहमहमिकया कृतप्रवेशं तरणिकरग्लपितैरिवेन्दुपादैः ॥ ५४ ॥

वह हार श्वेत लघु मृणाल-तन्तुओं के समान मुलायम दीर्घ सूतों से गूँथा गया था, और उन गुणों (सूतों) से ऐसा सुशोभित हो रहा था, जैसे गुणों से सज्जन शोभा पाते हैं। तथा सूर्य की किरणों से मन्द पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणें मानो उसमें होड़ लगाकर प्रविष्ट हो रही हों ॥ ५४ ॥

दधतमरुणमङ्गरागशोणं क्वचिदपि यष्टिषु तारमौक्तिकासु।
घटितमिव नवातपेन किञ्चिद् बहुनवया शशलक्ष्मणस्त्विषा च ॥ ५५ ॥

चञ्चल (तरल) मोतियों की लड़ियों के बीच में लगे हुए अंगराग से वह ऐसा जान पड़ता था, मानो वह एक ही साथ बालसूर्य की किरण और चन्द्रमा की चन्द्रिका दोनों से बना हो।

विमर्श—हार के मणियों की कान्ति एकदम सफेद थी। और उसमें लगा हुआ था लाल अंगराग। उससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि उसमें प्रातः-कालीन सूर्य की लाल किरणें तथा चन्द्रमा की कान्ति एक साथ ही संक्रान्त हुई थी ॥ ५५ ॥

अतिविततरुचिं बृहन्मध्यमन्तसृतरलमपि तरुणेन्द्रगोपशोभम् ।
अविरलमसकृन्निवासलग्नं ललितवधूहृदयादिवानुरागम् ॥ ५६ ॥

उसके बीच का मध्यमणि जो वीरबहूटी (इन्द्रगोपवधू) की-सी शोभा दिखा रहा था, और जिसकी कान्ति चारों ओर फैल रही थी, ऐसा लग रहा था मानो किसी सुन्दरी के हृदय में निरन्तर रहने के कारण उसका प्रगाढानुराग ही हो ॥ ५६ ॥

कतिचिदपि लतान्तरे दधानं मृगमदलिप्ततलानि मौक्तिकानि ।
शबलजललवैरिवाचजन्मान्यमरनदीयमुनातिथेर्घनस्य ॥ ५७ ॥

उसकी कुछ लड़ियों में कस्तूरी के लेप से युक्त कुछ मोती पिरोये गये थे। वे ऐसे लग रहे थे, मानो इन मोतियों का जन्म अमरनदी गंगा और यमुना के पानी पीनेवाले बादलों के उदर से हुआ हो।

विमर्श—गंगाजी का पानी है सफेद और यमुना का नीलवर्ण का। इसी तरह उस श्वेत हार में कस्तूरीलिप्त कुछ ऐसे मणि गुथे थे, जिनकी कान्ति नीलवर्ण की थी। इससे उत्प्रेक्षा यह होती है कि गंगा यमुना का जल जो मेघ ने पी लिया, उन्हीं जलकणों से उनकी उत्पत्ति हुई हो ॥ ५७ ॥

अनुगुणपदवीविनिर्गतासु प्रतिलडमायतमौक्तिकप्रभासु ।
रजनिकरमरीचिसूचिदीर्घैर्बहुभिरिव ग्रथितं मृणालसूत्रैः ॥ ५८ ॥

जिसकी प्रत्येक लड़ी में अपनी अपनी सीध में किरणें निकल रही थीं, और इसलिये वह ऐसा लगता था, मानो चन्द्रमा की किरणों के समान सूक्ष्म और लम्बे मृणाल सूत्रों से ही गूँथा हुआ हो ॥ ५८ ॥

अतिदृढमनुरक्तया वितीर्णम् मुखरमहोदधिमेखला वहन्त्या ।
उरसि निहितमन्धुजीवमुख्यैर्विचकिलमाल्यमिव स्वयंवराय ॥ ५९ ॥

जो कि मानो बहुत प्रेम में पगी, मुखरित महासमुद्ररूपी मेखला को धारण करनेवाली पृथ्वी वधू के द्वारा महाराज के ही वक्षःस्थल पर पहनाये गये जीवबन्धु (गुल दोपहरी) के फूलों से गुथे मौलसरी के बने स्वयंवर-हार की भाँति लग रहा था ॥ ५९ ॥

कुलकम्

अरुचदथ करे स तस्य बिभ्रत् युवतिरदच्छदकान्तिमध्यरत्नम् ।
किमपि मनसिजेन शासनाङ्कं प्रहितनिजायुधचित्रपुष्पमुद्रः ॥ ६० ॥

युवतियों के दन्त[१] के पर्ण अर्थात् रक्त ओष्ठ की कान्ति के समान (लाल लाल) मणि जिसके मध्य में गुँथे थे, वह चमकता हुआ हार राजा के हाथ

[१] रद याने दाँत के पर्ण क्या हो सकते हैं। अतः पर्णसादृश्य से ओंठ का ग्रहण किया गया है।

में शोभा पा रहा था, मानो कामदेव के द्वारा भेजा गया लाल मुहर (मुद्रा) से अङ्कित कोई शासन-पत्र हो ॥ ६० ॥

शशिकररुचिना स तेन रेजे मृदुकर[१] पुष्करवर्तिना नरेन्द्रः ।
अमरपुरधुनी समुद्धृतेन त्रिदशकरीव मृणालकन्दलेन ॥ ६१ ॥

चन्द्रमा की किरण-कान्तिवाले उस हार से, जो कि कोमल कर-कमल पर विराजमान था, महाराज ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे मन्दाकिनी से उखाड़ कर अपने सुन्दर शुण्डादण्ड में रखे मृणालकन्दल से ऐरावत सुशोभित हो रहा हो ॥ ६१ ॥

उरसि नरपतेः पतंश्चकाशे कनकशिलाविपुले तदंशुपूरः ।
अखिलभुवनकोशराजलक्ष्म्या निहित इवाधिकमुत्कया कटाक्षः ॥ ६२॥

स्वर्णशिला के समान विस्तृत राजा के वक्षःस्थल में वह हार डाल दिया गया, तब इस हार की किरण-कान्ति का समुदाय अत्यधिक चमक उठा। मालूम होता था, मानो समस्त भुवन-समूह को धारण करने वाली लक्ष्मी ने अत्यन्त उत्कण्ठित होकर इस राजा पर एक कोमल कटाक्षपात किया हो ॥६२॥

विकृतिरुदधिशुक्तिषु च्युतानां ध्रुवमियमिन्दुकलासुधालवानाम् ।
जलदजलकणोद्भवेषु कामं निवसति कान्तिरियं न मौक्तिकेषु ॥ ६३ ॥

राजा उस हार को देखकर कल्पना करता है कि इस हार के ये मोती निश्चित ही समुद्र की सीपों में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से गिरे हुए अमृत-बिन्दुओं से बने होंगे; क्योंकि बादल के जलकणों द्वारा उत्पन्न होने वाले मोतियों में तो ऐसी कान्ति (पानी) होती नहीं ॥ ६३ ॥

न किमयमुडुमण्डलापवादः कुमुदवनानि पुरोऽस्य न त्रपन्ते ।
कथमयमवधिर्न मुक्तिभाजाम् इति तमवेक्ष्य स चिन्तयाञ्चकार ॥६४॥

इसकी कान्ति ऐसी लग रही है, जिसके सामने तारों की जगमगाहट भी किसी काम की नहीं। इसके सामने तो कुमुदवन भी लज्जित प्रतीत हो रहे हैं, यह तो सचमुच मोतियों की सुन्दरता की पराकाष्ठा है। इस प्रकार उसे देख-कर महाराज सोच में पड़ गये।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में वक्रोक्ति के द्वारा नञ्मुखेन विधि दिखाई गई है। अतः विशेष चमत्कार है ॥ ६४ ॥

स्फुरदुदरनिवेशितेन्द्रनीलां मदजलराजिमिव स्मरद्विपस्य ।
अवनिपतिरपश्यदक्षराणां ततिमथ हारमृणालिकान्तराले ॥ ६५ ॥

राजा ने हार की लड़ियों के भीतर नीले अक्षरों की पंक्ति देखी, जिसके बीच में चमचमाते हुए इन्द्रनील (नीलम) मणि जड़े हुए थे। उससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि कामदेव रूपी गजराज की मदजल की पंक्ति हो ॥६५॥

---

१. पुष्कराम्भोरुहाणि च—अमरकोशः ।

अभिनवलिखितामिव प्रशस्तिं मदनमहानृपते' स पार्थिवेन्द्रः।
इति निबिडकुतूहलाकुलस्ता ललितपदाभरणामवाचयच्च ॥ ६६ ॥

भूपति ने अत्यन्त उत्सुकता के साथ सुन्दर पदों से सुशोभित उस अक्षर-पंक्ति को पढ़ा। वह ऐसी लगी, जैसे अभी-अभी कामदेव की प्रशस्ति-पत्रिका ही लिखी गई हो॥ ६६ ॥

मनसिजवरवीरवैजयन्त्यास त्रिभुवनदुर्लभविभ्रमैकभूमेः।
कुचमुकुलविचित्रवल्ली परिचित एष सदा शशिप्रभायाः ॥ ६७ ॥

उसमें लिखा था कामदेव रूपी प्रबल प्रतापी वीर योद्धा की विजयपताका रूप में उत्पन्न हुई त्रैलोक्य में अनन्यसाधारण अप्रतिम हाव भावों से परिपूर्ण शशिप्रभा के स्तनरूपी कली के साथ विचित्र लता के रूप में यह हार प्रसिद्ध है॥

किमु विपुलमिमं मनुष्यलोकं पुरमुत पर्वतपक्षशातनस्य।
किमु युवतिरियं भुजङ्गभर्तुर्भुवनमलङ्कुरुते शशिप्रभेति ॥ ६८ ॥

उस अक्षर पंक्ति को पढ़कर राजा ने सोचा—यह शशिप्रभा नाम की युवति क्या इस विस्तृत मनुष्यलोक में रहने वाली है, अथवा पर्वतों के पंखों को नष्ट करनेवाले (इन्द्र) के नगर की रहने वाली है। अथवा यह नागराज के लोक (पाताल) में रहने वाली तो नहीं है ? ॥ ६८ ॥

वदति शशिमुखीमितो न दूरे तरुणविलेपनभिन्न एष हारः ।
सरितमिव वनान्तरे समीरः स्फुटितसरोरुहरेणुना पिशङ्गः ॥ ६६ ॥

परन्तु इस हार पर तो ताजा ताजा कस्तूरी का लेप किया हुआ है। इस से तो यही प्रतीत होता है कि वह शशिमुखी यहाँ से अधिक दूर नहीं है। जिस भाँति विकसित कमलों के पराग से पीतवर्ण का (अर्थात् परागकणों के कारण धूसर वर्ण का—यह कविसमयसिद्ध पदार्थ है,) वायु जब इधर उधर चलता है तो पता लगता है कि वन में कहीं आस-पास ही नदी होगी॥ ६६ ॥

कुसुमशरसखस्य कस्यचित्किं समजनि नागतलाधिदेवसेयम्।
इत मुकुलितमन्मथावतारे पथि विचरेदधिनाककन्यकानाम्॥ ७० ॥

क्या यह शशिप्रभा कामदेव के मित्र अर्थात् सौन्दर्य में काम के समान सुन्दर किसी युवक की अर्धाङ्गिनी होकर तो नहीं पैदा हुई, (स्त्री) अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यह अभी स्वर्ग-कन्याओं के उस मार्गपर विचरण कर रही हो, जिसमें काम का प्रथमाविर्भाव होता है॥ ७० ॥

अपि कृतनयनोत्सवेन तन्वी तरुणसुधामधुरेण दर्शनेन।
मुदमुपजनयेद्धने किमेषा ? मम शरदिन्दुकलेव कैरवस्य ॥ ७१ ॥

जिस भाँति शरद् कालीन चन्द्रमा की किरणों से कुमुद को अत्यन्त प्रसन्नता होती है, क्या उसी भाँति यह भी नूतन अमृत के समान मधुर तथा नेत्रों को

आनन्द देनेवाले अपने दर्शन से मुझे इस वन में आनन्दित करेगी ? अर्थात् क्या इसके यहाँ आसपास मिलने की सम्भावना है ? ॥ ७१ ॥

इति कियदपि यावदेव चिन्ता-वशमगमत्स मनुष्यलोकपालः ।
धनुरपि निचुलं विधाय तावत् कुसुमशरोऽस्य बभूव पार्श्ववर्ती ॥ ७२ ॥

इस भाँति जब राजा कुछ चिन्तित हुआ, तब शीघ्र ही मौलसरी पुष्प का धनुष धारण कर कुसुमशर (काम) भी मानो उसके पास आ खड़ा हो गया ॥

अथ सम्भ्रमादनुचरेण विनिहिततमालपल्लवे ।
आस्त तरुकुसुमसंवलिते सरसः स सैकतशिलातले नृपः ॥ ७३ ॥

इसके बाद वह राजा उस तालाब के एक ऐसे बालू के ढेर पर बैठ गया, जिस पर रमाङ्गद ने जल्दी ही तमालपत्र रखकर फूल बिछा दिये थे ॥ ३७ ॥

आलक्ष्य स्तनसख्यलक्ष्मणि ततस्तस्मिन्कुरङ्गीदृशो ।
मुक्तादाम्नि करोदरप्रणयितामाप्ते तुषारत्विपि ।
विस्मृत्या सहसा हृतं चतुरया क्रोडीकृतं चिन्तया ।
चेतः श्रीनवसाहसाङ्कनृपतेरुत्कण्ठयाऽकृष्यत ॥ ७४ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये शशिप्रभाहारलाभो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

उस मृगनयनी शशिप्रभा के स्तनों से मित्रता रखने वाले हिम-धवल कान्ति वाले हाथ पर स्थित उस मोतियों के हार को देख-देख कर श्री नवसाहसांक नृपति के चित्त को विस्मृति ने हर लिया, चतुर चिन्ता (कामिनी) ने उसके चित्त को अपनी गोद में ले लिया, और मिलन की उत्कण्ठा ने उसके चित्त को आकृष्ट कर लिया ।

विमर्श—वह राजा हार को देखकर सब कुछ भूल गया और उसे चिन्ता ने घेर लिया । उसका मन शशिप्रभा से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो उठा ।

इस श्लोक में 'चिन्तया' पद के साथ 'चतुरया' विशेषण विशेष चमत्कारी है । जिस तरह कोई चतुर नायिका नायक के मन में किसी अन्य रमणी का ध्यान आते देखकर तत्काल उसे विविध हाव-भावों से वश करना चाहती है, उसी तरह चिन्तारूपी नायिका ने राजा के मन में शशिप्रभा के प्रति अनुरागोद्रेक होते देखकर तत्काल उसे अपनी गोद में ले लिया ॥ ७४ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित नवसाहसांकचरित महाकाव्य का शशिप्रभाहारलाभ नामक तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थः सर्गः

ततः स चेतस्यवनीपतिर्दधे शशिप्रभालोकमहोत्सवस्पृहाम् ।
तपोढरागामुदधिस्तटोदरे नवोद्गतां विद्रुमकन्दलीमिव ॥ १ ॥

हारप्राप्ति के पश्चात् राजा के मन में शशिप्रभा के दर्शन महोत्सव की लालसा उसी तरह जागी अर्थात् राजा ने उस लालसा को अपने हृदय में उसी तरह धारण किया, जैसे समुद्र अपने तट के मध्यभाग में पड़े हुए नवागत अतएव लाल मूंगे की कलियाँ धारण करता है ॥ १ ॥

शशिप्रभाशानलिनीमृणालताम् उपागते मौक्तिकदाम्नि सादरः ।
तदागते दूत इव न्यवेशयत् स दशि०प्रेमलवे विलोचने ॥ २ ॥

राजा ने उस हार पर, जब कि उसमें शशिप्रभा के मिलने की आशा कमलिनी के नाल-सी दिखाई देने लगी (उसे विश्वास हो गया कि शशिप्रभा का मिलन अवश्यभावी है), अपने प्रेमपूर्ण नेत्र भी इस भाँति गड़ा दिये मानो वहाँ से (शशिप्रभा की ओर से) आये किसी दूत को (सस्नेह) देख रहा हो ॥ २ ॥

पुनः पुनः षट्पदराजिमेचकां तदिन्द्रनीलाक्षरपङ्क्तिमैक्षत ।
स तत्क्षणान्मन्मथजातवेदसः तनीयसीं धूमलतामिवोद्गताम् ॥ ३ ॥

जो काले भ्रमरों की कतार के समान काली काली लग रही थी, उस हार में जड़े नीलम से अङ्कित उस अक्षर-पङ्क्ति को वह राजा बार बार ऐसे देखने लगा, मानो उसे वहाँ पर अकस्मात् कामाग्नि की हल्की धूमरेखा सी निकलती दिखाई पड़ रही हो ॥ ३ ॥

सुगन्धिहारादनुलेपनः करे समुन्मिषत्स्वेदलवे विलुम्पति ।
असङ्गताया अपि दीर्घचक्षुषः पयोधरस्पर्शमिवाससाद सः ॥ ४ ॥

उस राजा ने पसीने की बूंदों से भरे हुए अपने हाथ में उस सुगन्धित हार के द्वारा वस्तुतः ऐसा अनुभव किया, मानो वह अपने से दूर रहने वाली भी उस आयताक्षी (दीर्घनेत्रा) शशिप्रभा के स्तन स्पर्श का आनन्द ले रहा हो ।

विमर्श—किसी भी प्रियजन की कोई वस्तु हाथ में आ जाय तो अत्यधिक प्रेमाधिक्य के कारण मनुष्य को उस प्रियजन के साक्षात् मिलन का अनुभव होता है, यह लोकप्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

तदीयनामाङ्कलिपिं शनैः शनैः सलीलमावर्तयितुं प्रचक्रमे ।
परिस्फुरत्पल्लवपाटलाधरो रहस्यविद्यामिव मन्मथस्य सः ॥ ५ ॥

धीरे-धीरे वह राजा 'शशिप्रभा,' इस नाम की अक्षर-पंक्ति को बार-बार बड़े प्रेम से दोहराने लगा। जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह अपने फड़कते हुए किसलयों की तरह लाल अधरोष्ठ से कामदेव के गूढ़ शास्त्र को बार-बार दोहरा रहा हो ॥ ५ ॥

अनेकरूपाऽलिखनप्रगल्भया सुतीक्ष्णया वर्तिकयेव चिन्तया।
स तामनाप्तेक्षणसंस्तवां पुरा लिलेख चित्ते मुहुरन्यथान्यथा ॥ ६ ॥

नाना प्रकार की चित्र-कल्पना में प्रवीण, अति तीक्ष्ण चिन्तारूपी तूलिका से वह राजा आँखों से कभी न देखी गई उस शशिप्रभा का विभिन्न प्रकार का चित्र अपने मानस-पटल पर अंकित करने लगा अर्थात् चिन्ता के कारण उसके विषय में सोचता हुआ उसके सम्बन्ध में नाना भाँति की कल्पना करने लगा।

विमर्श—जिस तरह कोई कुशल चित्रकार सुन्दर तथा नोकवाली कूँची से कागज या पटल पर ऐसे-ऐसे चित्र अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर खींचता है, जिन्हें उसने कभी देखा भी नहीं होता, राजा भी अपने चित्त रूपी पटल पर चिन्ता रूपी कूँची से कभी न देखी हुई शशिप्रभा के अनेक कल्पना-चित्र खींचने लगा ॥ ६ ॥

अनङ्ग-चण्डातपतप्तयोस्तदा शशिप्रभाविभ्रमदर्शनम्प्रति।
द्वयोरभूदुत्सुकता वनान्तरे विलासिनस्तस्य च कैरवस्य च ॥ ७ ॥

तब उस वन में शशिप्रभा की सुन्दरता को देखने के लिये काम से पीड़ित विलासी राजा और धूप से व्याकुल कुमुद दोनों की उत्सुकता मानो बढ़ने लगी।

विमर्श—रात्रि में चन्द्रोदय के साथ ही कुमुद विकसित होता है। अतः उसका चन्द्रमा के लिये उत्सुक रहना स्वाभाविक है। राजा भी शशिप्रभा के लिये व्याकुल है। यहाँ सात्त्विक व्यभिचारी भाव 'औत्सुक्य' विशेष चमत्कारी है ॥ ७ ॥

उदग्रदिग्वारणहस्तहारिणा स दक्षिणेन स्फुरता च बाहुना।
स्थिरीकृताशो मनसापि दुर्लभाम् अदुर्लभामिन्दुमुखीममन्यत ॥ ८ ॥

विशाल दिग्गज के सूंड के समान (परिपुष्ट एवं बलशाली) दक्षिण हस्त के फड़कने के कारण मन से भी न प्राप्त हो सकने वाली शशिप्रभा को राजा ने दुर्लभ न समझा।

विमर्श—दक्षिण हाथ का फड़कना सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शुभ-सूचक चिह्न है। कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने भी जगह-जगह पर ऐसा वर्णन किया है ॥ ८ ॥

पुरो विमुग्धनयने यदृच्छया नृपस्तमालद्रुमकाननोदरे।
अपश्यदत्रावसरे विलासिनीं पयोदमध्ये शशिनः कलामिव ॥ ६ ॥

इधर उधर देखते हुए राजा की दृष्टि एकाएक तमालवृक्ष-समुदाय के बीच पड़ी। वहाँ उसने एक सुन्दरी को देखा। मानो बादलों के बीच चन्द्रकला विराजमान हो ॥ ६ ॥

नायकवाक्यम्

अथैष दीर्घा दशनाचिषः किरन् मुखाब्जवासो किरणच्छटा इव।
निरीक्ष्य तामुन्मदहंसगामिनीं रमाङ्गदं सस्पृहमित्यवोचत् ॥ १० ॥

नायक के वचन

उन्मत्त हंस की तरह चलने वाली उस रमणी को देखकर राजा ने रमांगद से उत्सुकतापूर्वक कहा। बोलते समय उसके दाँतों से कान्ति निकल रही थी। वह कान्ति चन्द्रमा की किरण छटा के समान शोभ रही थी ॥ १० ॥

शनैश्चरन्ती विपिने तत्र स्थिता नितम्बिनी कच्चिदियं दृशो पथि।
अधीरता दक्षिण[1]मातरिश्वना लतेव नीता मसृणेन माधवी ॥११॥

(हे मन्त्री) इस वन में घूमती हुई इस सुन्दरी स्त्री को क्या तुमने भी देखा है? यह तो ऐसी दिखाई दे रही है, जैसे स्निग्ध दक्षिण पवन द्वारा अधीर बनाई हुई माधवी लता हो। (मानो वह मलयाचल से कम्पित माधवीलता के समान अधीर हो रही हो) ॥ ११ ॥

युता सिताभैः सुमनोभिरेतया परिश्लथेयं कबरी नियम्यते।
उदस्तसमान्वरस्कान्तया श्रिया दिनस्य ताराशबलेव शर्वरी ॥ १२ ॥

सफेद कान्तिवाले पुष्पों से यह सुन्दरी अपनी व्यस्त (बिखरी हुई) वेणी बाँध रही है अर्थात् फूलों को वेणी में गूँथ रही है। यह वेणी ऐसी मालूम पड़ रही है, जैसे उदित सूर्य की किरण कान्ति वाली दिन की शोभा से युक्त रात हो, और रात में ताराएँ उगी हों।

विमर्श—तारा सफेद रंग की, फूल सफेद रंग के, रात्रि का रंग काला तथा वेणी भी काली—इस तरह उपमानोपमेय भाव रहने से काव्यगत सौंदर्य इस श्लोक में पर्याप्त है ॥ १२ ॥

असत्कवेर्वागिव वीतसौष्ठवे निवेशयन्ती पदमव्यवस्थया।
असावनेकस्खलितैः समाकुला विमुच्य मार्गं किमिति प्रतिष्ठते ॥१३॥

---

१ 'मलयाचल' दक्षिण दिशा में है—ऐसा वर्णन काव्य-जगत् में होता है। अतः यहाँ दक्षिण मातरिश्वा से वायु का सौगन्ध्य भी परिलक्षित होता है।

लभगप्रग्र कवि ऐसे पदों का निवेश करता है, जिनसे भाव स्पष्ट नहीं होता, जिसका पदन्यास भी अस्तव्यस्त रहता है, उस कवि के काव्य की भाँति यह भी व्याकुल होकर पदक्रम (पैरों को) भली-भाँति न धरती हुई, ठोकर खाती हुई, सुन्दर मार्ग को छोड़कर कुमार्ग (ऊबड़-खाबड़ जगह) से इधर आती हुई प्रतीत होती है।

विमर्श—जिस भाँति साधारण कवि की रचना का सौन्दर्य बिखरा रहता है, उसमें पदन्यास भी भली-भांति नहीं रहता, वह कवि काव्य के सत्मार्ग को त्याग कर कुमार्ग पर चलता है, उसी भाँति यह भी अस्तव्यस्त है, इसके पैर ठीक नहीं पड़ रहे हैं, और यह भी मार्ग छोड़कर जंगली रास्ते पर चल रही है ॥ १३ ॥

हठेन नेतुं वशतामिवात्मनो मनोभिरामासु विलासभङ्गिपु।
धृतांशुका ताभिरियं पदे पदे लताभिरम्भोजमुखी निरुद्ध्यते ॥ १४ ॥

मन को मुग्ध करने वाले हाव-भावों को दिखाने के कारण ये लताएँ जबरदस्ती अपने वश में लाने के लिये इस कमलनयनी सुन्दरी का आंचल पकड़ कर पग-पग पर मानो इसे रोक रही हैं।

विमर्श—झाड़-झंखाड़ में से होकर चलने से उसका आँचल बार-बार लतरों में उलझ जाता, इसी पर कवि ने यह श्रेष्ठ उत्प्रेक्षा की उड़ान भरी है ॥

विचिन्वती किञ्चिदिवेयमादरात् अपक्ष्मपातस्तिमिते विलोचने।
गतेऽवतंसोत्पल-पत्रवन्धुताम् इतस्ततः पद्मवने विमुञ्चति ॥ १५ ॥

आदरपूर्वक कुछ ढूँढती हुई-सी यह रमणी श्रेष्ठ कमल के समान अपने अपलक नेत्रों को इधर-उधर कमल-वनों की ओर डाल रही है।

विमर्श—मानो कमल-वन में किसी वस्तु को ढूँढने की इच्छा से इधर-उधर एकटक होकर देख रही है ॥ १५ ॥

मृदु प्रयान्तीयमनिम्ननिम्नयोः सितांशुका कामपि कान्तिमश्नुते।
जले कलेव प्रतिबिम्बितैन्दवी वनानिलोदञ्चदवाञ्चदूर्मिणि ॥ १६ ॥

नीचे-ऊँचे मार्ग पर धीरे-धीरे चलने वाली, श्वेत वस्त्र धारण करने वाली यह रमणी अद्भुत शोभाशालिनी प्रतीत हो रही है। मानो प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की कला वनवायु से परिचालित लहराते जल पर नाच रही हो ॥

प्रसादमस्माकमरण्यदुर्लभैर् विधेहि सालक्तकपादताडनैः।
असावशोकैः क्षणमाश्रितैः श्रमात् इतीव मत्तालिरुतैन योच्यते ॥१७॥

जिस अशोक वृक्ष के नीचे यह क्षण मात्र रही है, वह अशोक वृक्ष

मत्त भ्रमरों की गुञ्जार की ध्वनि से मानो इससे प्रार्थना कर रहा है कि अलता से रंगे चरण जो वन में कभी नहीं आ सकते थे, उनका आघात करके हम पर कृपा कर दो।

विमर्श—कवि समय का निर्वाह यहाँ पर किया गया है—'पादाहत प्रमदया विकसत्यशोक'॥ १७॥

अभेद्यमूढस्तबकाभिरावृता लताभिरीषल्लुलितालिपंक्तिभिः।
इयं पुरो मारुतनर्तितालका न लक्ष्यते व्यक्तमवामनस्तनी॥ १८॥

घने पुष्पगुच्छों से युक्त उन लताओं से घिरी जिन पर चञ्चल भ्रमर पंक्तियाँ बैठी हैं, यह विशाल स्तनों वाली रमणी जिसके बाल वायु से कम्पित हो रहे हैं, साफ साफ नहीं दिखाई दे रही है॥ १८॥

ऋजु क्वचित्क्वाप्यनृजु प्रवर्तते क्वचित्स्खलत्युच्चशिलातले पथि।
इय शनैः शैलनदीव च क्वचित् विनम्रवानीरतलेन गच्छति॥ १६॥

पर्वतीय नदी की भाँति यह रमणी भी कभी सीधे मार्ग पर चल रही है, कभी टेढे मार्ग पर चल रही है। कभी ऊँचे-ऊँचे पत्थरों से आकीर्ण मार्ग पर चल रही है और कभी बेत की लताओं के नीचे होकर चल रही है॥

स्थिता परिष्वज्य सरोजिनीमिमां घने घनेऽस्मिन् कुसुमोन्मदालिनि।
प्रयाति सासूयमिव कथंचन स्वहस्तसीमन्तितमार्गवीरुधि॥ २०॥

कुसुमों का पराग (मकरन्द) पीकर मस्त भ्रमरों से परिपूर्ण इस घने वन में खड़ी हुई यह रमणी, कमलिनी का आलिङ्गन कर, अपने हाथों से लताओं को गुस्से में मानो इधर उधर हटाकर (अपने लिये मार्ग बनाती हुई) बड़ी लापरवाही से चली आ रही है॥ २०॥

क्वचित्क्वचित्स्वेदलवोद्गमो मुखे समाहृतेयं कबरी यथा तथा।
अयं च कम्पः कुचयोर्वधूरियं रतिश्रमव्याकुलितेव लक्ष्यते॥२१॥

इसके मुख पर कहीं कहीं पसीने की बूँदें झलक रही हैं, और जैसे तैसे करके यह अपनी वेणी को सँभाले हुए है, (चलने के कारण दीर्घ श्वास आने से) इसके कुच काँप से रहे हैं। यह ऐसी दिखाई दे रही है मानो रतिक्रीड़ा में थकी हुई नववधू हो॥ २१॥

अनेन रूपातिशयेन लीलया विविक्तनेपथ्यपरिग्रहेण च।
अरण्यसञ्चारपरेयमेकिका कुतूहलं मे हृदये निषिञ्चति॥ २२॥

अपने इस सुन्दर रूप से, अपनी लीला से, अपनी अस्तव्यस्त वेशभूषा से, और एकाकी वन में विचरण करने के कारण यह मेरे हृदय में एक प्रकार का कौतूहल पैदा कर रही है॥ २२॥

असौ पराधीनतयाऽस्पदीकृतान् न वालिका न प्रतिभासते मम।
अयं स्फुरत्काञ्चनपद्मसोदरः सचामरोऽस्याः कथमन्यथा करः ॥२३॥

यह वालिका निश्चय ही पराधीन दासी जान पड़ती है, वह यदि दासी न होती तो इसके स्वर्णकमल के समान कान्ति वाले हाथ में चँवर क्यों होता। अर्थात् जिसके लिए यह चँवर धरे है, वह इसकी रानी कोई और होगी ॥२३॥

इयं किमु स्याद्वनदेवताऽऽगतागता धरां व्योमवधूरियं किमु।
अवेक्षितुं हारमिहेयमागता शशिप्रभावारविलासिनी किमु॥ २४॥

क्या यह कोई वनदेवता तो नहीं यहाँ आ गयी? अथवा आकाश की कोई अप्सरा तो पृथ्वी पर नहीं आ गयी? अथवा (शशिप्रभा के) हार को देखने के लिए उसकी कोई दासी तो नहीं यहाँ आ गयी है॥ २४॥

इतः स चित्राकृतिरीक्षितो मृगः सितच्छदादाप्तमितो विभूषणम्।
इतश्च दृष्टेयमिति प्रसूयते प्रसक्तमाश्चर्यमियं वनस्थली॥ २५॥

यह घना वन तो बड़े-बड़े आश्चर्यों से युक्त जान पड़ रहा है। उधर तो इस वन में विचित्र आकृति वाला मृग दिखाई दिया, इधर हंस से यह हार मिला, और यहाँ यह नारी भी देखी। मालूम पड़ता है, इसमें बड़े-बड़े आश्चर्य भरे हैं॥ २५॥

पाटलाया नायकदर्शनम्

इति प्रकृत्या मधुरोक्तिरुक्तवान् तयाऽऽयताक्ष्या ददृशे विशाम्पतिः।
तमालपत्रापिहिते शिलातले कुमुद्वतीकान्त इवाम्बरे स्थितः॥ २६॥

पाटला का राजा को देखना

इस प्रकार बोलते हुए स्वभाव से ही मधुरभाषी तमालवृक्षों से आच्छादित शिला पर बैठे हुए राजा को उस दीर्घलोचना नारी ने इस भाँति देखा, मानो आकाश में शोभा पाने वाला चन्द्रमा हो॥ २६॥

ततस्तदालोकनकौतुकेन सा स्थिता निमेषोज्झितपक्ष्मलेक्षणम्।
विनिद्रसत्केशरपङ्कजा वभौ वने निवातस्तिमितेव पद्मिनी॥ २७॥

पुनः राजा को देखने की उत्सुकता से वह कुछ क्षण तक अपलक दृष्टि से देखती हुई खड़ी रही। उसकी दशा ऐसी थी, मानो परागपरिपूर्ण विकसित कमलिनी वन में वायु का झोंका न लगने के कारण शान्त बनी हुई हो॥२७॥

पाटलायाः स्वगतम्

अचिन्तयत्सेति च पाटलाधरः सितारविन्दच्छददीर्घलोचनः।
मुखं सुधादीधिति सुन्दरं दधन् वने गतः कोऽयमनङ्गविभ्रमः॥२८॥

पाटला का अपने मन में विचार

उसने अपने मन में सोचा कि रक्त वर्ण की कान्ति वाले ओठों वाला, श्वेत कमल-दल के समान (दीर्घ और विस्तृत) नेत्रों वाला, मुख पर चन्द्र की कान्ति को धारण करने वाला, कामदेव के समान हाव-भाव वाला कौन यह इस वन में आया है ॥ २८ ॥

व्यनक्ति कल्याणमयीयमाकृतिर् महीयसीमस्य महानुभावताम् ।
असत्यमेतासु रुचा वितन्वति लतासु कार्तस्वरपल्लवोद्गमम् ॥२९॥

इसकी यह मधुर एवं शान्ताकृति इसकी महानुभावता को प्रगट कर रही है । (आकृति से यह उदारचरित ज्ञात होता है ।) यह आकृति अपनी कान्ति से लताओं के सुनहली कान्ति वाले नये-नये निकलने वाले पत्तों की कान्ति को नगण्य सी बना रही है ॥ २९ ॥

भुजेन चित्राङ्गदरत्नशोभिना सतारहारेण भुजान्तरेण च ।
यदस्यय मध्यमलोकपालताम् परार्ध्यचूडामणिना च मौलिना ॥ ३० ॥

हाथ पर विचित्र वर्ण का बाजूबन्द धारण करने से, तथा वक्ष स्थल पर अनेक लड़ियों के हार को धारण करने से और शिर पर अमूल्य रत्न-मुकुट को धारण करने से तो ऐसा जान पड़ता है कि यह कोई राजा है ॥ ३० ॥

अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृत ।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासबालव्यजनेन कोऽप्ययम् ॥ ३१ ॥

बिना छत्र के भी यह अनेक श्वेत छत्रों से युक्त जान पड़ता है, इसके ऊपर यद्यपि चँवर नहीं डुलाया जा रहा है, फिर भी इसके ऊपर विलास रूपी बालव्यजन (चँवर) डुलाया जा रहा है ॥ ३१ ॥

प्रियेयमारूढगुणा सुवंशभूर् न चाधिक चापलताऽस्य मुञ्चति ।
इमे पृषत्का अपि पार्थिवश्रियो विलासकर्णोत्पलपल्लवा इव ॥३२॥

अति सुन्दर लगने वाली, गुणों से युक्त और सुवंश में पैदा होनेवाली चपलता ने इसका साथ नहीं छोड़ा (अर्थात् उच्चकुलीना चपलता इसमें है), इसके पास जो ये बाण हैं, राज्यश्री (नायिका) के विलासकालीन कर्णभूषण बनाने के योग्य (कर्ण) पल्लव की तरह मालूम पड़ रहे हैं ॥ ३२ ॥

इव शिलोत्सङ्गतले निषेदुषा दिवश्च्युतेनेव कुरङ्गलक्ष्मणा ।
अधस्तरूणाममुना विनीयते क्षण मृगव्योपनत परिश्रम ॥ ३३ ॥

स्वर्ग से उतरे हुए चन्द्रमा की भाँति सुन्दर कान्ति वाले, पेड़ के नीचे (छाया में) बैठा हुआ यह राजा आखेट से उत्पन्न थकावट को दूर कर रहा है ॥ ३३ ॥

अयं स न स्यान्नवसाहसाङ्क इत्यनङ्गलीलासु कृती भुवः पतिः ।
स येन मुक्तो निजनामलाञ्छितः शशिप्रभाकेलिकुरङ्गके शरः ॥ ३४ ॥

जिसने शशिप्रभा के क्रीड़ामृग पर अपने नामाङ्कित बाण को छोड़ा है, कहीं यह वही कामक्रीड़ाचतुर पुण्यात्मा पृथ्वीपति नवसाहसांक तो नहीं है

अयं स नो हार इवास्य दृश्यते करोदरे पल्लवपाटलत्विपि ।
इतः किमेतस्य न सैकते स किं सितच्छदो लोचनगोचरं गतः ॥ ३५ ॥

नवीन पत्तों के समान रक्त कान्ति वाले इसके हाथ पर यह हमारा ही हार सा दिखाई दे रहा है । इसके इस ओर नदीतट पर क्या वह हंस भी नहीं दिखाई दे रहा है अर्थात् अवश्य दिखाई दे रहा है ॥ ३५ ॥

सुवर्णपुङ्खे लिखितं शिलीमुखे तदस्य नामास्ति समानमाकृतेः ।
यदद्भुतामेकपदे पृषत्कताम् अगादनङ्गस्य शशिप्रभाम्प्रति ॥ ३६ ॥

स्वर्णफलक (बाणाग्रभाग) वाले बाण पर लिखे हुए नाम की ही भाँति हंस की आकृति भी सुन्दर दिखाई दे रही है । मालूम होता है कि इसीलिये यह शशिप्रभा के प्रति एक विचित्र काम के बाण का काम कररहा है ॥

अनेन चेद्योगमुपैति दैवतः फणीन्द्रकन्या शशिनेव रोहिणी ।
अनल्पलावण्यतिरस्कृतोपमं वपुस्तदस्याः सफलत्वमेष्यति ॥ ३७ ॥

भाग्यवश यदि नागराजकन्या शशिप्रभा का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ रोहिणी की भाँति इस राजा के साथ हो जाय तो लावण्य से अत्यधिक सौन्दर्य के कारण वस्तुतः अनुपम शशिप्रभा का शरीर (जन्म) सफल होजाय ॥

विधातुमेनामहमेव वा क्षमा मितोदरीमङ्कतलेऽस्य को विधिः ।
ममेदृशे यद्विपये विमत्सराः स्तुवन्ति सख्यो मसृणोक्तिसौष्ठवम् ॥३८॥

मैं ही कृशोदरी शशिप्रभा को इसकी गोद में बैठाने में समर्थ हो सकती हूँ । (यदि ऐसा हो सकता है तो) इसमें विधाता का वश नहीं चलेगा । क्योंकि जब कभी भी मैं ऐसा प्रसंग (शशिप्रभा के विवाह का) छेड़ती हूँ तो ईर्ष्यारहित होकर मेरी सहेलियाँ मेरी मीठी-मीठी बातों के कहने के ढंग की सराहना करती रहती हैं ॥ ३८ ॥

सहामुना किञ्चिदुपान्तवर्तिना वदत्यसावुद्गतदन्तदीधितिः ।
कुतूहलात्क्षिप्तनिमेपलास्यया विलोकयन्मामिव दीर्घया दृशा ॥३९॥

कौतूहल के कारण अपलक अतएव विशेष विलास युक्त विशाल लोचनों से (एकटक) मुझे देखता हुआ यह (हँस कर) अपने समीपवर्ती पुरुष से बातें कर रहा है । बोलते समय इसके दाँतों से चमक निकल रही है ॥ ३९ ॥

पाटलायाः समीपमागमनम्

अथाधिगन्तु किल तस्य पत्रिणो गतिं वनान्ते कथमप्यलक्षिताम् ।
तमभ्यगात्सा नृपतिं सचामरा सरित् सफेना निधिमम्भसामिव ॥४०॥

पाटला का समीप आना

वन में जिसका कुछ पता नहीं लग रहा था, उस हंस के मार्ग का अनुसरण करती हुई चँवर को हाथ में लिये हुए पाटला राजा के समीप उसी भाँति आ पहुँची, जिस भाँति फेन से युक्त नदी समुद्र के पास जाती है।

विमर्श—समुद्र हुआ राजा, चँवर सफेद फेन की तरह था तथा नदी थी वह सुन्दरी—इस तरह उत्कृष्ट उपमा बन पड़ी है ॥ ४० ॥

समुच्चरन्नूपुरसिञ्जितैः पदैर् यथायथा सम्मुखमाजगाम सा ।
तथाऽयमाकृष्य तथा तयेरिता दृगस्य पश्चादपसारमाददे ॥ ४१ ॥

बजते हुए नूपुरों के मधुर शब्द वाले पैरों को आगे बढ़ाती हुई (वह) पाटला जैसे जैसे राजा के पास आने लगी, वैसे-वैसे राजा की दृष्टि उस रमणी से प्रेरित होकर मानो पीछे की तरफ खिसकने लगी अर्थात् राजा उसे चाव से देखने लगा ॥ ४१ ॥

शनैस्ततस्तां सविधोपसर्पिणीम् निरीक्ष्य हारं पिदधे नराधिपः ।
निजोत्तरीयेण सितेन मारुतः शरद्घनेनेव शशाङ्कमण्डलम् ॥ ४२ ॥

धीरे धीरे उसे अपने पास आती हुई देख कर राजा ने हार को अपने श्वेत दुपट्टे से छिपा लिया, मानो वायु ने शरद्कालीन बादल रूपी अपने श्वेत वस्त्र से चन्द्रमण्डल को छिपा लिया हो ॥ ४२ ॥

पयोधरोत्सङ्गनिवासलालितं व्यधादिमं पन्नगराजकन्यका ।
इति प्ररोहद्बहुमानमन्थरो बभूव तस्मिन्नवनीपुरन्दरः ॥ ४३ ॥

नागराजकन्या ने इस हार को अपनी छाती पर लगा कर बड़े चाव से रखा होगा, इस विचार के आते ही उस हार के प्रति (प्रेम के कारण) आदर की भावना से राजा कुछ मुग्ध सा हो गया ॥ ४३ ॥

अनल्पलावण्यविलासजन्मभूर् विचित्ररत्नद्युतिभास्वरोर्मिका[1] ।
तमिद्धमुक्ताभरणं भुवः पतिम् पयोधिवेलेव सुवेलमाप सा ॥ ४४ ॥

वह सुन्दरी पाटला अत्यन्त लावण्य और विलास से परिपूर्ण थी। विचित्र रत्नों की कान्ति से चमकने वाली अँगूठी उसने धारण कर रखी थी अर्थात् उसकी अँगूठी में रत्न जड़े थे। वह मोतियों का हार धारण करने वाले उस

---

१ भङ्गिस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा—अमरकोश। अङ्गुलीयकमूर्मिका—अमरकोश।

राजा के पास उसी भाँति पहुँची, जैसे भरती के समय समुद्र की मर्यादा तट तक पहुँच जाती है।

विमर्श—इस श्लोक में "अनल्पलावण्यविलासजन्मभूः"–"विचित्ररत्नद्युति-भास्वरोर्मिका" ये दोनों पद श्लिष्ट हैं। समुद्रवेला पक्ष में इनका अर्थ होगा—"अत्यधिक नमक तथा चंचल तरंगों का उत्पत्ति स्थान" तथा "नाना प्रकार के रत्नों की कान्ति से जिसकी तरंग चमक रही है" ऐसी वेला ॥ ४४ ॥

अवाप देवः श्रियमन्तिकस्थया तया स वालव्यजनाङ्कहस्तया।
निषेव्यमाणः स्फुटलक्ष्यदेहया नरेन्द्रलक्ष्म्येव यशःसमेतया ॥ ४५ ॥

हाथ में चँवर धारण करने वाली पाटला के समीप आ जाने पर राजा इस प्रकार शोभा से सुशोभित हुआ मानो वह यशयुक्त साक्षात् देह-धारिणी राजलक्ष्मी से सुशोभित हो रहा हो ॥४५॥

पाटलाकृतः सत्कारः

विभिन्नचूर्णालकभक्ति कुर्वती
विकीर्णचूडामणिचन्द्रिकं शिरः।
अथानुभावेन निदेशितेव सा
ननाम मानिन्यवशा विशाम्पतिम् ॥४६॥

पाटला द्वारा राजा का सत्कार

चूड़ामणि (शिरोभूषण) की कान्ति जिसपर फैल रही थी तथा झुकाते समय जिसपर की वेणी का माँग स्पष्ट हो रहा था, ऐसे सिर को उस सुन्दरी ने राजा की आकृति के प्रभाव से ही बरबस झुका दिया ॥ ४६ ॥

दृशा नरेन्द्रेण निदेशिते स्वयं शिलातले नातिविदूरवर्तिनि।
उपाविशत्सा रसनामणित्विषा निषिच्यमानेऽमरचापशोभिनि ॥ ४७ ॥

करधनी के मणियों की कान्ति से युक्त इन्द्रधनुष की शोभा वाली, समीपवर्तिनी शिला पर, जिसे राजा ने दृष्टि से ही बताया था, पाटला बैठ गई।

विमर्श—सफेद शिला पर लाल-हरे रंग की मेखला की कान्ति के संक्रान्त होने से ही इन्द्रधनुष की शोभा हो रही थी ॥ ४७ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

तयातिदीर्घैर्दशनानुपातिभिर् विकृष्यमाणामिव भूषणांशुभिः।
इति क्षितीशेङ्गितवर्त्मदीपिकाम् उदीरयामास गिरं रमाङ्गदः ॥ ४८ ॥

रमाङ्गद के वचन

रमाङ्गद ने महाराज नवसाहसांक के अभिप्राय के मार्ग को दिखाने वाली वाणी कही। उस समय ऐसा मालूम पड़ा कि पाटला के आभूषणों की

लम्बी किरणें जो राधा के दाँतों पर पड़ रही थी, मानो वही किरणें उक्त वाणी को उसके मुख से खींच रही हों॥ ४८ ॥

अनेन विन्ध्याद्रिविहारजन्मना श्रमेण काम भवती कदर्थिता ।
प्रसुप्तजूटाहिमुखाऽनिलोष्मणा जटाविटङ्केन्दुकलेव शूलिनः ॥ ४९ ॥

भीमनी ! आप इस विन्ध्याचल में घूमने के कारण श्रम से बहुत थकी हुई प्रतीत हो रही हैं । जिस भाँति शिवजी की जटा में सोने वाले सर्पराज के श्वासों से शिवजी की जटा में रहने वाली चन्द्रकला धूमिल (थकी सी) जान पड़ती है, वैसे ही आप भी थकी थकी सी जान पड रही हैं ॥ ४६ ॥

अमी सरोजप्रतिमे मुखे मुहुस् तनातपाताम्रकपोलभित्तिनि ।
समुन्मिषन्ति श्रमवारिबिन्दवो नताङ्गि लावण्यसुधालवा इव॥ ५० ॥

हे सुन्दर शरीर वाली ! धूप से कुछ लाल वर्ण के बने हुए कपोलों वाले तुम्हारे इस मुखकमल पर थकावट के कारण जो पसीने की बूँदें झलक रही हैं, वे ऐसी विदित होती हैं, मानो सौन्दर्यरूपी अमृत के कण हों ॥ ५० ॥

इतोऽवतसोत्पलजालस्यदेशिके निरन्तरं गन्धवहे वहत्यपि ।
न घूर्णते स्विन्नललाटसङ्गिनी तवालकश्रेणिरियं मनागपि ॥ ५१ ॥

अनकार भूत इन कमलों को नचा देने वाले वायु के निरन्तर चलने पर भी पसीने से भीगे हुए ललाट पर चिपकी हुई तुम्हारी यह केशराशि जरा भी नहीं हिल रही है । इससे प्रतीत होता है कि तुम अधिक दूर से चलकर आ रही हो और बेतरह थक गई हो ॥ ५१ ॥

अनेन पीनस्तनकम्पदायिना निरायसेनोद्वहता कदुष्णताम् ।
कथ प्रवालादपि पाटलच्छविर् न दूयते निःश्वसितेन तेऽधरः ॥५२॥

परिपुष्ट वक्ष स्थल (कुचमण्डल) को कँपा देने वाली लम्बी लम्बी गरम श्वासों से मूँगे की कान्ति से भी अधिक रक्तवर्ण वाला तुम्हारा यह अधर क्या फीका नहीं पड़ा है ?

विमर्श —गरम गरम श्वास से तो अधरोष्ठ को कष्ट होना चाहिए, पर नहीं हो रहा है । अर्थात् कारण के रहने पर भी कार्योत्पत्ति नहीं है । अत यहाँ विशेषोक्ति अलकार मालूम पड़ रहा है । "सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्ति निगद्यते ।" ॥ ५२ ॥

उदित्य पङ्क्त्या श्रमवारिविप्रुषा निरन्तराघ्यासितरेखयाऽनया ।
तवेष कण्ठः कुटजावदातया विलासमुक्तालतयेव भूष्यते ॥५३॥

परिश्रम के कारण उत्पन्न होने वाली पसीने की बूँदों की पंक्ति तुम्हारे गले की रेखाओं पर छा गई है, जिससे विभूषित तुम्हारा कण्ठ ऐसे विदित होता है, मानो कुन्द के स्वच्छ पुष्पों की माला से विभूषित हो ॥ ५३ ॥

इदं महच्चित्रममानुषं त्वया विगाह्यते यद्वनमद्वितीयया ।
इमा क्व विन्ध्यस्य भुवोऽतिदुर्गमाः क्व राजवेश्माभरणं भवादृशी ॥ ५४ ॥

यह एक और विचित्र बात है कि तुम इस निर्जन वन में अकेली ही घूम रही हो। कहाँ तो विन्ध्याचल की यह भयानक वनस्थली, और कहाँ राज-भवनों को अलंकृत करने वाली तुम।

विमर्श—तुम किसलिए इस प्रकार विचरण कर रही हो? क्या तुम्हें इस वन में डर नहीं लगता—यह ध्वन्यर्थ हुआ ॥ ५४ ॥

नवोद्गताशोकपलाशकान्तिना निकामनिर्यन्नखचन्द्रिकेण च ।
बिभर्षि कस्येदमनेन पाणिना वदाऽवधूतेन्दुमरीचि चामरम् ॥ ५५ ॥

तुम यह बताओ कि अशोक वृक्ष में नये उगे हुए पत्ते की भाँति कोमल और रक्त वर्णवाले, तथा जिसमें से नखों की कान्ति पर्याप्त मात्रा में निकल रही है, ऐसे इस हाथ में तुम चन्द्रकान्ति के समान श्वेत इस चँवर को किस लिये धारण किये हुये हो? ॥ ५५ ॥

नृपस्य कस्यापि परिच्छदाङ्गना यदि त्वमुच्चैर्विभवो हि कोऽपि सः ।
मरुत्पतिर्मेनकयेव तन्वि यस्त्वयापि बालव्यजनेन वीज्यते ॥ ५६ ॥

यदि तुम किसी राजा की दासी हो तो विदित होता है कि वह कोई अति ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशाली राजा होगा। मेनका की भाँति तुम जिसके ऊपर चँवर डुलाती होगी, वह वास्तव में देवराज के समान ही (सौभाग्यशाली) होगा।

अथर्धिमत्या परवत्यसि स्त्रिया कयापि काऽसौ जगदेकसुन्दरी ।
नतभ्रु यस्याः स्मरचापयष्टयो विधेयतां यान्ति भवद्विधा अपि ॥५७॥

यदि तुम किसी ऐश्वर्यशालिनी स्त्री की दासी हो तो यह बताओ कि (सौन्दर्य से तीनों लोकों को जीतने वाली) तीनों लोकों में वह सर्वसुन्दरी कौन है? वह कौन भाग्यशालिनी है, काम की धनुष सी तुम जैसी स्त्रियाँ भी जिसकी दासी हो सकती हैं ॥ ५७ ॥

परस्परस्पर्धिविलाससम्पदां त्रयं भवत्स्वामितया विकल्प्यते ।
मरुत्वतो वा रमणी रमाऽथवा कलत्रमर्धेन्दुविभूषणस्य वा ॥ ५८ ॥

वैभव, विलास और धन-सम्पत्ति से एवं सौन्दर्यातिशय से परस्पर स्पर्धा करनेवाली तीन स्त्रियाँ ही तुम्हारी स्वामिनी हो सकती हैं। या तो वह इन्द्रपत्नी शची हो सकती है, या लक्ष्मी हो सकती है, या फिर चन्द्रशेखर भगवान् शिव की अर्द्धाङ्गिनी पार्वती हो सकती है ॥ ५८ ॥

इयं परिभ्रान्तिरगेन्द्रकन्दरे सखीव ते शंसति कार्यगौरवम् ।
भवादृशः श्वापददूषितेऽन्यथा चरन्त्यरण्ये किमधीतनीतयः ॥ ५९ ॥

सब प्रकार की राजनीति एवं अन्य व्यावहारिक नीतियों को जानने वाली तुम जैसी स्त्रियों के इस प्रकार गिरि-कन्दराओं में ऐसे अकेले ही घूमने से तो यह मालूम होता है कि तुम्हारा या तुम्हारी सखी का कोई बड़ा भारी काम होगा (जिसके लिये तुम यों फिर रही हो), अन्यथा इस जंगली वानरों से युक्त भयानक जंगल में तुम्हारे जैसे लोग क्यों आने लगे ॥ ५६ ॥

अनेन खेलन्मददन्तिना वद्
त्वमागता चण्डि कुतो दुरध्वना ।
विधाय विश्लेषविषादमावयो
स्वकार्यनिष्ठे कथय क यास्यसि ॥ ६० ॥

हे चण्डि ! मदोन्मत्त हाथी जिस मार्ग पर इधर-उधर आते-जाते रहते हैं, उस भयावने और दुर्गम मार्ग पर तुम क्यों विचरण कर रही हो ! हे अपने कार्य में तत्पर रहने वाली ! अब यह बताओ, हम दोनों से दूर होकर तुम कहाँ जाओगी !

विमर्श—यहाँ पर चण्डि सम्बोधन कवि ने क्यों दिया ! इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि वह निर्भीक होकर जो वन में घूम रही है तो अवश्य ही निडर होगी ॥ ६० ॥

नायकवाक्यम्

इति साऽभिहिता मृगाऽयताक्षी समुपोढप्रणयं यशोभटेन ।
सहसा न जगाद लज्जया तु श्रमतः किंतु नृपस्तु तामवोचत् ॥६१॥

नायक का वाक्य

यशोभट (रमाङ्गद मंत्री) ने जब अत्यन्त प्रेम पूर्वक उससे इस भाँति के वचन कहे तो वह बेचारी मृगनयनी लज्जा और थकावट के कारण सहसा कुछ भी उत्तर न दे सकी। तब राजा ने उससे कहा ॥ ६१ ॥

श्रान्तासि कौतुकहृतेन कदर्थितासि
प्रश्नैरनेन विहितो न तवोपचारः ।
आतिथ्यमेष कुरुते परमङ्गलेखा
संवाहनैकचतुरो निचुलानिलस्ते ॥ ६२ ॥

मालूम होता है कि तुम अधिक थक गई हो और (आश्चर्य के कारण अत्यन्त परेशान भी हो ।) इस (रमाङ्गद मंत्री) ने इस प्रकार के प्रश्नों को पूछ कर तुम्हारा कोई अतिथिसत्कार भी नहीं किया (इसे तुम्हारा अतिथि-सत्कार करना चाहिये था) । (इसी बीच मौलसरी वृक्ष से टकराकर हवा का झोंका आया तो राजा ने कहा कि) शरीर को सुख पहुँचाने में अति चतुर

यह मौलसरी वृक्ष से टकरा कर आनेवाली वायु अब तुम्हारा स्वागत कर रही है ॥ ६२ ॥

एवं निसर्गमधुरेण सुधारसेन
निष्यन्दिना फणिवधूरथ सा हसन्ती ।
चन्द्रांशुना कुमुदिनीव दिनोष्मतमा
वीतक्लमा नरपतेर्वचसा बभूव ॥ ६३ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्क चरिते महाकाव्ये पाटलादर्शनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार स्वभाव से ही मधुर, अमृत के समान मिठास भरे राजा के वचनों से वह नागरमणी (पाटला) उसी भाँति प्रसन्न और तृप्त हुई, जिस भाँति दिन की गर्मी से संतप्त कुमुदिनी चन्द्रमा की किरणों को पाकर तृप्त होती है। (अर्थात् राजा के वचनों से वह इतनी आनन्दित हुई कि उसकी सारी थकान ही मिट गई) ॥ ६३ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्कचरित महाकाव्य का पाटलादर्शन नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमः सर्गः

अथ सा वदने नवेन्दुकान्ति स्मितमङ्के जिनिवेश्य चामरं च।
जगतीपतिमेवमाबभाषे मसृणं मूर्तिमती विदग्धतेव ॥ १ ॥

पाँचवाँ सर्ग

इसके पश्चात् चन्द्रमा की कान्ति के समान सुन्दर अपनी मधुर मुस्कान को अपने मुख में और चन्द्रधवल चँवर को गोद में रख कर, पाटला राजा से मधुर वाणी में बोलने लगी। उस समय ऐसा विदित होता था मानो चतुरता साक्षात् मूर्तिमती होकर आई हो, और राजा से बातें कर रही हो ॥ १ ॥

त्वयि पुण्यवशेन दृष्टिमाप्ते लभते शर्म[१] गतश्रमो ममात्मा।
उदिते हि विरोचने नलिन्या तिमिरस्तावरणे विकासमेति ॥ २ ॥

हे राजन्! सौभाग्यवश हुए आपके दर्शन से मेरी आत्मा परिश्रम से मुक्त होकर, एक विचित्र सुख का अनुभव कर रही है। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार से मुक्त पद्मिनीजन की कमलिनी खिल उठती है, उसी भाँति मैं भी आपके दर्शन से प्रसन्न हो उठी हूँ ॥ २ ॥

अतिमात्रमुपोढसौकुमार्ये वचसि श्रोत्रमुपेयुषि त्वदीये।
झटिति प्रतिभासते ममाय कठिनश्चन्दनपल्लवावतंसः ॥ ३ ॥

अत्यधिक सुकुमार (कोमल) और मधुर तुम्हारे वचन जैसे ही मेरे कानों में पड रहे हैं, वैसे ही उनके सामने मेरे कान में लगे हुए चन्दन के कोमल पत्र भी मुझे कर्कश मालूम पड रहे हैं ॥ ३ ॥

किमयं मयि सम्भ्रमोऽयमास्तां किमयं नैव जनं परिच्छदस्ते।
उपचारविशेषसन्निधाने प्रतिपच्चन्द्र इवोदितस्त्वमेव ॥ ४ ॥

आप मेरे प्रति इतना आदर क्यों दिखा रहे हैं? इस आदर को रहने दीजिये। (इसकी कोई आवश्यकता नहीं।) क्या मैं भी आपके सेवक-सेविकाओं के समान नहीं हूँ? यह उपचार विशेष तो प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह उदित आपको ही मुझे करना चाहिये ॥ ४ ॥

भवदिङ्गितवेदिनैव पृष्टा यदनेनाहमुपान्तवर्तिना ते।
किमु तत्कथयामि सम्मतं चेत् क्रियतां मे स्वयमाज्ञया प्रसादः ॥ ५ ॥

आपके समीप बैठे हुए इस व्यक्ति ने आपका संकेत (इशारा) जानकर तदनुसार ही मुझसे जो कुछ पूछा है, क्या मैं उसका उत्तर दूँ? स्वयं आज्ञा देकर मुझ पर कृपा करें ॥ ५ ॥

---

१ शर्मशातसुखानि च—अमरकोश।

नायकनिर्देशः

अभिधेहि लवः कुतूहलस्य त्वदुदन्तश्रवणे ममापि जातः ।
इति सा वसुधापतेर्निदेशादथ पातालविलासिनी जगाद ॥ ६ ॥

नायक का कथन

कहो ! तुम्हारे वृत्तान्त को सुनने के लिये मेरे हृदय में भी कुछ कौतूहल सा हो रहा है । राजा की इस प्रकार की आज्ञा पाकर उस नागलोकवासिनी कन्या (पाटला) ने कहना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

भुजङ्गलोकवर्णनम्

स तव श्रुतिमात्र एव तावत् स्मरलीलाभवनं भुजङ्गलोकः ।
उपयाति यदेकदेशसाम्यं न मही नापि पुरी पुरन्दरस्य ॥ ७ ॥

नागलोकवर्णन

कामदेव के क्रीडागृह नागलोक के विषय में तो आपने सुना ही होगा । उस नागलोक की बराबरी न भूलोक कर सकता है, न अमरावती (इन्द्रनगरी) ही कर सकती है ॥ ७ ॥

अतिदुर्लभसूर्यभासि यस्मिंस्तमसामुल्लसतां तिरस्क्रियायै ।
फणिनोऽरुणकान्तिभिश्शिरस्थैर् मणिभिर्बालनिशातपं वहन्ति ॥ ८ ॥

जिस पाताललोक में फैले हुए घनान्धकार को दूर करने के लिये सूर्य-रश्मियाँ तो कभी पहुँच ही नहीं सकतीं । वहाँ नागों के शिरों पर लाल कान्ति वाली जो मणियाँ हैं, वही बालसूर्य का-सा प्रकाश देती रहती है ॥ ८ ॥

अनुलिम्पति रोदसी यथेन्दुः प्रभया मां न तथेत्यसूययेव ।
पटु यः प्रमदाविलासहासस्तबकैरिन्दुपरम्पराः प्रसूते ॥ ९ ॥

'चन्द्रमा अपनी प्रभा से जिस भाँति आकाश और धरती को प्रकाशित करता रहता है, उस भाँति मुझे (नागलोक को) प्रकाशित नहीं करता', इस ईर्ष्या के कारण मानो वह नागलोक वहाँ की प्रमदाओं के हाव-भाव-विलास के द्वारा चन्द्रों की परम्परा-सी लगा देता है ॥ ९ ॥

सविलाससमुदस्तहस्तमुक्तैर् निकरैर्दिग्द्विरदेन्द्रशीकराणाम् ।
परितो निचिताः सदैव यस्मिन् ककुभस्तारकिता इवावभान्ति ॥ १० ॥

उस पाताललोक में रहने वाले दिग्गज (दिशाओं के हाथी) जब प्रसन्नता से अपने सूँडों को ऊपर उठाकर उन से जल-कणों को ऊपर फेंकते हैं, तो वे अनेक जलकण इधर-उधर फैलकर ऐसे दिखाई देते हैं, मानो चारों ओर सब दिशाओं में तारागण उदित हो गये हों ।

विमर्श—सूर्य और चन्द्रमा की भाँति तारागण भी नागलोक अर्थात् पाताल तक नहीं पहुँच पाता। पर वहाँ तारागण का कार्य दिग्गजों के उड़ाये हुए जलकण ही करते थे ॥ १० ॥

प्रतिभाति दधत् फणाकलापे पृथिवीं यत्र स शेषनागराजः।
नभसो निपतन् जवेन भित्वा जगतीं गाङ्ग इवाच्युत प्रवाहः ॥ ११ ॥

उस नागलोक में अपनी फणों पर पृथ्वी को धारण करता हुआ शेषनाग ऐसा जान पड़ता है मानो बड़े जोर से आकाश से गिरता हुआ गंगा-जल पृथ्वी को विदीर्ण कर पाताललोक में आ गया हो।

विमर्श—पाताललोक अन्धकारपूर्ण है। उसमें श्वेत वर्ण का शेषनाग श्वेतवर्ण वाले गंगाजल के समान जान पड़ता है, क्योंकि वह पाताललोक में है। अतः कल्पना की गई है कि मानो वहाँ गंगाजल शेषनाग के रूप में प्रविष्ट हुआ हो ॥ ११ ॥

भोगवतीवर्णनम्

विदिता खलु वासुकेस्त्रिलोक्या हरकण्ठाभरणस्य भोगिभर्तुः।
ललिताद्भुतभूमिरस्ति तस्मिन् नगरी भोगवतीति राजधानी ॥ १२ ॥

भोगवती का वर्णन

शिवजी के गले के आभूषण स्वरूप राजा वासुकि की नगरी तीनों लोकों में विख्यात है और उसमें मधुर एवं आश्चर्यजनक कार्य होते रहते हैं, उस राजधानी का नाम 'भोगवती' है ॥ १२ ॥

मणिहर्म्यतलानि रत्नदीपाः फणिकान्तधिविलोखितानि वीणा।
ऋतवोऽप्यखिला समेत्य यत्र स्मरसाम्राज्यमहाधुरं वहन्ति ॥ १३ ॥

जहाँ की अट्टालिकाओं में रत्नदीप, हाव भाव दिखानेवाली स्त्रियाँ, सर्वत्र विहार ऋतु समुदाय, ये सब मिलकर मानो कामदेव के शासन साम्राज्य की बागडोर धारण किए रहते हैं ॥ १३ ॥

अनुपाधिरुपाहृतो विकासः कमलैर्यत्र विलासदीर्घिकासु।
अपि यत्र कुमुद्वतीभिरस्तः सहजश्चन्द्रमरीचिपक्षपातः ॥ १४ ॥

जहाँ की विलास क्रीडायोग्य बावलियों में कमल बिना किसी रुकावट के सदैव खिलते रहते हैं और कुमुदिनी भी बिना चन्द्रमा की प्रतीक्षा (पक्षपात) किये ही खिलती रहती हैं।

विमर्श—पाताललोक में सूर्य, चन्द्र नहीं हैं, फिर भी वहाँ सूर्योदय के बिना ही कमल और चन्द्रोदय के बिना ही कुमुदिनी खिलती रहती है। उन्हें सूर्य चन्द्र की भी आवश्यकता नहीं है ॥ १४ ॥

अभिकानभिसर्तुमुद्यतः सन् सपदि व्यालविलासिनीसमूहः।
भवति स्वफणामणिप्रदीपे तिमिरोत्सारिणि यत्र साभ्यसूयः॥ १५॥

वहाँ नागस्त्रियाँ जब अपने नायकों के साथ अभिसरण करने लगती हैं, अर्थात् अभिसार के लिये चलती हैं, तो वे विलासिनियाँ अन्धकार मिटाने वाले अपने फनों में स्थित मणिदीपों को बड़ी ईर्ष्या के साथ देखने लगती हैं। अर्थात् उनके मणिदीपों के प्रकाश से उनके अभिसार में बाधा पहुँचती है। ॥ १५॥

अधिरोहति यत्र वंशमुक्ता-पटलस्मेरतटा सुरस्रवन्ति।
सरितः श्रियमीर्ष्ययेव तस्याः सुवते मौक्तिकमेव यत्पयांसि॥ १६॥

वंशीवनों से उत्पन्न होने वाले मोती (वंशलोचन) जिसके किनारे पर बिखरे रहते हैं तथा जिसके कारण वह हँसती हुई सी सर्वश्रेष्ठ नदी शोभा को धारण करती है, अतएव वंशमुक्ताओं वाली उसकी ही ईर्ष्या के कारण उसका पानी भी अधिक मोती उत्पन्न करता है॥ १६॥

अतिकान्तिगुणाभिराममूर्तिर् मधुरेण ध्वनिना मनोहरन्ती।
विदधाति सदैव यत्र यूनां पदमङ्के वनिता च वल्लकी[1] च॥ १७॥

वहाँ पर अत्यन्त शोभा और गुणों से (या तारों से) मनोरम वनिताएँ और वीणाएँ अपनी मधुर वाणी (वीणा पक्ष में मधुर ध्वनि) से मनहरण करती हुई युवा पुरुषों की गोद में सदैव विराजमान रहती हैं।

विमर्श—इस श्लोक में श्लेष का चमत्कार काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाता है। वनिता और वल्लकी दोनों पक्ष में प्रत्येक पद श्लिष्ट है॥ १७॥

शतशो विलसन्त्युदंशुरत्न-स्तवकाः कल्पलता यदङ्गणेषु।
प्रतिमन्दिरमेवमेव यस्याम् अपि चिन्तामणयः पदे लुठन्ति॥ १८॥

जिनकी किरणें ऊपर की तरफ निकल रही हैं, ऐसी कल्पलताएँ नागलोक के आँगनों में सैकड़ों लगी हुई हैं, इस तरह वहाँ के प्रत्येक घर में सैकड़ों चिन्तामणिरत्न इधर-उधर ठोकरें खाते रहते हैं॥ १८॥

अपि दत्तकुतूहलाः सुराणाम् अपि वाञ्छापदमेकपिङ्गल[2]स्य।
अपि निर्विषया मनोरथानाम् उरगान् यत्र विभूतयः श्रयन्ते॥ १९॥

वहाँ देवताओं के मन में कौतूहल उत्पन्न करने वाले विविध ऐश्वर्य विद्यमान् हैं, जिन्हें देखकर कुबेर भी उन्हें पाने के लिये लालायित हो उठता है तथा जो मानव-मनोरथ के अत्यन्त परे हैं॥ १९॥

वसति स्वयमेव यत्र देवः स सदा कल्पितहाटकेश्वराख्यः।
स्मरमूर्ध्वविलोचनार्चिषीव त्रिपुरं यः शरपावके जुहाव॥ २०॥

---

१. तन्त्री वीणा तु वल्लकी—अमरकोश।
२. यक्षैकपिङ्गलविलश्रीदपुण्यजनेश्वराः—(कुबेर) अमरकोश।

वहाँ हाटकेश्वर नामक महादेव निवास करते हैं। वे हाटकेश्वर शिव, जिन्होंने अपने तृतीय नेत्र की ज्वाला में जिस तरह काम को भस्म कर दिया था, वैसे ही शराग्नि में त्रिपुरासुर को भी भस्म कर दिया था। काम को नेत्र-ज्वाला से और त्रिपुर को शरज्वाला से भस्म करने वाले शंकर॥ २०॥

शङ्खपालवर्णनम्

निजवंशविशेषकोऽस्ति तस्याम् उरगाणामधिप स शङ्खपाल ।
रूगसाविति यत् फणासु धत्ते वसुधा वासुकिना समानसार ॥ २१ ॥

शंखपाल का वर्णन

उस भोगवती नगरी म अपने वंश का विभूषण, (श्रेष्ठ) वासुकि के समान बलवाला, सर्पराज शङ्खपाल रहता है। वही अपने शिर पर इस पृथ्वी को माला के समान धारण किये रहता है॥ २१॥

शशिप्रभावर्णनम्

जगदेकललाम तस्य कन्या गुणरत्नस्य रिता शशिप्रभेति नाम्ना।
सहसेव फणाभृता प्रविष्टा भुवने राहुभयादिवेन्दुलेखा ॥ २२ ॥

शशिप्रभा का वर्णन

समस्त लोकों म सर्वोत्कृष्ट सुन्दरी, गुणशालिनी शशिप्रभा उस नाग (शंखपाल) की पुत्री है। वहाँ वह इस प्रकार है, मानो राहु के भय से भयभीत होकर चन्द्रकला सहसा नागलोक में प्रविष्ट हो गई हो॥ २२॥

न कयाप्यतिशय्यतेऽतिशीघ्र यदियं कन्दुककेलिषु भ्रमन्ती।
अपरं कृतमथवत्तदस्या सुतरां नाम सखीभिराशुगेति ॥ २३ ॥

उस शशिप्रभा को गेंद खेलने म अति तेज चलने के कारण कोई भी सखि नहीं जीत सकती। (गेंद खेलने में वह तेजी से भागती है।) अत उसकी सखियों ने उसका एक दूसरा सार्थक नाम 'आशुगा' रख दिया॥ १३॥

स्फुरदद्भुतरूपसंपदं ताम् अनुकर्तुं कलयापि धार्ष्ट्यमेति।
न रतिर्न शची न चित्रलेखा न घृताची[1] न तिलोत्तमा न रम्भा ॥ २४॥

देदीप्यमान कान्तिशाली उस शशिप्रभा की बराबरी यदि चन्द्रकला करना चाहे तो यह उसकी धृष्टता ही होगी। उसकी बराबरी तो न इन्द्राणी ही कर सकती है, न रति, न चित्रलेखा, न घृताची और न तिलोत्तमा॥ २४॥

सुरकिन्नरसिद्धकन्यकाभिः स्वकलाभ्यासवतीभिरासखल्या।
निखिलासु गता परं प्रकर्षं शिशवी शैशव एव या कलासु ॥२५॥

---

१ घृताची मेनका रम्भा उर्वशी च तिलोत्तमा—(ये सब नाम इन्द्र की अप्सराओं के हैं)—अमरकोश।

अपनी अपनी कलाओं मे निरन्तर अभ्यास करने से निपुण देव, गन्धर्व और सिद्ध-कन्याओं के साथ मित्रता करके तीक्ष्ण बुद्धि वाली वह शशिप्रभा बचपन में ही सभी (चौसठ) कलाओं को सीख गई है ॥ २५ ॥

अनिवारितकेलिकौतुका सा सुतनुः स्नेहवशंवदेन पित्रा ।
विहरत्यपचीयमानबाल्या हरशैले मलये हिमालये च ॥२६॥

पुत्री के स्नेह के वशीभूत हुए उसके पिता ने खेलने-कूदने में उसे स्वतंत्रता दे रखी है अर्थात् उसके खेल-कूद पर किसी का भी नियन्त्रण नहीं है । (इसलिए) वह सुन्दरी नवयौवन में पदार्पण करती हुई कभी कैलास पर्वत पर, कभी मलयाचल पर और कभी हिमालय पर भ्रमण करती रहती है ॥ २६ ॥

अधुना पुनरत्र विन्ध्यपादे विहरन्त्याः कुसुमावचूडनाम्नि ।
क्वचिदप्यगमत्पलाय्य तस्यास् चपलः केलिमृगो मृगायताक्ष्याः ॥२७॥

अभी-अभी कुसुमावचूड नाम के इस विन्ध्य-शिखर पर विचरण करती हुई हिरणी के समान नेत्रवाली उस शशिप्रभा का क्रीडामृग न जाने भागकर कहाँ चला गया है ॥ २७ ॥

अतिवत्सलया समं सखीभिर् विपिने तं परितस्तया विचित्य ।
पुलिने सरितः शशांकसूतेः श्रमवत्येयमनीयत त्रियामा ॥२८॥

क्रीडामृग के प्रति अत्यन्त प्रेम रहने से उसने इस वन में चारों ओर अपने मृग को ढूँढ़ा, पर उसे पाया नहीं, तब अपनी सखियों के साथ थकी हुई उसने चन्द्र से जन्म लेनेवाली इसी नदी के किनारे रात बिताई । (रात भर इसी तट पर विश्राम किया) ॥ २८ ॥

कलहंसकलस्वनैर्विबुद्धा परिवारप्रमदानिदेशितं सा ।
निकषा निचुलप्रवालशय्यां तमथ प्रेक्षितवत्यवाप्तनिद्रम् ॥२९॥

(प्रभात होने पर) कलहंसो की कल-कल मीठी ध्वनि से वह जाग उठी । पुनः अपनी सखी-सहेलियों के इशारे से दिखाये हुए उस मृग को उसने अशोक वृक्ष के रक्तवर्ण के पत्तों की शय्या पर सोया हुआ देखा ॥ २९ ॥

तपनीयशिलीमुखस्तदङ्गे चकितं चित्ररुचौ तया च दृष्टः ।
जलदे ललितेन्द्रचापभक्तौ अहिमांशोरिव भासुरो मयूखः ॥३०॥

विचित्र वर्णवाले उस मृग के शरीर पर उसने स्वर्णफलक (अग्रभाग) वाले बाण को अत्यधिक आश्चर्य से देखा । मानो सुन्दर इन्द्रधनुष की शोभा वाले मेघ में चमकती हुई सूर्य-किरणों का एक स्रोत पड़ा हो ॥ ३० ॥

अरविन्ददलत्विषा करेण स्वयमुत्पाट्य सकौतुकं गृहीते ।
अवलोकितमेतयाथ तस्मिन् विजयाङ्के नवसाहसाङ्कनाम ॥३१॥

कमल के समान कान्तिवाले अपने हाथ से उसने उस बाण को निकाला, और हाथ पर लेकर जब उसे अच्छी तरह से देखा तो विजय के चिह्नस्वरूप उस के फलक पर 'नवसाहसाङ्क' नाम लिखा हुआ देखा ॥ ३१ ॥

अविशन्नरनाथनाम पूर्वं हृदयेऽस्यास्सहसाऽथ पुष्पकेतुः ।
अमृतांशुमरीचिसम्प्रभिन्ने लभते यत् कुमुदेऽन्तरं द्विरेफः ॥ ३२ ॥

बाण देखते ही पहले राजा के नाम ने उसके हृदय में प्रवेश किया और पीछे पीछे तत्काल कामदेव ने भी सहसा उसके हृदय में प्रवेश किया। जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों से विकसित कुमुदिनी में तुरन्त ही भ्रमर प्रवेश कर जाता है।

विमर्श—कुमुद में प्रथम चन्द्रकिरण प्रविष्ट हुई तो वह खिला और फिर भ्रमर भी उसमें प्रविष्ट हो गया। इसी भाँति शशिकला के हृदय में पहले राजा का नाम प्रविष्ट हुआ और पश्चात् कामदेव अर्थात् वह राजा के नाम को पढ़कर कामासक्त हो गयी ॥ ३२ ॥

नवमेघमलीमसाद्युगान्ते वसुधामुद्धरतो रथाङ्गपाणेः ।
परितः श्रमवारिबिन्दवो ये निरपीयन्त पयोधिशुक्तियूथैः ॥ ३३ ॥

प्रलय हो जाने के बाद जब नवीन मेघों के समान धूसर वर्ण वाले वराहावतार भगवान् धरती का उद्धार कर रहे थे, उस समय उनके शरीर से जो पसीने की बूँदें टपकी थीं, उन्हें चारों ओर से समुद्र में रहने वाली सीपों के समूह ने पी लिया था।

विमर्श—वे पसीने की बूँदें फिर मोती बनीं, उनको नागराज ने पाया। उनकी माला शशिप्रभा के लिये बनाई गई ॥ ३३ ॥

प्रकृतिं किल यस्य ते परीता परिणामेन तदन्तरेऽत्र हंसः ।
शयनान्तगतं मृणालशङ्की हृतवान् हारमधीरलोचनायाः ॥ ३४ ॥

उन श्रमबिन्दुओं ने सीपों में जाकर जब मोतियों का रूप धारण किया तो फिर उन्हीं मोतियों के बने हुए कातर नेत्रवाली शशिप्रभा के हार को जो नदी किनारे उसकी शैया के पास रखा था, कमल का डण्ठल समझ कर एक हंस लेकर न जाने किधर चला गया ॥ ३४ ॥

सान्दानितकम्[१]

उदडीयत खे भुजेन बिभ्रद् भुजगेन्द्रप्रतिमं तमञ्जसा सः ।
अपदापितवैनतेयशङ्कः फणिकन्यासु मुहूर्तविक्लवासु ॥३५॥

---

१ 'सान्दानितकं त्रिभिरिष्यते' अर्थात् जहाँ तीन श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ सान्दानितक होता है।

सान्दानितक

सर्प की आकृति वाले उस बड़े हार को मुख में दबा कर एकाएक जब वह हंस उड़ा, तो उसने व्याकुल उन नागकन्याओं के मन में जरा देर ऐसी शंका उत्पन्न कर दी, मानो गरुड़ साँप को लेकर उड़ रहा हो ॥३५॥

स च विन्ध्यवनान्तराजिमेतां अविशन्मारुतपीतपद्मगन्धाम् ।
अतिदूरविकृष्टनागकन्याचकितोदञ्चितदीर्घनेत्रभालः ॥ ३६ ॥

बहुत दूर तक (हारप्राप्ति के लोभ से) हंस के पीछे पीछे चलनेवाली नागकन्या के ऊपर उठे हुए नेत्रों और ललाट को अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ वह हंस पद्मगन्ध से परिपूर्ण वायु वाली इस विन्ध्याचल की वनः-स्थली में प्रविष्ट हो गया ॥ ३६ ॥

अहिराजसुतानिदेशतोऽस्मिन् असमाप्तेपुविलोकनोत्सवोऽपि ।
अथ हंसमितस्ततो विचेतुं विजने नागवधूजनः प्रवृत्तः ॥ ३७ ॥

इसलिये मृग के शरीर से मिले हुए बाण को अभी हम भली-भाँति देख भी न पाई थीं कि तभी नागराज पुत्री (शशिप्रभा) की आज्ञा से हम लोग इस निर्जन वन में उस हंस को ढूँढ़ने के लिए चल पड़ीं ॥ ३७ ॥

शवलास्विह कृष्णसारयूथैः समदक्रो[1]डसनाथपल्वलासु ।
गहनास्वपि तद्गवेषणाये वनलेखासु मम स्वयं प्रयत्नः ॥ ३८ ॥

कृष्णमृग के झुण्डों से जो भूमि चित्रित अर्थात् शोभायमान है, जिसके तालावों में मदमत्त सूअर पड़े हुए हैं, ऐसी इस सघन वनःस्थली में उस हंस को ढूँढ़ने के लिये ही मैं भी यह प्रयास कर रही हूँ ॥ ३८ ॥

समया न तटेपु निर्झराणां सरसां नाप्सु न पुण्डरीकपण्डे ।
सरसीष्वपि नायतोर्मिलेखान्तरपारिप्लवसारसासु दृष्टः ॥ ३९ ॥

उस हंस को मैंने न तो झरनों के किनारों पर ही देखा, न सरोवरों के जल में, न कमल के झुण्डों में, और न तो लम्बी-लम्बी जल की लहरों पर तरते हुए सारसोंवाली बावलियों में ही देखा ॥ ३९ ॥

सितचामरधारणे नियुक्तां दुहितुस्तेन भुजङ्गमाधिपेन ।
अवधारय पाटलेति नाम्ना तनयां मामुरगस्य हेमनाम्नः ॥ ४० ॥

आप मुझे नागपुत्री के ऊपर चँवर डुलाने के लिये उस नागराज से नियुक्त की गई हेम नाग की पुत्री पाटला समझें। अर्थात् मैं शशिप्रभा की चामर-धारिणी हेम नाग की पुत्री पाटला हूँ ॥ ४० ॥

---

१. वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः
दंष्ट्री घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि—अमरकोषः ।

अचले विचय पतत्त्रिणोऽय फलित साधु ममाहितश्रमोऽपि ।
यदित पुरुषोत्तमोऽसि दृष्टो वनमध्ये निबिडश्रियोपगूढ़ः ॥ ४१ ॥

इस पर्वत पर हंस को ढूँढते हुए मुझे यद्यपि थकावट सी प्रतीत हो रही थी, फिर भी मेरा हंस को ढूँढना सफल ही रहा, क्योंकि अत्यधिक कान्ति से युक्त आप जैसे पुरुष का दर्शन मैं इस वन में पा सकी ॥ ४१ ॥

उपरोधमिम न मन्यसे चेत् यदि वाऽस्मासु तवास्ति पक्षपातः ।
वद तन्चरता क्वचिद्वनेऽस्मिन् स सहारो विहगस्त्वया नु दृष्टः ॥ ४२ ॥

यदि आपको कोई आपत्ति न हो और यदि आपका हमारे प्रति जरा भी प्रेम (सहानुभूति) हो तो (कृपया) आप यह बतायें कि क्या आपने इस वन में कहीं उस हारवाले हंस को देखा है ॥ ४२ ॥

न म दृष्टिमितस्तथापि मन्ये तन्ह वद्विचयादितो निवर्ते ।
ननु ताम्यति मामनाप्तचिन्ता चिरयन्त्यां मयि साऽहिराजकन्या ॥४३॥

मैं समझती हूँ कि सम्भवत आपकी दृष्टि में भी वह हंस नहीं आया । अत अब मैं उसकी खोज न करके यहीं से लौट जाना चाहती हूँ । मेरे इतनी देर तक यहाँ भटकते रहने से वह नागराजपुत्री अत्यन्त चिन्तित होकर व्याकुल हो रही होगी । मैं देर से उसके पास जाऊँगी तो वह अधिक व्याकुल हो जायेगी ॥ ४३ ॥

अथवा मृगभङ्गिनोपनीते विधिना सा नवसाहसाङ्कबाणे ।
प्रणयार्पितलोचना सनामन्यधुनाऽप्यालिखितेव नूनमास्ते ॥ ४४ ॥

अथवा दैव के द्वारा मृग के बहाने से प्राप्त कराये गये नवसाहसाङ्क के नामाङ्कित बाण को पाकर वह प्रेम भरी दृष्टि से निश्चय ही अबतक भी उसी बाण को चित्रलिखित सी देख रही होगी ॥ ४४ ॥

पुनरपि पाटलोक्ति

इति सा समुदीर्य तत्पुरस्तान् अवलोक्यैव पुनश्चमत्कृतेव ।
स्फुटकेलिमृगोपनीतबाणस्मरणस्मेरमुखी पुनर्जगाद ॥ ४५ ॥

पाटला का पुन कथन

इतना कह चुकने पर पाटला की दृष्टि राजा के हाथ के बाणों पर पड़ी । देखते ही पाटला चमत्कृत सी हो गई और क्रीडामृग के पास मिले हुए बाण का स्मरण करके मुख पर आश्चर्य का भाव लाती हुई पुन राजा से बोली ॥ ४५ ॥

स नृलोकशशि त्वमेव मन्ये मृगयाबद्धरुचि म यत्पुरस्त ।
भुवनाभयदायिनामसीपा भवत सवदतीव सायकानाम् ॥ ४६ ॥

मैं समझती हूँ शिकार खेलने की रुचि वाले, इस धरातल के चन्द्रमा

सम्भवतः आप ही हैं। क्योंकि सारे संसार को अभयदान देनेवाले आपके इन्हीं बाणों के समान वह बाण भी लगता है॥ ४६॥

स्थितमेतदयोमुखेष्वमीषु स्फुटवर्णं तव नामधेयलक्ष्म।
अवनीतिलक त्वयि प्ररूढं मम सन्देहलवं बलात् प्रमाष्टि॥ ४७॥

लौहमुख वाले इन बाणों पर आपका नाम स्पष्ट अक्षरों में अंकित है। हे राजेन्द्र! आपके नाम से अङ्कित ये बाण मेरे रहे-सहे सन्देह को भी हठात् दूर कर रहे हैं॥ ४७॥

समुपैति सनाथतां किमन्यत् त्रितयेन त्रितयं नरेन्द्रचन्द्रः।
त्रिदिवं नमुचिद्विषा त्वयेयं वसुधा वासुकिना रसातलं च॥ ४८॥

हे राजचन्द्र! अधिक क्या कहूँ! तीन चीजें मानो इन तीनों से सनाथ हो गई हैं। इन्द्र से स्वर्ग, आप से भूतल और वासुकि से रसातल अर्थात् आप तीनों को अत्यन्त योग्य रूप में पाकर ये तीनों सनाथ हैं॥ ४८॥

सनये नृपतावखंडिताज्ञे त्वयि शासत्यवनीं दिलीपकल्पे।
विदधीत पदं सुदुर्नये कस्तमृते हारमलिम्लुचं विहङ्गम्॥ ४९॥

राजा दिलीप के समान जिसकी आज्ञा का कभी भंग नहीं होता, ऐसे तुम्हारे इस पृथ्वी के शासक रहते हुए हार को चुराने वाले हंस को छोड़ कर और किसकी इतनी हिम्मत हो सकती है, जो अन्याय के मार्ग पर पैर रखे॥ ४९॥

असतामसुहृन्न लज्जतेऽयं किमिति ज्याकिणलाञ्छितो भुजस्ते।
अवनौ यदनेन रक्षितायां वयमस्यां मुषिताः पतत्रिणापि॥ ५०॥

तुम्हारे हाथों से जिस पृथ्वी की रक्षा हो रही हो, उसीमें हम यदि एक पक्षी के द्वारा लूट ली गई हैं, तो क्या दुष्टों के लिये साक्षात् शत्रु तथा धनुष की प्रत्यञ्चा के चिह्नों से युक्त तुम्हारा यह हाथ (ऐसा अन्याय देखकर भी) लज्जित नहीं होता? ॥ ५०॥

अपयातु खगः स तेन कृत्यं नहि मे हारमिह त्वमेव याच्यः।
न दिशन्ति किमत्र चोरलुप्तं बत षष्ठांशभुजो वसुन्धरायाः॥ ५१॥

वह हंस हार लेकर भाग गया तो भागने दो। मेरा उससे कोई प्रयोजन नहीं। अब तो मैं (उसके लिये) आप से ही प्रार्थना करूँगी। षष्ठांश को ग्रहण करने वाले पृथ्वी के राजा क्या चोर की चुराई वस्तु को नहीं दिलाया करते? (या स्वयं उसकी पूर्ति नहीं कर देते॥ ५१॥

पथि चेदवतिष्ठते प्रणीते मनुना नाथ तदर्प्यतां स हारः।
न नरेन्द्र भवादृशाः कदाचित् पदवीं न्यायविदां विलङ्घयन्ति॥ ५२॥

हे नाथ ! यदि आप मनु के प्रदर्शित मार्ग पर चल रहे हैं, तो हमें वह हार दिला दीजिये (या दीजिये)। हे राजन् ! आप जैसे लोग न्यायशील पुरुषों के मार्ग का कभी भी उल्लंघन नहीं करते अर्थात् आप जैसे लोग न्याय मार्ग का त्याग नहीं करते ॥ ५२ ॥

निजमर्थयसे शिलीमुखं चेत भवता यत्नवताऽपि किं स लभ्य ।
त्वमनागसि यच्छशिप्रभाया प्रहरन् केलिमृगे कृतव्यलीक ॥ ५३ ।

यदि आप (पहले) अपने बाण को माँगने की इच्छा करते हैं तो क्या वह बाण आपको लाख प्रयत्न करने पर भी मिल सकता है ? क्योंकि आपने शशिप्रभा के निरपराध मृग पर बाण का प्रहार करके अच्छा काम नहीं किया है ॥ ५३ ॥

अथवा मृगयिष्यते न हार विशिखं दास्यति चोरगेन्द्रकन्या ।
त्वयि नेत्रपथातिथित्वमाप्ते सुलभोऽस्या हि महाजनोपरोध ॥ ५४ ॥

तुम यदि हार खोजकर न दोगे तो नागराजकन्या उसे खोजने के चक्कर में नहीं रहेगी, पर वह तुम्हें देखते ही तुम्हारा बाण वापस कर देगी, ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि बड़े लोगों के साथ विरोध करना उसके लिए बहुत ही मामूली बात है ॥ ५४ ॥

अतिदूरत एव दृश्यतेऽयं त्वमिवाभ्युन्नतिमानितो नगेन्द्र ।
वहति प्रणयोपरुद्धकूला कलहंसैरमुमन्तरेण रेवा ॥ ५५ ॥

दूर से ही आपकी भाँति अति उन्नत यह पर्वत भी दिखाई पड रहा है। इसीके बीच से होकर रेवा नदी बह रही है, जिसके किनारे पर सुन्दर क्रीडाहंस प्रणयक्रीडा कर रहे हैं ॥ ५५ ॥

अमृतेन्दुकलासहोदराऽस्या सुतनुस्तीरतलेऽवतिष्ठते सा ।
उरसीव पयोधिराजकन्या वनमालाभरणे रथाङ्गपाणे ॥ ५६ ॥

इसी रेवा नदी के तट पर सुन्दर शरीरवाली, तथा अमृत के समान शीतल तथा आह्लादकारक चन्द्रकला की तरह सुन्दर शशिप्रभा वहाँ उसी प्रकार शोभित है, मानो विष्णु भगवान के वनमाला से विभूषित वक्ष स्थल पर लक्ष्मी विराजमान हो ॥ ५६ ॥

तदित स्वयमेव देव गत्वा पुलिनं सोमभुवस्तरङ्गवत्या ।
त्वगलुप्तविभूषणा भितौ ते फणिराजेन्द्रसुता विनोधयेति ॥ ५७ ॥

हे देव ! यहाँ चन्द्र से पैदा हुई रेवा नदी के किनारे पर जाकर आप स्वय उस नागेन्द्रकन्या को समझा दीजिए, जिसका हार आपकी पृथ्वी में अर्थात् आपके राजा रहते इस ने चुरा लिया है ॥ ५७ ॥

सानन्दं नायकोक्तिः

इति तद्वचसा स्मरैकदूतप्रसवोल्लासवसन्तवासरेण ।
स नृपः कमपि प्रमोदमापन् घनराजिध्वनिनेव नीलकण्ठः ॥ ५८ ॥

आनन्दपूर्वक नायक का कथन

काम के एकमात्र दूत आम्रमञ्जरियों के उल्लास (विकास) के लिये वसन्तवासर के समान पाटला के मधुर वचन सुन कर राजा मेघपंक्ति की ध्वनि को सुनकर प्रसन्न होने वाले मोर की भाँति अत्यन्त आनन्दित हो गया ॥ ५८ ॥

अवदच्च विहस्य पार्थिवेन्द्रः फणिराजेन्द्रसुताविलासिनीं ताम् ।
वचसोत्कयता मयूरशावान् नवजीमूतनिनादसोदरेण ॥ ५९ ॥

नवीन मेघ का शब्द जिस प्रकार मयूर-शावकों (बच्चों) को आनन्दित करता है, उसी प्रकार राजा भी (अपनी मधुर वाणी से) नागराज पुत्री की उस परिचारिका को आनन्दित करता हुआ हंसकर बोला ॥ ५९ ॥

अपि नाम मूर्ध्नि वेत्सि वक्तुं निपुणं न्यायमनुज्झती वचांसि ।
प्रसभं विहतास्त्वया यदेते वयमात्मस्खलितेऽपि सापराधाः ॥ ६० ॥

वास्तव में न्यायमार्ग का त्याग न करती हुई तुम मीठे वचनों को बोलना भलीभाँति जानती हो । क्योंकि गलती हमारी है । तुमने निर्भय होकर हमारी गलती हमें बतायी है ॥ ६० ॥

इदमोमिति गृह्यते वचस्ते सह मेधाविनि कस्त्वया विवादः ।
यदिमा विशदोद्गमा गिरस्ते पथि सिद्धान्तसमीक्षिते चरन्ति ॥ ६१ ॥

हे चतुर बुद्धिवाली ! मैं तुम्हारी बात को अक्षरशः स्वीकार करता हूं । तुम्हारे साथ विवाद किस बात का ? क्योंकि तुम्हारी यह स्वच्छ प्रवाहशील वाणी सिद्धान्तपूर्ण मार्ग पर स्थित है ॥ ७१ ॥

तदनेन विनोदयाशु तावन् मम हारेण मनः शशिप्रभायाः ।
इह पल्वलसैकतेषु यावत् तदलङ्कारमवेक्षितुं यतिष्ये ॥ ६२ ॥

जब तक मैं जलाशयों के किनारे तुम्हारी सखी के हार को ढूँढने का प्रयत्न करता हूँ, तब तक तुम मेरे इस हार को ले जाकर शशिप्रभा का मन बहलाओ ॥ ६२ ॥

हारप्रदानम्

अथ हारमनादरेण कंठात् स्वयमाकृष्य स कृष्टचन्द्रशोभम् ।
विहसन्नरविन्दकोशताम्रे निदधे पाणितले विलासवत्याः ॥ ६३ ॥

हार देना

इसके पश्चात् चन्द्रमा की शोभा को हरण करनेवाले, अपने हार को बिना किसी हिचकिचाहट के गले से निकालकर हंसते हुए राजा ने कमल की पँखुड़ियों

के समान रक्तवर्ण एवं कोमल कान्तिवाले उस पाटला के हाथ पर रख दिया ॥ ६३ ॥

अपि कोशगृहोदर दुराप फणिना भर्तुरुपोढविस्मया सा ।
तमुदञ्चितपक्ष्मणा मृगाक्षी लिखितेनेव ददर्श लोचनेन ॥ ६४ ॥

अहिराज (वासुकि) के खजाने में भी दुष्प्राप्य उस हार को देखकर विस्मित हुई मृगनयनी पाटला, अपलक दृष्टि से चित्रलिखी सी उस हार को देखती रही ॥ ६४ ॥

शशिप्रभाहारधारणम्

अवकृष्य सलीलमुत्तरीयात् सितमेघादिव तारकावितानम् ।
उरसा स बभार हारमीशः स्तनपर्यङ्कशयं शशिप्रभायाः ॥ ६५ ॥

शशिप्रभा के हार को पहनना

इसके पश्चात् राजा ने अपने दुपट्टे में से श्वेत मेघ के बीच से तारकावली की भाँति उस हार को निकालकर अपने गले में पहन लिया, जो शशिप्रभा के वक्षस्थल की शोभा बढ़ाया करता था ॥ ६५ ॥

प्रदर्शि स्म हसन् रमाङ्गदस्ताम् उरगस्त्रीमथ भर्तुरिङ्गितज्ञः ।
यदि कौतुकमस्त्यमत्सरस्ते तदितः किञ्चिदितोऽवलोकयेति ॥ ६६ ॥

स्वामी के इंगित (इशारों) को जाननेवाले अर्थात् राजा के अभिप्राय को समझनेवाले रमांगद ने हँसते हुए उस नाग स्त्री से कहा, यदि तुम्हें कुछ उत्सुकता है और तुम ईर्ष्या नहीं करती हो तो ज़रा इधर देखो ॥ ६६ ॥

अथ हारलतानिकृष्टदृष्टिः सहसा वारिविहङ्गमाबलुनम् ।
उरगेन्द्रसुताविभूषणं तन्नृपतेर्वक्षसि पाटला ददर्श ॥ ६७ ॥

तब उस राजा के दिये हुए हार की ओर से दृष्टि हटाकर पाटला ने हंस द्वारा चुराये हुए नागराज पुत्री के हार को राजा के वक्षस्थल पर देखा ॥ ६७ ॥

पुनः पाटलाकथनम्

दशनच्छदमात्तबिम्बशोभं स्नपयन्ती सुधयेव हासकान्त्या ।
अवदच्च वचांसि पार्थिवं सा चतुरं परिहासपेशलानि ॥ ६८ ॥

पुनः पाटला का कथन

बिम्बफल की शोभावाले अपने ओष्ठ को (अपने बिम्बाधर को) अपनी अमृत तुल्य हास्य-कान्ति से नहलाती हुई-सी (सींचती हुई सी) चतुर पाटला ने हँसी हँसी में राजा से ऐसे मधुर वचन कहे ॥ ६८ ॥

अपहर्तुमगास्त्वमेव हारं किमिति कल्पितराजहंसरूपः ।
विदितोऽसि घनस्तनोरगाणां नगरेऽस्त्येव हि कामरूपवार्ता ॥ ६९ ॥

बनावटी (कृत्रिम) राजहंस का रूप धारण कर कहीं आप ही तो हार को चुराने नहीं गये ? क्योंकि इस बात के लिए आप बहुत प्रसिद्ध हैं। नागलोक में आपके बहुरूप-धारण की चर्चा बहुत सुनी जाती है ॥ ६९ ॥

परवञ्चनपण्डिता मतिस्ते यदि नैवं कथमन्यथा नरेन्द्र !
इदमाभरणं हरस्यरण्ये हरहासैकसितं शशिप्रभायाः ॥ ७० ॥

हे राजन् ! यदि तुम्हारी बुद्धि दूसरों को ठगने की या धोखा देने की न होती तो शिव के हास के समान उज्ज्वल वर्णवाले शशिप्रभा के हार को तुम इस वन में कैसे चुरा लेते ! ॥ ७० ॥

अवनीवलये त्वमात्तदण्डः सहसे नाऽविनयांशमित्यवैमि ।
अथ च स्थितिमात्मना विधत्से विषये दस्युनिषेविते किमेतत् ॥ ७१ ॥

इस पृथ्वी के शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेनेवाले तुम अन्याय को अंशमात्र भी न सहते होगे, ऐसा मैं समझती हूँ। फिर आप स्वयं ही चोरों के रास्ते पर चल रहे हैं, यह कैसी विचित्र बात है ॥ ७१ ॥

क्षितिप स्मयसे किमेष केलिर् न भवत्यर्पय हारमस्मदीयम् ।
नयवर्त्मजुषो भवादृशः किं न परस्वग्रहणादिह त्रपन्ते ॥ ७२ ।

हे राजन् ! आप को कुछ आश्चर्य हो रहा है या नहीं ? या क्या आपने इसे खेल समझ रखा है ? इसे हँसी-ठट्ठा न समझिये। आप हमारे हार को दे दीजिए। न्यायमार्ग पर चलने वाले आप जैसे लोग दूसरे का धन ग्रहण करने में क्या लज्जित नहीं होते हैं ? ॥ ७२ ॥

अथवा परतोऽस्तु नर्म नास्यां भुवि देवेन समोऽस्ति पार्थिवोऽन्यः ।
अपविद्धतया न यस्य दृष्टेर् अपसर्पन्त्यथ खेचराः किमन्यैः ॥ ७३ ॥

अथवा हँसी-मजाक दूर करिये। इस पृथ्वी पर आपके समान तो अन्य कोई ऐसा राजा है ही नहीं, जिसकी तीखी दृष्टि पड़ने पर आकाशगामी जीव भी उसके प्रभाव से दूर नहीं हो सकते, औरों की तो बात ही क्या है ?

अनयोः किमपि त्वया विलासिन् परिवर्तोऽयमकारि हारयोर्यः ।
वचसामवकाशमीश दत्ते स न कस्यानृजुचेतसो जनस्य ॥ ७४ ॥

हे विलासी राजन् ! आपने जो इन दोनों हारों का परिवर्तन किया है, वह भला किस चतुर व्यक्ति को भी कुछ कहने का मौका न देगा। अर्थात् इस परिवर्तन से साधारण व्यक्ति भी तुम्हारा भाव जान सकता है ॥ ७४ ॥

विहितो नहि वक्षसि त्वयाऽयं नृप हारः फणिराजकन्यकायाः ।
किमपीप्सितमात्मनो विधातुर् विहितं सूत्रमिदं मनोभवेन ॥ ७५ ॥

हे देव ! नागकन्या के इस हार को आपने स्वयं जान-बूझकर अपने वक्षःस्थल पर धारण नहीं किया, अपितु अपनी कुछ मनोकामना को पूर्ण करने

के लिए मानो कामदेव ने ही इस रूप में अभीष्ट वस्तु का सूत्रपात किया है। अर्थात् शशिप्रभा के प्रेम का यह प्रथम सूत्रपात है ॥ ७५ ॥

ननु याम्यमुना शशिप्रभायास् तत्र हारेण मनो विनोदयामि।
त्वयि साप्यलमेव सान्द्रचेतम्मुतनु स्नेहरसार्द्रतामुपैतु ॥ ७६ ॥

अच्छा, तो अब मैं जाती हूँ। आपके इस हार से मैं शशिप्रभा का मनोविनोद करूँगी। स्नेह से स्निग्ध चित्त वाली वह सुन्दरी भी आपके प्रेम से पुलकित हो उठेगी ॥ ७६ ॥

उचित निजसायकानुरोधान् अधिराजे द्रसुतोपसर्पणं ते।
परतोऽस्तु शरस्त्वदर्थिता सा किमु न त्यागवशंवदा ददाति ॥ ७७ ॥

अपने बाण को माँगने के लिए शशिप्रभा के पास आपका जाना भी उचित है। बाण की बात छोड़ो, भला वह कौन ऐसी वस्तु है, जो तुम उससे माँगो, और वह तुम्हें न दे ॥ ७७ ॥

सरसोऽस्य विमुञ्चतीरलेखाम् अनुरेवापुलिनं गृहाण यात्राम्।
उरगाधिपरूपपक्षपातं शमय व्यालवधूविलोचनानाम् ॥ ७८ ॥

अब इस तालाब के तट को छोड़कर आप रेवा के किनारे चलना प्रारम्भ कीजिये। नागस्त्रियों को जो अपने अपने पतियों के सौन्दर्य के प्रति पक्षपात (अनुराग) है, (चलकर जरा) आप उसे अपने दर्शन देकर शान्त करें। अर्थात् उन्हें यह मालुम हो जाय कि मृत्युलोक में नागों से भी सुन्दर लोग रहते हैं ॥ ७८ ॥

शशिप्रभादर्शनार्थगमनम्

इति वल्गु वचो निशम्य तस्या स नृपः पन्नगरामलोचनायाः।
स्थितमत्र वचस्यलङ्घनीये तव कल्याणि मयेति तामुवाच ॥ ७९ ॥

शशिप्रभा दर्शन के लिये प्रस्थान

नागराज वधू पाटला के सुन्दर और मीठे वचनों को सुनकर राजा ने कहा कि हे कल्याणि! मैं तुम्हारे अनुल्लङ्घनीय वचनों पर स्थित हूँ। मैं तुम्हारे वचनों का उल्लंघन नहीं कर सकता अर्थात् तुम जो कुछ कह रही हो, वह सब मुझे स्वीकार है ॥ ७६ ॥

अथ सानुजरादिनी विधाय क्षितिपालं पुरतश्चचाल बाला।
हृदयेन परामर्शो चैव विलसन्मासलविस्मयो नरेन्द्र ॥ ८० ॥

इसके पश्चात् रहस्यमय वचनों को बोलनेवाली वह पाटला राजा को आगे करके चल पड़ी। अत्यधिक आश्चर्य से युक्त हुआ राजा भी अपने हृदय में इस भाँति विचार करने लगा ॥ ८० ॥

अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्रः क्व स मृगः
क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स पतगः क्वेयमबला
क्व तत् कन्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क्व च वयं
स्वमाकूतं धाता किमपि निभृतं पल्लवयति ॥ ८१ ॥

कहाँ तो यह घोर वन, सोने की शृंखला पहने हुए कहाँ वह मृग, कहाँ यह मोतियों का हार, कहाँ यह हंस, कहाँ यह स्त्री, कहाँ नागराज की सर्वसुन्दरी कन्या, और कहाँ हम लोग ? इन सारी वस्तुओं को देखकर विदित होता है कि विधाता का विधान गुप्तरूप में पल्लवित हो रहा है। अर्थात् इस सब को एकत्र देखकर मालूम पड़ता है कि विधाता अपने मन में छिपे किसी अभिप्राय को अब प्रायोगिक रूप देना चाहता है ॥ ८१ ॥

अथ मदगजलीलाखेलगामी स कृत्वा
कनकविशखयाच्ञाव्याजमव्याजकान्तः ।
अवनिहरिणलक्ष्मा साहसोपार्जितश्रीः
अहिपरिवृढकन्यालोकनाय प्रतस्थे ॥ ८२ ॥

इति श्रीमृगांकदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसांकचरिते महाकाव्ये शशिप्रभावलोकनार्थप्रस्थानं
नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् मदोन्मत्त हाथियों की भाँति लीलापूर्वक चलनेवाला, अपने साहस से लक्ष्मी को प्राप्त करने वाला, इस धरती का चन्द्रमा, स्वाभाविक सुन्दर वह राजा अपने स्वर्णफल वाले बाण को माँगने का बहाना बनाकर फणीन्द्र-कन्या शशिप्रभा को देखने के लिए चल पड़ा ॥ ८२ ॥

श्रीमृगांकदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसांक-
चरित महाकाव्य का शशिप्रभा को देखने के लिए
प्रस्थान नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥



अथ षष्ठः सर्गः

षष्ठ सर्ग

नायिकावस्थावर्णनम्

सदा फणीन्द्रकन्यापि बाणनामाङ्कसूचिते ।
नरेन्द्रतिलके तस्मिन्नभिलाष बबन्ध सा ॥ १ ॥

नायिका की दशा का वर्णन

उधर वह नागराजकन्या भी बाणों पर लिखे हुए नामवाले राजा के प्रति अनुरागवती हो गई। राजा से मिलने की उसकी अभिलाषा जाग्रत हुई ॥ १ ॥

सहसा हृदये तस्या निदधे मन्मथ पदम् ।
अशोकयष्टिस्तबके सराग इव षट्पदः ॥ २ ॥

उसके हृदय में कामदेव ने वैसे ही प्रवेश किया, जैसे अशोक की लता के विकसित पुष्पगुच्छ में भ्रमर प्रेम से प्रविष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

अवशा साऽभवच्चित्र नाम्नापि पृथिवीपते ।
न तदस्त्यत्र यन्नास्त्रं मन्नकस्य मनोभुवः ॥ ३ ॥

बड़े आश्चर्य की बात है कि राजा के नाम से ही वह विह्वलचित्त हो गई, अपने पर काबू न रख सकी। इस दुनिया में कोई वस्तु नहीं, जो काम के लिए अपनी विजय का अस्त्र न बन जाय ॥ ३ ॥

स्मराग्निकणमेणाक्ष्यास्तस्या समुददीपयन् ।
मकरध्वजसाम्राज्यसचिवो मलयानिलः ॥ ४ ॥

कामदेव के साम्राज्य का मंत्री बना हुआ मलयानिल, उस मृगलोचना के हृदय में स्थित कामाग्नि की चिनगारी को अत्यधिक प्रज्वलित करने लगा अर्थात् मलयानिल के सम्पर्क से वह अधिक कामपीडित हो गई ॥ ४ ॥

सोऽसरत्स्मरलीलेन नवेन वयसा बभौ ।
उन्मिषन्मधुलेखेन मुकुलेनेव मालती ॥ ५ ॥

जिसमें काम-लीलाएँ प्रकट होती हैं, उस नवयौवन से वह इस भाँति शोभित हुई, जैसे चमेली पुष्प की लता, जो उस कली से शोभायमान होती है, जिसपर मधुलेखा अर्थात् मकरन्द राशि विराजमान हो ॥ ५ ॥

साऽतनुश्वसनस्पृष्टपाटलाधरपल्लवम् ।
उवाह मुखमुज्जृम्भमम्भोजमिव पद्मिनी ॥ ६ ॥

दीर्घ निश्वास के कारण सूखकर लाल हुए अधरों से वह ऐसी प्रतीत होती थी, मानो खिले हुए लाल कमल को कमलिनी ने धारण किया हो ॥ ६ ॥

निकामसरले तस्मिन् सा मुहुस्तरले दृशौ ।
शरे नरेन्द्रचन्द्रस्य चिक्षेप न सखीजने ॥ ७ ॥

वह शशिकला अपनी चंचल आँखों से पुनः-पुनः एकटक नरेन्द्रचन्द्र (सिन्धुराज) के एकदम सीधे बाण को ही देखती रही। सखियों पर उसने कोई ध्यान न दिया ॥ ७ ॥

नरेन्द्रनामाङ्कलिपिस्तामानन्दयति स्म सा ।
कुमुद्वतीमिवोदञ्चद्वालेन्दुकिरणच्छटा ॥ ८ ॥

जिस भाँति उदयकालीन बालेन्दु की किरणकान्ति कुमुदिनी को आनन्द देती है, उसी भाँति राजा के नाम से अङ्कित (बाण पर लिखी) वह लिपि भी उसे आनन्द दे रही थी ॥ ८ ॥

हेमपुङ्खाङ्किते तस्मिन् शरे करमुपेयुषि ।
बलाद्विवेश सा बाला दीक्षां वैवाहिकीमिव ॥ ६ ॥

स्वर्णपुङ्ख वाले उस बाण के हाथ में आ जाने से उसके प्रति वह इतनी सानुराग हो गई, मानो सानुकूल पति पाकर बरबस विवाहकालीन दीक्षा उसने पा ली हो ॥ ६ ॥

तेनावाप्ततदाताम्रपाणिस्पर्शेन पत्रिणा ।
स्फुरत्कान्तिचयव्याजादमुच्यन्तेव पल्लवाः ॥ १० ॥

उसके ईषत् रक्तवर्ण के हाथ के स्पर्श के कारण वह बाण ऐसा प्रतीत होता था, जैसे अपने चमकनेवाले प्रभासमूह के बहाने वह नये-नये किसलयों को प्रकट कर रहा हो। अर्थात् उस बाण की कान्ति के साथ शशिकला के हाथ की लाल कान्ति मिल गई। वह कान्ति प्रसृत होने लगी। ऐसा मालूम पड़ा, जैसे वह बाण कोमल किसलयों को गिरा रहा हो ॥ १० ॥

नवीनसाहसाङ्कस्य कामदेवाकृतेरयम् ।
मालवैकमृगाङ्कस्य सिन्धुराजस्य सायकः ॥ ११ ॥
पुनः पुनरिति स्वादु नृपतेर्नामल सा ।
अपठच्चारुबिम्बोष्ठलुठद्दशनचन्द्रिका ॥ १२ ॥

उसने उस बाण पर "कामदेव के समान आकृति वाले, मालव देश के चन्द्र सिन्धुराज नवसाहसाङ्क का यह बाण है" यह अङ्कित देखा और उन सुन्दर नामाक्षरों को वह बार-बार पढ़ने लगी। तब रह-रहकर उसके अधर पर दाँतों की आभा खेलने लगी ॥ ११-१२ ॥

सान्दानितकम्

अधीत्य कौतुकेनाथ कृतपञ्चममूर्च्छना ।
तदग्रे नृपनामाङ्कं जगुः पातालकन्यका ॥ १३ ॥

सान्दानितक

उस राग पर नवसाहसाङ्क का नाम पढकर पाताललोक की कन्याएँ पञ्चम स्वर की मूर्च्छना के साथ अर्थात् पञ्चम स्वर के आलाप तान के साथ जोर जोर से बार बार उसे उस नाम को सुनाने लगीं। (नाम का गीत गाने लगीं) ॥ १३ ॥

अदृष्टेऽप्युत्सुका राज्ञि तद्गीतेन बभूव सा ।
प्रबोधे यदनङ्गाग्नेः पञ्चमः प्रथमा समित् ॥ १४ ॥

उनके नाम गीत से राजा को न देखने पर भी वह राजा के प्रति आसक्त हो गई। वस्तुतः ठीक भी है, क्योंकि पञ्चम स्वर कामाग्नि को प्रज्वलित करने की पहली समिधा है ॥ १४ ॥

अवेपत समुन्मीलद्विलासकुसुमाञ्चिता ।
मनोभवानिलस्पर्शात्सद्यो वनलतेव सा ॥ १५ ॥

कामरूपी पवन के स्पर्शमात्र से ही, अपने नवोद्गत हाव भाव रूपी कुसुमों से सुशोभित वह वनलता की भाँति काँपने लगी ॥ १५ ॥

नवानुरागमङ्गेन व्यञ्जता चिह्नचुम्बिना ।
विना वचनमाचख्यौ सखीषु चतुरासु सा ॥ १६ ॥

स्पष्ट रूप से प्रेम के चिन्हों से युक्त उसके अंग प्रत्यंग ने बिना कहे ही उसकी सखियों पर राजा के प्रति उसके गाढानुराग को व्यक्त कर दिया। उसकी मुखाकृति को देखकर सखियाँ उसके मनोभावों को समझ गईं ॥ १६ ॥

शशिप्रभायाः प्रश्नः

सा रहस्यमथेत्थं सा सखीजनमभाषत ।
सुधानिष्यन्दजडया शरदिन्दुमुखी गिरा ॥ १७ ॥

शशिप्रभा का प्रश्न

उस चन्द्रमुखी शशिप्रभा ने सुधा बरसाने के कारण उस वक्त स्तब्ध अपनी वाणी से पुनः साभिप्राय अपनी सखियों से कहा ॥ १७ ॥

अभेदमिन्दुना नीतः साचिव्यं मीनकेतुना ।
सत्यं क सिन्धुराजोऽयं साहसाङ्के निरूप्यते ॥ १८ ॥

हे सखियों! जिससे चन्द्रमा कुछ भी भिन्न नहीं, तथा जो काम का सचिव है, और जिसे साहसाङ्क कहा जाता है, ऐसा यह कौन सिन्धुराज है, जिसके बारे में तुम सब वर्णन कर रही हो ॥ १८ ॥

किमेतन् अवतिष्ठध्वे मौनं मुञ्चत शंसत ।
उन्मीलति यदन्तर्मे बलात्कौतुककन्दली ॥ १९ ॥

तुम लोग इस तरह क्यों मौन बैठी हुई हो ? चुप्पी छोड़ो, कुछ तो कहो ! मेरे हृदय में बरबस उत्सुकता का अंकुर प्रस्फुरित हो रहा है, जिसके कारण मैं व्यथित हूँ ॥ १९ ॥

माल्यवत्या उत्तरम्

अथ माल्यवती नाम तत्सखी सिद्धकन्यका ।
इति स्मितसुधार्द्रेण वचसा तामवोचत ॥ २० ॥

माल्यवती का उत्तर देना

तब उसकी सखी सिद्धराज की पुत्री माल्यवती ने हास्य रूपी अमृत से आर्द्र वचन शशिप्रभा से कहे ॥ २० ॥

सखि ! साहसिकः सोऽयमवन्तितिलको नृपः ।
गीयते वेतकापाण्डु यस्योरगपुरे यशः ॥ २१ ॥

हे सखी ! अत्यन्त साहसी, बेत के समान पाण्डुवर्ण का वह अवन्तिपति है, जिसका यश नागलोक में भी गाया जाता है ॥ २१ ॥

तं काश्यपिसहस्राक्षमद्राक्षमहमेकदा ।
गता श्रीमन्महाकालपर्वण्युज्जयिनीं पुरीम् ॥ २२ ॥

एक बार जब मैं महाकालेश्वर के उत्सव में उज्जयिनी गई थी, तब मैंने उस धरती के इन्द्र को देखा था ॥ २२ ॥

तन्वि तिग्मांशुनेव द्यौर्निशेव शशलक्ष्मणा ।
सा सनाथा पुरी तेन वज्रिणेवामरावती ॥ २३ ॥

जिस भाँति सूर्य से आकाश, चन्द्रमा से रात, इन्द्र से अमरावती सनाथ होकर शोभा पाती है, उसी भाँति यह धरती भी नवसाहसाङ्क से सुशोभित हो रही है ॥ २३ ॥

रम्भा त्वयेव यत् सत्यं तेनाऽपि नलकूबरः ।
त्याजितो रूपजं गर्वमुर्वीमकरकेतुना ॥ २४ ॥

अरी सखी ! भूलोक के कामदेव उस राजा ने, जैसे तुमने रम्भा का सौन्दर्याभिमान छुड़ाया, वैसे ही नलकूबर का सौन्दर्याभिमान भी चूर कर दिया ॥ २४ ॥

अकलङ्काकृतेस्तस्य चतुःषष्टिकलावतः ।
तुलाधिरोहहेवाके कः षोडशकलः शशी ॥ २५ ॥

चौसठ कलाओं से परिपूर्ण निष्कलङ्काकृति वाले उस राजा की तुलना में भला सोलह कला वाला चन्द्रमा कैसे ठहर सकता है ॥ २५ ॥

तस्यावनिप्रदीपस्य ते ते नैसर्गिका गुणा ।
क्व नाम न प्रकाशन्ते रवेरिव मरीचयः ॥ २६ ॥

सूर्य की किरणों के समान उस राजा के स्वाभाविक गुण भला कहाँ कहाँ नहीं प्रकाशित होते हैं ? और कहाँ कहाँ नहीं प्रकाश फैलाते हैं ? सर्वत्र उसके गुणों की चर्चा है ॥ २६ ॥

न नागेषु न सिद्धेषु न नरेष्वमरेषु च ।
क्वापि क्वापि मयादृस्तद्रूपोल्लेखरेखया ॥ २७ ॥

उसकी रूपरेखा का सादृश्य न तो नागों में है, न सिद्धों में, न देवताओं में और न मनुष्यों में ही पाया जाता है ॥ २७ ॥

स हि येनापि कृत्येन गां गतः श्रूयते पुनः ।
निह्नुतैर्भुजद्वन्द्वो देवः श्रीवत्सलाञ्छनः ॥ २८ ॥

लोगों में ऐसी चर्चा है कि अपनी दो भुजाओं को छिपा लेने से अब केवल दो भुजाओं वाला यह राजा साक्षात् विष्णु है, जो किसी कार्य से धरती पर आया है ॥ २८ ॥

किमन्यत्तव सन्तुष्ट्यै पश्य चित्रे लिखाम्यहम् ।
चिरस्य दीर्घनयने तत्रास्तु नयनोत्सवः ॥ २९ ॥

और क्या कहूँ, तुम्हारे सन्तोष के लिए मैं यहाँ पर उसका चित्र बनाती हूँ। हे दीर्घ लोचनों वाली ! कुछ देर के लिए तुम्हारे आँखों की तृप्ति (मनोविनोद) तो हो ही जायगी ॥ २९ ॥

आकृतिलेखनम्

अथ सा सिद्धतनया तं लिलेख शिलातले ।
हृदि तूरगराजेन्द्रदुहितुर्मकेतनः ॥ ३० ॥

चित्र बनाना

एक ओर तो उस सिद्धराज कुमारी माल्यवती ने राजा का चित्र शिला-फलक पर अंकित करना प्रारम्भ किया, और दूसरी ओर काम ने उसे (राजा को) नागराज कुमारी शशिप्रभा के हृदय पर चित्रित कर दिया ॥ ३० ॥

तदालिखितभूपालं तया चिन्तितकामदम् ।
चिन्तामणेरप्यधिकं शिलातलममंस्त सा ॥ ३१ ॥

जिस शिला पर माल्यवती ने राजा का चित्र बनाया था, शशिप्रभा ने उस शिला को मनोवाञ्छित फल देने वाले चिन्तामणि मणि से भी अति प्रिय समझा ॥ ३१ ॥

ततश्चित्रगते तस्मिन् महीपाले मदालसाः।
सममेवाहिकन्यानां पेतुर्नेत्रपरम्पराः ॥ ३२ ॥

तब वहां पर उपस्थित सभी नागकन्याओं ने एक साथ ही उस चित्र-लिखित राजा को मदभरी नजर (मादक दृष्टि) से देखा ॥ ३२ ॥

पपौ शशिप्रभाप्येनं चिरमुत्पद्मलेखया।
पुनरुक्तीकृतोन्निद्रकर्णेन्दीवरया दृशा ॥ ३३ ॥

शशिप्रभा भी राजा के चित्रित रूप को अपनी अपलक नजर से एकटक अधिक देर तक देखती रही। उस समय उसकी आँखों की शोभा पास ही कान पर रखे विकसित कमल से और भी बढ गई ॥ ३३ ॥

रूपमास्वादयामास तस्यालेख्यगतस्य सा।
भ्रमरी वाऽरविन्दस्य सुधासहचरं मधु ॥ ३४ ॥

उस चित्रलिखित राजा की रूपराशि का आस्वाद वह उसी तरह करने लगी, जैसे भ्रमरी कमल के अमृततुल्य मधुरस का आस्वाद करती है ॥ ३४ ॥

आनीयताकुलत्वं सा त्रितयेन तनूदरी।
विस्मयेनातिसान्द्रेण मदेन मदनेन च ॥ ३५ ॥

उस कृशोदरी को उस समय इन तीनों ने बहुत व्याकुल कर दिया। १–अति विस्मय ने, २–काम ने और ३–मद ने ॥ ३५ ॥

विवेश हृदये तस्याः स चित्रलिखितो नृपः।
शरत्प्रसन्ने सरितः प्रतिमेन्दुरिवाम्भसि ॥ ३६ ॥

शरद्कालीन स्वच्छ सरिता के जल में जिस भाँति चन्द्र का प्रतिबिम्ब प्रविष्ट हो जाता है, उसी भाँति उसके हृदय में चित्रलिखित राजा प्रविष्ट हो गया ॥ ३६ ॥

स्तनपत्रलतां तस्या विभेद पुलकोद्गमः।
सत्यं यदन्तरङ्गेण वहिरंगो निरस्यते ॥ ३७ ॥

आनन्द के रोमाञ्चों से उसके स्तनों की शोभा बढ़ाने वाली पत्ररचना अस्त-व्यस्त-सी हो गई। सत्य ही है कि अन्तर्गत वस्तु अपना स्थान जमाने के लिए बाहर की वस्तु को हटा देती है ॥ ३७ ॥

तस्याः कुचयुगे किञ्चिन्निःश्वासः कम्पमादधे।
रथांगनाममिथुने सायन्तन इवानिलः ॥ ३८ ॥

सायंकालीन वायु के स्पर्श से (वियोग के कारण) भयभीत चकवा-चकवी के हृदय-कंपन की भाँति शशिप्रभा के श्वासों ने भी उसका हृदय कँपा दिया (दीर्घश्वास आने पर कुच काँपने लगे) ॥ ३८ ॥

तस्या स्वेदलवश्रेणिच्छद्मना वदनश्रिया।
निशतोऽन्तरनङ्गस्य लाजाञ्जलिरिवोज्झित ॥ ३९ ॥

ऐसा लगता था कि उसकी मुखश्री ने स्वेद बिन्दुओं के बहाने उसके हृदय मन्दिर में प्रवेश करते हुए कामदेव के स्वागत के लिए मानो लाजाञ्जलि बिखेर दी हो ॥ ३९ ॥

शङ्के शरसमृजर्जुर्नन् ददृशे मन्मथस्तया।
यत् सा मृदु चवणत्काञ्चिकिङ्किणीकमकम्पत ॥ ४० ॥

मानो शशिप्रभा ने अपने पर कामदेव को बाणों के निशान लगाते हुए देख लिया हो, और इसी से वह काँपने लगी, जिसके कारण उसकी करधनी भी मुखरित हो उठी ॥ ४० ॥

एष दृष्टस्त्वयेत्युक्ता सख्या सा साध्वसाकुला।
गद्गदाक्षरमव्यक्तं कृच्छ्रात् प्रतिवचो ददौ ॥ ४१ ॥

हे नागराजकन्या! तुमने देखा इस राजा को? सखि के इस प्रकार पूछने पर उसने काँपती हुई अर्थात् गद्गद वाणी से बड़ी कठिनाई से प्रत्युत्तर दिया ॥ ४१ ॥

चित्रगतेऽपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि।
व्रीडाधवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥ ४२ ॥

सखी के पूछने पर लाचार होकर लज्जा के कारण उसने राजा चित्रस्थित रहने पर भी शशिप्रभा के हृदय में उसके प्रति प्रेम निर्माण हुआ था, अत बरबस उसका मुखचन्द्र लज्जा के कारण धवलवर्ण हो गया ॥ ४२ ॥

दृष्टा सखीभिस्साकूतं सा बालाधरपल्लवे।
दधौ वैलक्ष्यहसितं प्रसूनमिव माधवी ॥ ४३ ॥

सखियों ने जब उसे साभिप्राय देख लिया अर्थात् उसके अभिप्राय को जब सखियाँ समझ गईं, तब उस बाला के किसलय तुल्य ओठ पर भी लज्जामिश्रित मधुर हँसी माधवी लता के फूल की भाँति शोभा पाने लगी ॥ ४३ ॥

नव प्रेम नवोत्कण्ठा नवास्ते ते मनोरथा।
इति तस्यास्तदैवाभूद् वृद्धे परिच्छद ॥ ४४ ॥

उसी समय नया प्रेम, नई उत्कण्ठा, नये नये मनोरथ उसके हृदय में उदित होने लगे। और उसके अन्तरंग सहचर हो गये ॥ ४४ ॥

किञ्चिन्नपातुमिद्धेन पुण्डरीकदलत्विषा।
तमानर्चैव राजेन्दुमनिमित्तस्मितेन सा ॥ ४५ ॥

उसने कुछ-कुछ लज्जा से भरी, बिना किसी कारण के अपनी हँसी से उस राजा की अर्चना की। मानो अर्धविकसित कमल की कलियाँ उसपर अर्पित की हों ॥ ४५ ॥

सा च दोःशायितभुवा नृपेणाध्यासिता हृदि ।
कृताङ्गभङ्गवलना झटित्यालस्यमाययौ ॥ ४६ ॥

(इसके पश्चात्) अपने मन में बाहु का तकिया बनाकर जमीन पर लेटे हुए राजा का ध्यान करती हुई वह देह तोड़ती हुई अर्थात् अँगड़ाती हुई शीघ्र ही आलस्य से युक्त हो गई ॥ ४६ ॥

तत्क्षणेनैव सा चित्रं तन्वी तन्मयतां ययौ ।
कं न प्रतारयत्येष कितवः कुसुमायुधः ॥ ४७ ॥

उसी समय फिर वह सुन्दरी राजा के ध्यान में पूर्ण रूप से मग्न हो गई । ठीक ही है, यह धूर्त कामदेव भला किसे नहीं ठगता ? अर्थात् सभी पर काम का प्रभाव पड़ जाता है ॥ ४७ ॥

स्तिमितेवावतस्थे सा सारङ्गायतलोचना ।
अचेतनेव शून्येव सुप्तेवालिखितेव च ॥ ४८ ॥

वह मृगनयनी अकस्मात् ऐसी हो गई, मानो या तो स्तब्ध हो, या चेतना शून्य हो गई हो, या सो गई हो अथवा चित्रलिखित सी हो गई हो ॥ ४८ ॥

स्मरेण मर्मणि क्वापि साऽविध्यत सुमध्यमा ।
अनिद्रितापि यत् साऽभूत् क्षणं मुकुलितेक्षणा ॥ ४९ ॥

सुन्दर कटिभाग वाली उसका मर्मस्थल कहीं कामदेव ने वेध दिया था, इसलिये वह सोई भी नहीं थी, फिर भी उसकी आँखे बन्द हो गईं अर्थात् वह आँखें बन्द किये हुए पड़ी रही ॥ ४९ ॥

व्यञ्जितानङ्गलीलेन शृङ्गाररसबन्धुना ।
तन्वी नवानुरागेण साऽन्यैव घटिताऽभवत् ॥ ५० ॥

ऐसे नवानुराग के कारण—जिससे काम सम्बन्धी हाव-भावस्वभावतः प्रकट होने लगे थे और जो शृङ्गाररस का सहायक था—वह तन्वी शशिप्रभा कुछ और सी दिखाई देने लगी ॥ ५० ॥

ऋजुनैक्षत यच्चित्रं यदभूच्च त्रपावती ।
तेनातिगूढभावापि सा सखीभिरलक्ष्यत ॥ ५१ ॥

चित्र पर पूरी सरल दृष्टि डालकर फिर एकाएक जब वह लजा गई, तब मन के भावों को छिपाने पर भी उसकी सखियों ने उसके भावों को पहचान ही तो लिया । (उसके मन की बात वे जान गईं) ॥ ५१ ॥

अथानङ्गवती नाम सखी तामित्यवोचत ।
दशनज्योत्स्नयाऽरण्यं सुधयेव निषिञ्चती ॥ ५२ ॥

फिर अमृत के समान आह्लाददायक अपने दाँतों की चाँदनी की श्वेत कान्ति से वन को सींचती हुई उसकी अनङ्गवती नामक सखी उससे बोली ॥५२॥

कच्चिदस्य प्रमोदाय कुमुदस्येव चक्षुष ।
अयं मध्यमलोकेन्दुः पाताले दुकले तव ॥ ५३ ॥

हे पाताललोक की चन्द्रकला ! क्या यह पृथ्वी का चन्द्रमा (राजा) कमलवत् तुम्हारे नयनों को आनन्द दे सका ? ॥ ५३ ॥

वनानिलाहृतोऽभिद्रुपद्मकेसरशालिना ।
रोमोद्गम इवानेन वृतस्त्वदवलोकनात् ॥ ५४ ॥

वन की वायु से उड़ाकर लाये गये कमल-केसर से युक्त (चित्र लिखित) इस राजा ने मानो तुम्हें देखने मात्र से ही रोमोद्गम धारण किया अर्थात् चित्रलिखित भी इसके देह पर तुम्हें देखकर रोमाञ्च हो आये हैं ॥ ५४ ॥

अद्य न सफलं चक्षुश्चित्रे यदयमीक्षितः ।
कन्दर्पाधिकका तोऽयमवन्तिमृगलाञ्छनः ॥ ५५ ॥

काम से सुन्दर आकृतिवाले, अवन्ति के इस राजचन्द्र को चित्र में देखकर तो आज हमारे नेत्र भी सफल हो गये ॥ ५५ ॥

त्वामप्यवक्षिता मन्ये यस्त्वयैतस्य वक्षसि ।
एते सविभ्रमं न्यस्ते दृशौ मुक्तालते इव ॥ ५६ ॥

तुम भी तो धन्य हो गयी हो, क्योंकि तुमने भी तो इस राजा के वक्षःस्थल पर जब अपनी मदभरी दृष्टि डाली तो मालूम पड़ा, मानो उसके वक्षःस्थल पर मोतियों की माला चढ़ा दी हो ॥ ५६ ॥

नितमेतेन कोऽप्येष सत्य कामोऽस्य किङ्कर ।
आरोहति परां कोटिमत्र यत् तव सम्भ्रम ॥ ५७ ॥

निश्चित ही इसने य कश्चित् काम को जीत लिया है। कामदेव इसका भृत्य है क्योंकि तुम्हारा इसके प्रति प्रेमऔत्सुक्य अपनी चरम कोटि पर जा रहा है।

त्वमत्र भावेव किमिलन्मुखि लज्जसे ।
विरुद्धयत्यलङ्घ्यानि स्मरदुर्ललितानि क ॥ ५८ ॥

हे चन्द्रमुखी ! इस राजा के प्रति आसक्त हुए की तरह लजा क्यों रही हो ? ठीक ही है। अनुल्लङ्घनीय काम की आज्ञा का उल्लङ्घन कौन कर सकता है ? ॥ ५८ ॥

कोऽन्य सखि नृशंसोऽस्ति काम विषमशरात्त ।
सुकुमारे तवाप्यङ्गे येन व्यापारित शर ॥ ५६ ॥

हे सखि ! काम के अतिरिक्त कौन इतना क्रूर हो सकता है, जिसने अपने बाणों को तुम्हारे कोमल भी अगों पर छोड़ा ॥ ५६ ॥

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि लक्ष्यते ॥ ६० ॥

हे मृगनयनी ! पहले तो राग (लालिमा) तुम्हारे बिम्बाधर पर ही दिखाई देता था, पर अब तो हृदय में भी दिखाई देने लगा है ॥ ६० ॥

एकेन राजहंसेन हृतो हारस्तनूदरि।
अनेन तु द्वितीयेन लिखितेनापि ते मनः ॥ ६१ ॥

हे कृशोदरी ! एक राजहंस ने तो तुम्हारा हार चुराया और इस दूसरे राजहंस (राजा ने) ने चित्रलिखित होने पर भी तुम्हारा मन चुरा लिया ॥६१॥

कुतस्त्रपा तवालीषु किञ्चिदुन्नमयाननम्।
अहो बत त्वमेतस्मिन्नत्यायतकुतूहला ॥ ६२ ॥

हे शशिप्रभा ! जरा मुख ऊपर तो उठाओ। अरे, अपनी सहेलियों से लज्जा कैसी ? मालूम होता है, तुम इस राजा के प्रति अत्यधिक उत्कण्ठित हो गई हो ॥ ६२ ॥

एतत्कर्णोत्पलं लोलमपाङ्गप्रतिवेशितं।
त्वद्वृत्तान्तमिवेतस्य कथयत्यलिकूजितैः ॥ ६३ ॥

यह तुम्हारी आँख के कोनों (कटाक्षों) तक आया कनफूल अति चञ्चल हुआ-सा भ्रमरों के कलकूजन द्वारा तुम्हारे सारे वृत्तान्त को मानो इसे बता रहा है ॥ ६३ ॥

अहो दूरस्थितेनापि हृदि स्पृष्टा नृपेन्दुना।
इन्दुकान्तशिलेव त्वमार्द्रतामवगाहसे ॥ ६४ ॥

दूर स्थित होने पर भी उस नृपचन्द्र ने चन्द्रकान्त मणि के समान तुम्हारे हृदय को स्पर्श कर दिया। तुम भी चन्द्रकान्त मणि की भाँति ही चन्द्र के समान उस राजा के स्पर्श का अनुभव करके पिघल-सी रही हो। ॥ ६४ ॥

निपुणे ! निःश्वसिष्येवमतिगूढं यथा यथा।
तथा तथा तव व्यक्तमयमुच्छ्वसति स्मरः ॥ ६५ ॥

हे चतुर ! तुम जितनी ही दबा कर श्वास ले रही हो, उतने ही अधिक रूप में तुम्हारी कामासक्तता प्रकट होती जा रही है ॥ ६५ ॥

स्मितमेतदलोलाक्षि लज्जासंवलितं तव।
इदं निर्जितबाल्यस्य यौवनस्योदितं यशः ॥ ६६ ॥

हे अपलक नेत्रवाली ! लज्जा से युक्त तुम्हारा यह मुसकाना ऐसा जान पड़ रहा है, मानो बाल्यकाल को जीतकर मुस्कराहट के रूप में यौवन अपने यश का विस्तार कर रहा हो ॥ ६६ ॥

यथा तवेयमरतिर्यथा सुतनु वेपसे।
तथा कवचितः शंके निःशंकं मदनस्त्वयि ॥ ६७ ॥

हे सुन्दरि ! जैसे तुम उदास सी दिखाई दे रही हो, और जिस भाँति तुम काँप सी रही हो, उससे तो यही शंका हो रही है कि तुम्हारे मन में निश्चित ही कामदेव विराजमान है ॥ ६७ ॥

किमत्र करवै गाढमाकल्पकमिदं तव ।
इयं च मन्मथस्यास्त्रं निर्गता चूतमञ्जरी ॥ ६८ ॥

बताओ, अब हम क्या करें ? तुम्हारा विचार तो बड़ा विकट है, और (इधर देखो) काम का अस्त्र यह आम्रमञ्जरी (बौर) भी निकल आयी है ॥ ६८ ॥

सुरतग्लानतारीकबरीमाल्यचुम्बिनः ।
कथमेते त्वया सह्या मलयवायवः ॥ ६९ ॥

हे दुर्बल ! रतिक्रीडा से थकी हुई मिल्लनियों की वेणियों में बँधी मालाओं का चुम्बन करने वाले (स्पर्श करने वाले) इन मलयाचल की वायुओं का स्पर्श तुम कैसे सह सकोगी ? ॥ ६९ ॥

किं ताम्यसि तवोपान्तमानयाम्यधुनैव तम् ।
इत्याश्वासयतीव त्वां कोकिलोऽयं कलस्वनः ॥ ७० ॥

कोयल की यह ध्वनि "क्यों परेशान हो रही हो, उसको (तुम्हारे प्रिय को) मैं तुम्हारे पास अभी बुला देती हूँ" इस तरह तुम्हें आश्वासन सी दे रही है। (ढाढस बँधा रही है) ॥ ७० ॥

कूजन्ती कोकिलवधूरियमाधिं धुनोति ते ।
अनङ्गनृपसाम्राज्यलीलामङ्गलगायिनी ॥ ७१ ॥

कामदेव के साम्राज्य में कामलीला के समय मंगलगीत गाने वाली कूजती हुई यह कोयल तुम्हारी पीड़ा को मानो दूर सी कर रही है ॥ ७१ ॥

वनान्तदेवतापादप्रसादान्यामोदस्वरं स्फुरद्रम् ।
एष स्तनस्तिताऽशोक सुहृत् कामस्य का गतिः ॥ ७२ ॥

वनदेवता के पैरों का प्रसाद पाकर आनन्द से पुष्पगुच्छों का धारण करने वाला यह अशोक कभी स्पष्ट रूप से काम का मित्र बना गया है। (ऐसे समय में) बताओ, तुम्हारा क्या हाल होगा ? ॥ ७२ ॥

अत्रोर्वीतिलके दृष्टिमस्यन्तीं तिलकं मुधा ।
अयं तर्जयतीव त्वां वार्ताधूतलताङ्गुलिः ॥ ७३ ॥

यह वायुवेग से कम्पमान तिलकवृक्ष लतारूपी अंगुली दिखाकर, राजा की ओर दृष्टि डालने वाली तुम्हें मानो क्रोध से धिक्कार रहा है ॥ ७३ ॥

पथि स्मरस्य विषमे स्खलितायामितस्त्वयि ।
स्मितच्छटेव निर्याति सिन्दुवारस्य मञ्जरी ॥ ७४ ॥

काम के मार्ग पर चलती हुई तुम्हें इधर-उधर भटकती हुई देखकर, यह सिन्धुवृक्ष की मञ्जरी भी हँसती हुई-सी निकल रही है ॥ ७४ ॥

द्राघयत्यस्तविम्बोष्ठरुचिनिःश्वसितानि ते ।
अयं मुकुलितः किञ्चिद्वकुलो मुकुलस्तनि ॥ ७५ ॥

हे कलि के समान स्तनवाली ! यह पुष्पित मौलसरी का वृक्ष मुरझाये हुए ओठों से निकलने वाले तुम्हारे दीर्घ श्वासों को कुछ-कुछ (अपनी वायु द्वारा) बढ़ा सा रहा है ॥ ७५ ॥

लतया कर्णिकारस्य पुरः पुष्पितयाऽनया ।
अनङ्गस्यैकराज्येऽस्मिन् हेमवेत्रलतायितम् ॥ ७६ ॥

यह पीले कण्डेल की लता, जो कि सामने ही पुष्पित दिखाई दे रही है, वह इस काम के राज्य में सोने की वेत्रलता का काम कर रही है ॥ ७६ ॥

अहो न कस्य भिन्दन्ति हृदयं वीक्षिता अपि ।
निसर्गमृदवोऽप्येते सहकारनवाङ्कुराः ॥ ७७ ॥

भला बताओ, स्वभाव से ही कोमल रहने पर भी ये आम्रवृक्ष से निकलने वाले नये अंकुर (अंखुवे) देखने पर किसके हृदय को विदीर्ण न कर देंगे ? ॥ ७७ ॥

चतुरां कोकिलामेव कृत्वा कुरवको मुखे ।
दुर्लभं याचतीव त्वां लीलालिङ्गनदोहदम् ॥ ७८ ॥

यह कुरवक वृक्ष चतुर कोकिला को अगुवा बनाकर उसके द्वारा अत्यन्त दुर्लभ आलिङ्गन की तुमसे प्रार्थना कर रहा है ॥ ७८ ॥

अशोकस्कन्धलग्नेयं कुसुमैर्नवमाधवी ।
प्रार्थनीयप्रियस्पर्शी हसति त्वामिवोत्सुकाम् ॥ ७९ ॥

अशोक के गले लगी हुई, यह फूलों से लदी हुई माधवी लता, प्रिय के स्पर्श की कामना करने वाली, उत्सुक बनी हुई तुम्हारी हँसी-सी उड़ा रही है । ॥ ७९ ॥

विमर्श—वह माधवी लता मजाक कर रही है कि जैसे मैं प्रिय से मिली हूँ, क्या तुम भी ऐसे ही मिल सकोगी ॥ ७९ ॥

भूपतावनुरक्तायास्तव सन्तापदीपनम् ।
स्थलारविन्दं सेर्ष्येव सूते सखि वसुन्धरा ॥ ८० ॥

राजा (नवसाहसांक) के प्रति आसक्त मनवाली तुम्हारे (काम) सन्ताप को बढ़ाने वाले कमलों को धरती भी तुमसे मानो ईर्ष्या के कारण विकसित करने लगी है ॥ ८० ॥

अभिव्यङ्कस्थकन्दर्पजगद्विजयसिद्धिषु ।
दृष्टिरुद्विजते तन्वि पाटलाकुड्मलेषु ते ॥ ८१ ॥

हे सुन्दरी ! कामदेव को अपनी गोद में रखने वाली और तब समस्त संसार को जीतने की सिद्धि प्राप्त करने वाली ये पाटल की कलियाँ तुम्हारी, दृष्टि को और भी व्याकुल बना रही हैं। अर्थात् इन्हें देखकर तुम्हें कामोद्दीपक रहने से अधिक पीड़ा हो रही होगी ॥ ८१ ॥

सुन्दरि द्वितयस्यात्र कृशिमा भूषणायते ।
राजन्यावद्धभावायास्तव रात्रेश्च सम्प्रति ॥ ८२ ॥

हे सुन्दरी ! (इतने पर भी) आज दोनों की कृशता एक विचित्र रूप धारण कर रही है अर्थात् बहुत शोभायमान हो रही है। एक तो राजा में अनुरक्त तुम्हारी, और तदनन्तर रात की ॥ ८२ ॥

एष चैत्रोत्सवश्चित्रे नृपोऽयं नूतनं वयः ।
प्राप्तावकाशः कामोऽपि पतितास्यतिसंकटे ॥ ८३ ॥

हे सुन्दरी ! एक तो चैत का महीना अर्थात् वसन्तऋतु है। दूसरे यह चित्र लिखित राजा सामने है। तुम्हारी उम्र भी नयी है। राजा अत्यन्त सुन्दर होने के कारण रमण करने योग्य है। ऐसे समय काम को भी अवसर मिल गया है। इसीलिए अब तुम बड़े संकट में पड़ गई हो ॥ ८३ ॥

किमालिखितवत्येषा चित्रे माल्यवती नृपम् ।
द्वारीकृतेयमथवा वामेन विधिना तव ॥ ८४ ॥

इस माल्यवती ने राजा का यह चित्र क्या बनाया, मालूम होता है तुम्हारे दुर्भाग्य ने ही इसे (माल्यवती को) इस प्रकार का (चित्र बना कर तुम्हें कष्ट देने के लिये) साधन बनाया ॥ ८४ ॥

बहुना किं चकोराक्षि ! छलितासि मनोभुवा ।
सर्वथा ते करिष्यन्ति कुशलं कुलदेवताः ॥ ८५ ॥

हे चकोर के समान नेत्रों वाली ! अधिक क्या कहूँ, अब तो कामदेव ने तुम्हें छल ही लिया है। अब तो कुलदेवता ही तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥ ८५ ॥

इत्यादि व्याहरन्ती सा कृतभ्रूभङ्गया तया ।
नरेन्द्रबाणपुङ्खेन कुचे किञ्चिन्तुदत ॥ ८६ ॥

कृत्रिम क्रोध से भौंहें चढ़ाकर शशिप्रभा ने उक्त रूप से ताने दे देकर बोलने वाली उस सखि के स्तनों पर राजा के उसी (पूर्वोक्त) बाण के अगले भाग को कुछ चुभो दिया ॥ ८६ ॥

कलावतीवचनम्

अथ किन्नरराजेन्द्रकन्या नाम्ना कलावती ।
एवं वचः सितसुधानिषिक्ताक्षरमाददे ॥ ८७ ॥

कलावती का वचन

इसके पश्चात् किन्नरराज की पुत्री कलावती नामक सखी अमृत के समान मधुर हँसी से सिक्त मधुर वचन बोली ॥ ८७ ॥

कामं दुर्लभमेवैतच्चैत्रश्चन्द्राङ्किता निशा ।
प्रेयान्विपञ्चीरणितं पञ्चबाणाङ्कितं वय ॥ ८८ ॥

चैत का सुहावना महीना, चांदनी रात, वीणा की झंकार और काम पीड़ित नई आयु—ये सब बातें एक साथ बड़ी कठिनता से मिलती हैं ॥ ८८ ॥

अयि त्वां ग्लापयत्येप कालः कमललोचने ।
जगदाह्लादजनकः सुधासूतिरिवाब्जिनीम् ॥ ८९ ॥

हे कमलनयनी ! जगत को प्रसन्न करने वाला चन्द्रमा जैसे कमलिनी को पीड़ित करता है अर्थात् चन्द्रोदय होते ही सारा संसार तो आनन्दित हो उठता है, पर कमलिनी कुम्हलाने लगती है, उसी तरह सकल जनानन्दकारी यह वसन्त का समय (कामपीडा के आधिक्य होने से) तुम्हें ग्लान कर रहा है ॥ ८९ ॥

स्थाने तवानुरागोऽयमनङ्गस्यायमुत्सवः ।
सखि स्निह्यति निर्व्याजमिन्दावेव कुमद्वती ॥ ९० ॥

तुम्हारा यह कामानुराग उचित ही है । अर्थात् कामोद्दीपक समय होने के कारण और अति सुन्दर नायक होने से यह काम के उत्सव का समय है । हे सखी ! कुमुदिनी चन्द्र से स्नेह करती है तो यह उचित ही है ॥ ९० ॥

नृपस्यारण्यसञ्चारः शरेणानेन सूच्यते ।
मरुता द्विरदस्येव मदनिष्यन्दगन्धिना ॥ ९१ ॥

मद की सुगंध से युक्त वायु के चलने पर जिस भाँति वन में मदोन्मत्त हाथी के विचरण का अनुमान होता है, उसी भाँति इस बाण की प्राप्ति से यह अनुमान होता है कि वह राजा अवश्य इस वन मे संचार कर रहा होगा ॥ ९१ ॥

अवश्यं तन्वि चिन्वाना वने हंसमितस्ततः ।
क्वचिद्विलोकयिष्यन्ति तं त्वत्परिजनस्त्रियः ॥ ९२ ॥

हे सुन्दरी ! वन में हंस को ढूंढ़ने के लिये गई हुई तुम्हारी दासियाँ अवश्य ही कहीं न कहीं उसे देखेंगी ही ॥ ९२ ॥

ज्ञातत्वदिङ्गितैवात्र तं चेद्द्रक्ष्यति पाटला ।
ततोऽस्य षट्पदस्येव बलाच्चेतो हरिष्यति ॥ ९३ ॥

तुम्हारे अभिप्रायों को जाननेवाली पाटला कहीं उसे देख पाएगी तो भ्रमर की भाँति अवश्य ही उसके चित्त का हरण कर लेगी ॥ ९३ ॥

स्थिरा भव नृपेण त्वामिह संयोगमाप्स्यसि ।
यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला ॥ ६४ ॥

तुम निश्चिन्त रहो । जिस प्रकार कण्व के आश्रम में शकुन्तला का मिलन दुष्यन्त के साथ हुआ था, उसी भाँति इस राजा से तुम्हारा मिलन भी अवश्य होगा ॥ ६४ ॥

इति तद्वचसः सीम्नि मसृणोत्कम्पितस्तनी ।
व्याजसाचीकृतमुखं निशश्वास शशिप्रभा ॥ ६५ ॥

अपनी सखी के इस प्रकार के वचनों की समाप्ति पर मधुर भाव से कम्पित कुचवाली शशिप्रभा ने किसी बहाने से ही जरा सा मुँह घुमाकर एक दीर्घ श्वास लिया ।

विमर्श—कामाकुल दशा का एक परिचायक दीर्घ श्वाँस लेना भी है । पर सबके सामने ऐसी श्वास लेना ठीक नहीं प्रतीत होता, इसलिये राजकुमारी ने किसी बहाने मुख को जरा टेढा घुमाकर दीर्घ श्वाँस लिया ॥ ६५ ॥

वनश्रीरत्नमञ्जीरो लताकुञ्जोदरे तत ।
चुकूज मञ्जुकण्ठस्तां दक्षिणेन कपिञ्जलः ॥ ६६ ॥

इसी समय वनदेवता के रत्नमञ्जीरों की सी ध्वनि करने वाला लताकुञ्ज में बैठा हुआ कपिञ्जल (पक्षी) दाहिनी ओर से मधुर कण्ठ से कूजने लगा ॥ ६६ ॥

हर्षाश्रुलवकीर्णेन सत्पत्रान्तलिचारुणा ।
वामेन पस्फुरे तस्याश्चक्षुषा च स्तनेन च ॥ ६७ ॥

तब वारि बिन्दुओं से युक्त कमल की भाँति शशिप्रभा के नेत्र भी हर्ष के कारण अश्रुबिन्दुओं से (आँसुओं से) भर गये । और साथ ही साथ उसका बायाँ नेत्र और बायाँ कुच फड़कने लगा

विमर्श— स्त्रियों का बाया अंग फड़कना शुभ माना जाता है ॥ ६७ ॥

अत्रान्तरे समायान्ती ददृशे दूरतस्तया ।
नरेन्द्रसवितुस्तस्य पुरः सन्ध्येव पाटला ॥

इसी बीच सूर्योदय के पूर्व जैसे उषा आती है, और उसके पीछे पीछे सूर्य आता है, वैसे ही राजा के आगे आगे चलने वाली पाटला को नागराज-पुत्री शशिप्रभा ने देखा ।

विमर्श—सन्ध्या का अर्थ यहाँ पर दो कालों के मिलने से है, जो प्रभात का सूचक है ॥ ६८ ॥

तस्यास्त्रये च त्रितयमपश्यत्फणिकन्यका ।
मुखे स्मितं करे हारं सितमंसे च चामरम् ॥ ६९ ॥

फिर शशिप्रभा ने पाटला के मुख पर हास्य, हाथ मे हार और कन्धे पर चँवर, इन तीनों वस्तुओं को देख उसे पहचान लिया ॥ ९९ ॥

सा हारहस्ता रुरुचे धृतस्तिमितचामरा ।
सरसी सुप्तहंसेव फेनाध्यासितपङ्कजा ॥ १०० ॥

चामर को कन्धे पर धारण करने वाली और हार को हाथ में धारण करने वाली पाटला ऐसी मालूम पड़ रही थी, मानो सोये हुए हंसों वाली और कमलों को अपने फेन से ढंकने वाली कोई छोटी तलैया हो ॥ १०० ॥

दृष्टिः फणीन्द्रदुहितुरतिक्रम्यैव पाटलाम् ।
भृंगश्रेणिरिवाशोके पपातावनिभर्तरि ॥ १०१ ॥

पाटला पर से हटकर उस राजपुत्री की दृष्टि राजा के ऊपर उसी तरह जा पड़ी, जैसे अशोक के वृक्ष पर भ्रमरों की पंक्ति जाती है ॥ १०१ ॥

प्रियं नः सोऽयमायाति पश्य पश्य शशिप्रभे ।
परमारान्वयोदारहारमध्यमणिर्नृपः ॥ १०२ ॥

देख ! देख! शशिप्रभे हमारा अभीष्ट प्रिय यह राजा चला आ रहा है । यह परमार वंश में उत्पन्न हुआ है । परमारवंश ही मानो एक श्रेष्ठ हार है, उसमें यह मेरुमणि की तरह शोभायमान है ॥ १०२ ॥

[1]सान्दानितकम्

इति प्रियसखीसूक्तिसुधानिष्यन्दलेखया ।
सिक्तस्तदाभवत्तस्या स्मरः पल्लवितो हृदि ॥ १०३ ॥
सान्दानितकम्

प्रिय सखियों की इस प्रकार की अमृत के समान मधुर वाणी द्वारा सींचे जाने पर उसके हृदय में स्थित कामदेव पल्लवित हो उठा ॥ १०३ ॥

सुधारस इवोर्वीभृत्तया सम्मुखमापतन् ।
दृशा स्फटिकशुक्त्येव वारंवारमपीयत ॥ १०४ ॥

राजा जब उसके समीप आ गया तो वह अपनी स्फटिक की सीपियों सी विस्तृत आँखों से उसे बार-बार इस तरह देखने लगी, मानो अमृतरस-पान कर रही हो ॥ १०४ ॥

वितेनेऽप्यहिकन्याभिः कौतुकेनातनीयसा ।
तस्याग्रे राजहंसस्य नेत्रेन्दीवरवागुरा[2] ॥ १०५ ॥

नागकन्याओं ने भी अत्यधिक कौतूहल से उस राजहंस के सामने अपने कमल के समान नेत्रों का जाल सा बिछा दिया । अर्थात् सभी नागकन्याएँ उसे बड़े चाव से एक साथ देखने लगीं ॥ १०५ ॥

१—सान्दानितकं त्रिभिरिष्यते—अर्थात् जहाँ तीन श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ सान्दानितक होता है ।

२—'वागुरा मृगबन्धनी'—अमरकोश ।

अवर्तितिलकोदन्तमुपसृत्याथ पाटला ।
अनङ्गदीपनं तस्यै जगादेङ्गितवेदिनी ॥ १०६ ॥

शशिप्रभा के इङ्गितों को जाननेवाली पाटला ने नागराजपुत्री शशिप्रभा के पास जाकर राजा के बारे में सारा हाल उससे कहा, जिससे उसका प्रेमभाव राजा के प्रति और भी बढ़ गया ॥ १०६ ॥

देव पश्चात्स्थितोऽप्यग्रे प्राप्तः पर्युत्सुको भवान् ।
इत्यभाष्यत भूपालश्चित्रे चतुरया तया ॥ १०७ ॥

उस चतुर पाटला ने राजा के चित्त को देखकर कहा, हे देव ! मेरे पीछे रहने पर भी बड़े उत्कण्ठित होकर आप मुझसे पहले ही यहाँ आ गये ॥१०७॥

अभून् पर्याकुला सा च मुहूर्तमसितेक्षणा ।
पश्चादलज्जतालीभिस्तथा सस्मितमीक्षिता ॥ १०८ ॥

सुन्दर नेत्रों वाली वह थोड़ी देर बड़ी चकित सी होकर पुनः पुनः एकटक राजा को देखने लगी । और जब सखियों ने उसे हँसते हुए उस हालत में देख लिया, तब वह लजा गयी ॥ १०८ ॥

तस्यै हारं महीभर्तुरर्पयामास पाटला ।
आकृष्य मूर्तमानीतमतिशुद्धमिवाशयम् ॥ १०९ ॥

राजा के पास से हार को खींचकर पाटला ने शशिप्रभा को दे दिया । ऐसा मालूम पड़ा, जैसे उसने राजा के हृदय के मूर्तिमान् शुद्ध भाव को ही शशिप्रभा को हस्तान्तरित किया हो ॥ १०९ ॥

सखीनामनुरोधेन सा क्लिानङ्गमोहिता ।
हृदि दीर्घगुणं दध्रे हारं प्रियमिवापरम् ॥ ११० ॥

सखियों के आग्रह करने पर काममोहिता शशिप्रभा ने उस दीर्घ सूत्रवाले हार को प्रिय के समान ही वक्षःस्थल पर धारण किया अर्थात् अपने प्रिय का ध्यान जिस तरह हृदय में किया जाता है, उसी तरह उस हार को हृदय पर धारण किया ॥ ११० ॥

तुषारपाण्डुना तेन ववृधेऽस्या मनोभवः ।
दिग्न्तराज्योत्स्नेन महोदधिरिवेन्दुना ॥ १११ ॥

चारों ओर कान्ति (ज्योत्स्ना) का विस्तार करने वाले चन्द्रमा के कारण जिस भाँति समुद्र का जल बढ़ जाता है, उसी भाँति चन्द्रमा की कान्ति के समान उज्ज्वल वर्ण वाले हार को धारण करने के कारण शशिप्रभा की काम-भावना भी बढ़ने लगी ।

विमर्श— पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, यह बात लोकविश्रुत है । हार को देख कर, जो अभी अभी प्रियकर के हाथ से उसे मिला था, शशिप्रभा के हृदय का कामोद्रेक भी बढ़ा ॥ १११ ॥

पुष्पोद्गमेनेव लता प्रसादेनेव भारती।
सा तेन रेजे हारेण यशसेव नरेन्द्रता ॥ ११२ ॥

फूल खिलने से लता, प्रसाद गुण से वाणी और यश से राजत्व जैसे शोभायमान होता है, उसी तरह उस हार को धारण करने से शशिप्रभा ने भी वैसी ही शोभा धारण की ॥ ११२ ॥

ततश्शिथिलपर्यस्तविलोलकवरीलता।
केतुयष्टिरिव श्यामपताकाङ्का हिरण्मयी ॥ ११३ ॥

बँधी न होने से व्यस्त वेणी रूपी ध्वजा की यष्टि (छड़ी) के समान दुबली, अङ्ग पर श्यामचिह्न धारण करने वाली सोने के रंगवाली।

विमर्श—शशिप्रभा के बाल खुले थे, वह फड़फड़ा रहे थे। उससे झंडे की छटा दीख रही थी। इधर उसके शरीर में वह हार होने से पताका का रंग श्याम अर्थात् हरा-धूपछा-सा था। वह सोने की केतुयष्टि चिह्नध्वज की तरह मालूम पड़ रही थी ॥ ११३ ॥

वसंतकमलोल्लासिमत्तभ्रमरनिःस्वना।
दीयमानोपदेशेव स्वरहस्ये मनोभुवा ॥ ११४ ॥

वसन्त काल में विकसित कमलों पर बैठकर कलोल करने वाले अतएव मत्त भौरों की गुंजार के समान उसके मधुर शब्द थे। ऐसा लग रहा था, जैसे कामदेव उसे अपना रहस्य समझा रहा हो ॥ ११४ ॥

उल्लसत्कुटजाच्छाच्छविलासहसितच्छविः ।
झटित्युदधिवेलेव निर्गच्छदमृतच्छटा ॥ ११५ ॥

उसके मुखपर विकसित कुटज पुष्पों के समान मधुर हास्य खेल रहा था। वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे समुद्र की वह वेला हो, जिसके आसपास चन्द्रमा का उदय होने से अमृतमय वातावरण हो गया हो ॥ ११५ ॥

सरोजिनीव हंसीभिर्भृङ्गीभिरिव मालती।
शशिलेखेव ताराभिस्सखीभिरभितो वृता ॥ ११६ ॥

हंसियों से सरोजिनी (कमलिनी) की भाँति, भ्रमरों से मालती लता की भाँति, ताराओं से युक्त चन्द्रकला की भाँति वह सखियों से चारों ओर से घिरी थी ॥ ११६ ॥

कुलक

दृष्ट्वा नरेन्द्रमायान्तमुदस्थादुत्सुकाऽथ सा।
दधती नूतनप्रेमपरिणीतामधीरताम् ॥ ११७ ॥

कुलकम

नवीन प्रेम के कारण अधीरता को धारण करनेवाली शशिप्रभा उत्सुक होती हुई राजा को आता हुआ जानकर सहसा उठ खड़ी हुई ॥ ११७ ॥

अथ सुतनुरलोलतारके सा सुचिरमुदञ्चितदीर्घपक्ष्ममाले।
शशिन इव नवोद्गतस्य दूरात् अवनिपते पथि लोचने मुमोच ॥ ११८ ॥

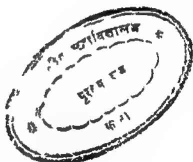
उस सुन्दरी शशिप्रभा ने ऊपर को पलक उठाये हुए लोचनों से दूर तक राजा के मार्ग को एकटक देखा। राजा की शोभा ऐसी थी, जैसे अभी अभी उदित चन्द्रमा हो ॥ ११८ ॥

आसन्नानुचरधृतेन पङ्कजिन्या पत्रेण स्फुटघटितातपत्रलील।
सच्छायामथ सहसा हसन्हिमांशो क्ष्मापाल पुलिनमवाप नर्मदाया ॥११९॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसांक-
चरिते महाकाव्ये शशिप्रभादर्शनं नाम षष्ठ सर्ग ॥ ६ ॥

समीपवर्ती अनुचर (रमांगद) के हाथ से पकड़े हुए कमलिनी के पत्ते की छाया में, जो छाते का काम कर रहा था, चलता हुआ चन्द्र के तेज से भी अधिक कान्तिमान् वह राजा तब नर्मदा के तट पर पहुँचा ॥११९॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित 'नवसाहसांकचरित'
महाकाव्य का शशिप्रभा–दर्शन नामक छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥



अथ सप्तमः सर्गः

शशिप्रभादर्शनम्

ततः स दूराद्‌हिराजकन्यकां जवैकमित्रेण युतां पतत्त्रिणा ।
विशाम्पतिर्दीर्घगुणानुषङ्गिणीम् अनङ्गकोदण्डलतामिवैक्षत ॥ १ ॥

शशिप्रभा का दर्शन

तब राजा ने दूर से ही, दीर्घ गुणवाली काम के धनुष की प्रत्यञ्चा के समान उस नागराजकन्या (शशिप्रभा) को देखा । उसके हाथ में एक तेज गतिवाला बाण भी था ॥ १ ॥

उपोढलावण्यतरङ्गभङ्गया सरागबिम्बोष्ठगलत्प्रवालया ।
अहारि लोलं नृपतेस्तया बलात् अनङ्गरत्नाकरवेलया मनः ॥ २ ॥

वह सौंदर्य की भाव-भङ्गियों से युक्त थी । बिम्बफल और मूँगे के पत्ते के समान रक्तवर्ण के उसके अधर थे ! कामरूपी सागर की वेला के समान उसने बरबस राजा के चञ्चल मन को हर लिया ॥ २ ॥

रमाङ्गदकृतं शशिप्रभावर्णनम्

सविस्मयो लोचनमार्गमाप्तया तया स पातालतलेन्दुलेखया ।
अथेत्थमम्लानमनोरथोद्गमो रमाङ्गदेनाभिदधे नराधिपः ॥ ३ ॥

रमाङ्गद द्वारा शशिप्रभा का वर्णन

पाताललोक की चन्द्रकलास्वरूप उस राजपुत्री को देखकर राजा आश्चर्यचकित हुआ । वह उसको प्राप्त करने के मनसूबे बाँधने लगा । ऐसे उस राजा को रमाङ्गद ने कहा ॥ ३ ॥

अवैमि सैवेयममोघमायुधं मनोभुवः पन्नगराजकन्यका ।
उदंशुलेखेन मुखेन कुर्वती जगत् विलीनेन्दुविलोकनस्पृहम् ॥ ४ ॥

मालूम होता है कि कामदेव का अमोघ अस्त्र बनी हुई नागराजकन्या शशिप्रभा यही है । जिसके मुखचन्द्र से सौंदर्य की किरणें निरन्तर निकल रही हैं । वस्तुतः यह प्राणिमात्र को चन्द्र के प्रति उदासीन बनाया करती है ।

विमर्श—अर्थात् नागराजकन्या ने अपने सौंदर्य से चन्द्र को भी हतप्रभ बना दिया है । लोग उसकी तरफ देखकर ही चन्द्रमा का काम चला लेते हैं ॥ ४ ॥

नरेन्द्र सत्य स कुतूहली भवेद् अलौकिकं रूपमवेक्षितु रते ।
इय न यस्यातिथिता गता दृशोरगाधलावण्यसरिन् सुमध्यमा ॥ ५ ॥

हे नरेन्द्र ! वास्तव में वही व्यक्ति रति (कामपत्नि) के अलौकिक रूप को देखने के लिये उत्सुक बना रहेगा, जिसने इस कृशोदरी के सौंदर्य की सरिता को न देखा होगा। अर्थात् इसका सौंदर्य रति से भी बढ़कर है ॥ ५ ॥

इयं सुधा मुग्धविलासजन्मभूरियं भुजङ्गालयरत्नदीपिका।
इयं जगन्नेत्रचकोरचन्द्रिका पुरः पताकेयमयुग्मपत्रिणः ॥ ६ ॥

यह वह सुधा है, जो कि मोहक हाव भावों की जननी है, यह रत्नदीपिका है, जो नागलोक को प्रकाशित किया करती है। यह वस्तुतः वह चाँदनी है, जो ससार के नेत्ररूपी चकोरों को तृप्त करती है। यह काम की अग्रपताका है।

विमर्श—'अयुग्मपत्रिण'—अयुग्म अर्थात् विषम है 'पत्री' याने बाण जिसका, ऐसा कामदेव ॥ ६ ॥

इयत्तया मुक्तमवैमि नैपुणं प्रजापतेरद्भुतशिल्पकर्मणि।
नृपोपमानामुपमानतां गतं विनिर्मितं येन हि रत्नमीदृशम् ॥ ७ ॥

यह सभी उपमानों की भी उपमान है, (अर्थात् इससे बढकर कोई नहीं) ऐसे इस लोकोत्तर रत्न को विधाता ने बनाया है। इससे मालूम पड़ता है कि वह अब निर्माण पाटव की सीमा से मुक्त हो गया है ॥ ७ ॥

इयं लतानेन विराजतेतराम् करस्थितेनावनिपालपत्रिणा।
उपेयुषा काञ्चनपद्ममंशुना हिमेतराशोरिव जह्नुकन्यका ॥ ८ ॥

हाथ में तुम्हारे बाण को धारण करने वाली यह अत्यधिक शोभा शालिनी हो रही है। स्वर्ण कमलों के पास थिरकने वाले सूर्य की किरणों से जिस प्रकार जह्नुकन्या गंगा नदी सुशोभित होती है, वैसे ही यह सुन्दरी भी इस बाण से सुशोभित हो रही है ॥ ८ ॥

अरालकेशीयमनेन भाति ते शरेण कार्तस्वरपुङ्खशोभिना।
निसर्गगौरेण नरेन्द्ररश्मिना सकज्जला दीपशिखेव शर्वरी ॥ ९ ॥

हे नरेन्द्र ! चमकते हुए स्वर्णफलवाले तुम्हारे बाण से यह घुँघराले बालों वाली नागराजकन्या ऐसे सुशोभित हो रही है, जैसे स्वभाव से ही गौर वर्ण की रश्मि से रात्रि की कज्जल युक्त दीपशिखा दीख पड़ती है ॥ ९ ॥

इयं विलासोर्मिनिमग्नशैशवा विभाव्यमानस्तनकुड्मलोद्गमम्।
मदस्य विस्रम्भगृहं विगाहते वयो विभक्ताङ्गमनङ्गदोहदम् ॥ १० ॥

इसका बचपन अब विलास की तरंगों में डूब रहा है। स्तनकुड्मलों (स्तनरूपी कलियों) का विकास होने लगा है। यह मद का क्रीडापद सी

बन गई है। यह उस यौवन-अवस्था में प्रवेश कर चुकी है, जब अंगों का विकास होने लगता है, वह वय अब काम के दोहद का कार्य कर रहा है ॥ १० ॥

इयं नताङ्गी जगदेकसुन्दरे निदेशिते पाटलया नृप त्वयि ।
दृशौ नवेन्दीवरपत्रपेशले विमुञ्चति श्रीरिव शार्ङ्गधन्वनि ॥ ११ ॥

पाटला ने जगत् में सर्वसुन्दर आप के बारे में इसे बता दिया है। तब से नवीन कमल के समान कान्तिमान आप पर यह उसी तरह दृष्टि गड़ाये हुए है, जैसे लक्ष्मी भगवान विष्णु पर ॥ ११ ॥

अनङ्गसाम्राज्यविलासचामरे वनानिलव्याकुलितेंऽसचुम्बिनि ।
परिश्लथे संयमनार्थमेतया सलीलमस्तः कबरीभरे करः ॥ १२ ।

काम के साम्राज्य में चँवर-धारण का काम करने वाली वन-वायु से हिल कर जो कंधों तक फैली हुई (कन्धों का चुम्बन कर रही) है ऐसी तथा ढीली-ढाली बनी हुई अपनी उस वेणी को बाँधने के लिये देखो, उसने वेणीभार में हाथ रखा है ॥ १२ ॥

विलोकयन्ती कुसुमं कचाग्रतश्च्युतं कुचस्पर्शधियेव वक्षसि ।
इयं कृशाङ्गी कुसुमास्त्रशङ्कया कृतप्रणामेव तवावलोक्यते ॥ १३ ॥

मस्तक पर से फूल जो गिरे, सो मानो उसके कुचस्पर्श करने के लिए ही. उन फूलों को देखने के बहाने वह जो झुकी है, वह वस्तुतः उसे काम का अस्त्र समझकर। ऐसी यह सुन्दरी तुम्हें प्रणाम करती हुई सी जान पड़ती है ॥१३॥

विलोकयास्याः क्षितिपाल बिभ्रतीं प्रदीपशोभां कबरी निशामुखे ।
अमी मुहुः कुङ्कुमकेसरारुणा लसन्ति सीमन्तमणेर्मरीचयः ॥ १४ ॥

कुंकुम और केसर के समान लाल वर्ण वाली माँग पर लगी हुई मणि की किरणों की चमक तो बस देखते ही बनती है! देखें! हे नृप! इसकी चमक से इसकी वेणी ऐसी शोभा पा रही है, मानो दीपशिखा से श्यामायमान रात्रि हो ॥ १४ ॥

विराजतेऽस्यास्तिलकोऽयमञ्चितो विकुञ्चितभ्रूलतिकान्तरे नृप ।
विजित्य लोकौत्रितयं दिवं प्रति स्मरेण बाणो धनुषीव संहितः ॥ १५॥

दोनों कुटिल भौंहों के बीच लगा हुआ इसका तिलक ऐसा दिखाई दे रहा है, मानो दोनों लोकों को जीतकर काम ने तीसरे लोक को जीतने के लिये अपने धनुष पर बाण चढ़ा दिया हो ॥ १५ ॥

अपाङ्गसंवर्धितशोणकान्तिना मुकृष्णतारेण तुषारपाण्डुना !
इयं प्रवालासितरत्नमौक्तिकैर्विनिर्मितेनेव चकास्ति चक्षुषा ॥ १६ ॥

जिनके अपांगों पर लालिमा चढ़ी हुई दिखाई देती है, जिनकी दोनों पुतलियाँ काली-काली सुन्दर लगा करती हैं और जिनमें हिम की शुभ्रता की

एक विचित्र शोभा रहा करती है, ऐसी आँखें देखने में ऐसी लगती हैं, जैसे वह प्रवाल, नीलम और मौक्तिक—इन तत्त्वों से बनी हों ॥ १६ ॥

इय पुरो निर्यतिदूरमायते कपोलव काञ्चनकुण्डलार्चिषि ।
इषु रुपेव प्रतिमोक्तुमुद्यता मनोभुवे सुप्तशिलीमुखे हृदि ॥ १७ ॥

काञ्चन कुण्डलों से निकलती हुई कान्ति कपोलों पर पड़ती हुई ऐसी जान पड़ती है, मानो यह सुन्दरी क्रुद्ध होकर बाण से हृदय भेदने वाले काम पर अपने बचाव के लिये बाण ही छोड़ रही हो ॥ १७ ॥

इय त्रियामापतिकान्तिपेशलम् विद्रुमबन्धूकदलाधिकत्विषा ।
बिभर्ति बिम्बाधरमुद्रया मुखं मनोभिरामं रजनीव सन्ध्यया ॥१८॥

चन्द्रमा की प्रभा के समान मृदु, इसके सुन्दर मुख पर विकसित गुलदोपहरी के फूल की पखुड़ियों से भी अधिक लाल बिम्बोष्ठ ऐसा दिखाई दे रहा है, मानो सन्ध्या से युक्त रात्रि विराजमान हो ॥ १८ ॥

उपोढतारापतितारहारयोरिय युगेन स्तनयोर्विराजते ।
द्वयेन देवोपसि चक्रवाकयो सरिद् गृहीतैकमृणालयोरिव ॥१९॥

हे देव ! ताराओं के हार से शोभित चन्द्रमा के समान कुचों से यह शशिप्रभा इसी तरह शोभायमान है, जैसे प्रभात काल के समय चोंच में मृणालखण्ड को धारण किये हुए दो चक्रवाकों से नदी शोभित होती है ॥ १९ ॥

सुरापगावीचिविपाण्डुरेणते चिरेण हारश्चरितार्थतां गत ।
धृत क्षितीश प्रणयार्द्रयाऽनया सलीलमुत्कम्पिनि यत्कुचद्वये ॥ २० ॥

मन्दाकिनी की लहरों के समान चञ्चल और तरल यह तुम्हारा हार भी आज सार्थक हो गया है, जो प्रेमपरिपूर्ण होकर इस सुन्दरी ने उसे कम्पायमान कुचों पर धारण कर लिया है ॥ २० ॥

इय महीपाल विलोकितेन ते विगाहते कान्तमिदं दशान्तरम् ।
भवत्यनारूढविकासविभ्रमा किमुद्गमे चन्द्रमस कुमुद्वती ॥२१॥

हे नृप ! तुमने जबसे इसे देखा है, तबसे इसकी दशा ही कुछ विचित्र हो गयी है। अर्थात् यह अत्यन्त मनोज्ञ दशा को प्राप्त हो गई है। भला चन्द्रमा के उदित होने पर भी कहीं कुमुदिनी बिना खिले रह सकती है ॥२१॥

किमन्यदुक्तं मुधयेव साद्रया तदन्यथा नाथ न पाटलावच ।
स्फुटेयमस्याः पुरुते यदङ्गके बलात्परिष्वङ्गमनङ्गविक्रिया ॥ २२ ॥

अङ्ग प्रत्यङ्गों में काम क्रिया अपना प्रभाव दिखा रही है, यह स्पष्ट ही है। इससे पाटला के अमृतमय वचनों में (मुझे) सत्यता मालूम होती है ॥ २२॥

शशिप्रभासमीपगमनम्

इतीङ्गितज्ञे वदति प्रियंवदे रमाङ्गदेन स्मितमुद्गतस्मितः ।
अवाप पर्याप्तशशांकदर्शनः फणीन्द्रकन्यासविधं नराधिपः ॥ २३॥

शशिप्रभा के पास जाना

मनोगत भावों को जानने वाले राजा के प्रति रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर पूर्णचन्द्र की भाँति दिखाई देने वाला राजा नागराजकन्या शशिप्रभा के पास पहुँचा ॥ २३ ॥

नायिकाचेष्टाः

उवाह लज्जानतमञ्चितालकम् ततो भुजङ्गाधिपतेः सुता मुखम् ।
अवाञ्चितं किञ्चन मातरिश्वना सषट्पदं पद्ममिवारविन्दिनी ॥ २४ ॥

नायिका की चेष्टा

लज्जा के कारण शशिप्रभाने अपना मुख नीचे झुका लिया था, बाल नीचे झुक आये थे। इससे ऐसा मालूम पड़ता था कि वायु से कुछ नीचे झुके हुए तथा जिस पर भौंरे बैठे हों, ऐसे कमल को कमलिनी धारण कर रही हो ॥२४॥

पतत्यधः कुङ्कुमपङ्कपाटले मयूखलेखापटले शिखामणेः ।
ह्रियेव रक्तांशुकपल्लवस्तया त्रिधातुमालेख्यनृपे न्यधीयत ॥ २५ ॥

सिर के मणि के कुङ्कुम के कारण लाल किरणों का प्रकाश-समूह जब नीचे की ओर (चित्रलिखित राजा पर) पड़ रहा था, तब मालूम होता था कि उसने मानो लज्जित होकर चित्रित राजा को रक्तांशुक से छिपा दिया हो।

नृपस्य चित्रे मधुरेयमाकृतिर्न भिद्यते चन्द्रमसो यथाम्भसि ।
सखीजनस्तामिति नर्मपेशलः शनैस्त्रपानम्रमुखीमभाषत ॥२६॥

रतिक्रीडा सम्बन्धी हँसी-मजाक करने में तज्ञ सखियों ने लज्जानत उसको कहा कि तुम्हारी इस मधुर आकृति का प्रतिबिम्ब पानी में चन्द्रबिम्ब के समान न दिखाई पड़ेगा अर्थात् तुम्हारी छाया चित्र को न ढँक सकेगी ॥ २६ ॥

यथास्मि वक्तासि तथास्य भूपतेर्यदा पुनः कर्णसमीपमास्यसि ।
इतीव निर्व्याजमुदीर्य तत्यजे तयायताक्ष्या स नरेन्द्रसायकः ॥ २७ ॥

पुनः उस दीर्घलोचना ने यह कहते हुए राजा के बाण को राजा की ओर फेंका कि जब तू राजा के कान के पास जायगा, तब मेरी दशा का वर्णन कर देगा ॥ २७ ॥

अलं ह्रियेवं समुपेत्य गृह्यताम् अयं हि पाणिग्रहणोचितस्तव ।
इतीरयन्त्याः कुटिलं वचः करादनङ्गवत्याः कमलं जहार सा ॥ २८॥

"तुम इतना लजा क्यों रही हो ? जरा सोच-समझ कर उस बाण को फिर

से ग्रहण कर लो, क्योंकि वह तुम्हारे हाथ में शोभा पाता है"—अनङ्गवती के इस प्रकार व्यग्यरूप से मजाक करने पर शशिप्रभा ने शीघ्र ही उसके हाथ से कमल का फूल छीन लिया।

विमर्श—पहली पंक्ति में श्लेष है, जिससे यह अर्थ भी निकलता है कि लज्जा मत करो, उसे छोड़ कर इस राजा को ग्रहण कर लो, क्योंकि यह तुम्हारे साथ पाणिग्रहण करने योग्य है॥ २८॥

अथ स्वनिम्बाधरपाटलच्छदं करेण तत्तत्सदृशेन बिभ्रती।
निवेदितुं भूपतिमभ्युपागता रमेव राजीवमुखी रराज सा॥ २९॥

अपने अधरोष्ठ की तरह लाल कान्ति वाले उस कमल को अपने कमलतुल्य हाथ में रख कर वह राजा के पास प्रणाम करने गई, उस समय वह कमलमुखी रमा (लक्ष्मी) की भाँति लग रही थी॥ २९॥

दृशस्ततस्तत्परिवारयोषितां नेत्राञ्जनश्यामलपक्ष्मराजयः।
शशिप्रभे भूमिपतौ सकौतुकाः समापतन्कुन्द इवालिपङ्क्तयः॥ ३०॥

चन्द्रसुन्दर राजा पर उसकी सखियों की नेत्र में लगाये हुए काजल के कारण कृष्णवर्ण की पलकों वाली दृष्टियाँ एक साथ ऐसी जा गिरीं, मानो कुन्द पुष्प पर भ्रमर पंक्ति टूट पड़ी हो॥ ३०॥

नृपार्हणम्

निपीयमानस्य तया शनैःशनैरपाङ्गसञ्चारितदीर्घनेत्रया।
वयान्तपुष्पं क्षितिभर्तुरर्हणां चकार तस्याश्चतुरः सखीजनः॥ ३१॥

राजा का सम्मान

जब वह कनखियों से धीरे धीरे राजा को देखने में तल्लीन थी, तब फूल आदि द्वारा उसकी सखियों ने राजा का सत्कार किया॥ ३१॥

पुरः शिरस्याहितमन्मथाज्ञया तया कटाक्षैः कुटजैरिवार्चितः।
नृपः सपर्यां पुनरुक्तसन्निभां तद्वयस्याभिर्विहिताममन्यत॥ ३२॥

इसके पहले ही शशिप्रभा ने मानो काम की आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने कुटज पुष्प-स्वरूप कटाक्षों से ही राजा की पूजा कर दी थी। अतः उस समय राजा ने पुनः प्रेमपूर्वक की हुई सखियों की पूजा को फिर पुनरुक्ति ही समझा॥ ३२॥

सरागसत्युत्कलिकाभिराकुले मृदून्यलं पाटलया समर्पिते।
अथ न्यपीदन्नवपल्लवासने फणीन्द्रकन्यामनसीव पार्थिवः॥ ३३॥

तब पाटला की दी हुई कलिकाओं से युक्त, कोमल नये पत्तों के आसन पर राजा वैसे ही बैठा, जैसे कि शशिप्रभा के उत्कण्ठित और प्रेमपूर्ण हृदय में बैठ चुका था॥ ३३॥

अनुक्षितीशं नलिनीदलासने कयाचिदस्ते परिवारयोपिता ।
रमाङ्गदोऽप्यासनबन्धमादधे वसुन्धरायां विनयैकबन्धुरः ॥ ३४ ॥

विनयसम्पन्न रमाङ्गद भी राजा के बैठ जाने पर किसी सखी द्वारा दिये गये कमलिनी के पत्र के आसन पर पास ही आसन जमाकर बैठ गया ॥ ३४ ॥

श्रमानुरोधादुपविश्यतामितः क्षणं कृशाङ्गीति सखीभिरर्थिता ।
उपाविशद्वेपितवामनम्स्तनी ततस्समं ताभिरहीन्द्रकन्यका ॥ ३५ ॥

"हे सखि ! तुम थकी हुई हो, अतः हे कृशाङ्गि, अब तुम भी इधर बैठ जाओ" ऐसा सखीजनों के कहने पर वह शशिप्रभा भी, जिसके टेढ़े स्तन काँप रहे थे, अपनी सहेलियों के साथ उनके सामने बैठ गई ॥ ३५ ॥

नायिकाविलसितानि

विवर्तयन्ती वदनेन्दुमण्डलं विशालनेत्रान्तनिपक्ततारकम् ।
द्वयेन साऽकृष्यत सुन्दरी समं ह्रिया नृपालोकनकौतुकेन च ॥ ३६ ॥

नायिका के हाव-भाव

अपने मुख को राजा की ओर से मोड़ने वाली, और बड़ी-बड़ी आँखों में ही अपनी दृष्टि को छिपाने वाली शशिप्रभा के मन को लज्जा और राजा को देखने की प्रबल इच्छा—दोनों ने एक साथ अपनी-अपनी ओर आकृष्ट किया ।

विमर्श—अर्थात् राजा की तरफ वह जब देखना चाहती, तब लज्जा उसे अपनी तरफ खींचने लगती, पर फिर तुरन्त राजा को देखने की उत्कट इच्छा अपना जोर करती, इस तरह वह एक ही समय दोनों ओर से खींची जाने लगी ॥ ३६ ॥

अथावतंसीकृतलोचनोत्पलं कपोलदोलायितरत्नकुण्डलम् ।
चिरं पपौ स स्तिमितेन चक्षुषा तदाननं मालवमीनकेतनः ॥ ३७ ॥

दोनों कमलनयन जिस पर आभूषण रूप में शोभित हो रहे थे, तथा जहाँ पर कुण्डल लटक रहे थे, ऐसे शशिप्रभा के उस मुख को मालव देश के कामदेव स्वरूप वह राजा सतृष्ण नेत्रों से एकटक देर तक देखता रहा ॥ ३७ ॥

कृती दृशाऽस्याः मुहुरः पिबत्ययं कपोललावण्यसुधां नराधिपः ।
मिथस्सखीनामिति सस्मितं वचो निशम्य साभूदधिकाधिकत्रपा ३८॥

"देखो, यह पुण्यात्मा (सौभाग्यशाली) इसके (नयनों से नयन मिला-कर) कपोलों के सौन्दर्यामृत का पान कर रहा है" इस प्रकार जब सखियाँ हँस-हँस कर आपस में बातें कर रही थीं, तब उनकी बातों को सुन कर वह बेचारी और अधिक लज्जित हो जाती ॥ ३८ ॥

मनागिवासादपवर्तिताननो निरीक्ष्य त भूपतिमर्पितेक्षणम् ।
विहस्य लज्जामुकुले चकर्ष सा बलादपाङ्गप्रसृते विलोचने ॥ ३९ ॥

अपने कंधे की ओर वहले वह देख रही थी, फिर जरा सा दृष्टि उठा कर उसने देखा तो राजा को अपनी ही ओर एकटक देखते पाया। तब हँस कर उसने अपने लजीले नेत्रों को बरबस ही दूसरी ओर फेर लिया ॥ ३९ ॥

यशोभटे रूपमगंतिरासितु कृतस्मिते चित्रगत प्रशसति ।
करस्थल सा झटिति न्यधात्तत शिलातले तामरस त्रपावती ॥ ४० ॥

उसी समय जब रमागद हँसकर चित्रलिखित राजा के रूप की प्रशसा करने लगा, तब लजाकर उसने अपने हाथ के कमल को उस शिला पर रख दिया (जिसपर राजा का चित्र बना था) ॥ ४० ॥

निकामसुक्त सुकुमारमङ्गना विलासिनस्तस्य जहार सा मन ।
स्मरैकदूती सहकारशाखिनो लसन्मधावन्यभृतेव पल्लवम् ॥ ४१ ॥

यह उचित ही है कि उस कुमारी ने इस विलासी राजा का मन ऐसे ही हर लिया, जैसे काम की अग्रदूती कोकिला विकसित वसन्त में आम के पत्तों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

विमर्श—वस्तुत वसन्त ऋतु में आम के पत्ते खिलते हैं अपने आप, पर यहाँ कवि ने ऐसी उत्प्रेक्षा की है कि कोकिला को देखकर ही तथा उसके मधुर कूजन को सुनकर ही पत्ते खिल कर आम के पेड़ बौराते हैं ॥ ४१ ॥

तदीयमुद्दामरसोर्मिनिर्भर स राजहसोऽपि विवेश मानसम् ।
कृतप्रवेशश्च सलीलमच्छिनन् मनाङ् मृणालीमिव धीरतामत ॥ ४२ ॥

उसके उद्दीप्त रसतरगों से परिपूर्ण मानस (मानसरोवर) में वह राज हस सहसा प्रविष्ट हो गया। और उसने उस मानस (मानसरोवर) में प्रविष्ट होकर उसकी धीरता रूपी मृणालनी को धीरे धीरे तोड़ दिया ॥ ४२ ॥

क्षणादपाङ्गस्तिमितायताक्षयो सकम्पयो कण्टकिताङ्गलेखयो ।
अजायतान्योऽन्यनिवद्धभावयोस्तयो प्ररोह हृदि बालमन्मथ ॥ ४३ ॥

दोनों एक दूसरे की तरफ कटाक्षों से देखने लगे, जिससे दोनों की आँखें स्तब्ध थीं, दोनों के शरीर में कँपकँपी होने लगी, शरीर में रोमान्च हो आये। दोनों ने एक-दूसरे के भावों को जान लिया। उसी समय उनके हृदय में बालमन्मथ (कामदेव) ने अकुरित होना प्रारम्भ कर दिया ॥ ४३ ॥

नायकस्य नायिका प्रत्युक्तिः

असूययेवाथ विमुञ्चती दृशा सखीषु सा सूत्रितनर्मसूक्तिषु ।
इति स्मितक्षालितदन्तवाससा नृपेण नागेन्द्रसुताऽभ्यधीयत ॥ ४४ ॥

नायक का नायिका के प्रति कथन

कुछ सखियाँ व्यंग्य करने लगीं, तब उन पर उसने कुछ ईर्ष्यालु दृष्टिपात किया। तभी मधुर हँसी हँसते हुए राजा ने उस नागराजकन्या से कहा ॥ ४४ ॥

वदानवद्याङ्गि सखीजनाहृतः किमेष नाम व्यतिरिच्यते जनः।
विहाय विश्रम्भविशेषमेतया यदङ्गमन्तर्विशतीव लज्जया ॥ ४५ ॥

हे निर्दुष्ट सुन्दरि! तुम्हारी सारी सखियों ने हमारा पर्याप्त आदर किया, पर तुम्हारे मन में हमारे विषय में दूजाभाव शायद है, क्योंकि इस लज्जा के कारण तुम्हारे सारे अंग-प्रत्यंग अपने आप में ही सिकुड़ते जा रहे हैं। और तुमने हमारा कोई विशेष सत्कार नहीं किया ॥ ४५ ॥

सदा सदाचारपरेतिवार्तया वयं हृताः पन्नगराजपुत्रि ते।
अतः किमेवं प्रतिपत्तिमूढतां विगाहसेऽस्मासु विमुच्यतामियम् ॥ ४६ ॥

तुम सदैव सदाचार अर्थात् आतिथ्य आदि भलीभाँति करने के मार्ग पर चलने वाली हो, ऐसा तुम्हारे विषय में हमने सुना है, जिससे हम आकृष्ट हैं। लेकिन तुम हमारे विषय में इतनी लापरवाह क्यों बन रही हो? इस लापरवाही को छोड़ो ॥ ४६ ॥

अनेन ते सुन्दरि दर्शनेन वा कृतोपचारोऽस्मि कियत् कदर्थ्यसे।
न वीक्षते वल्गु न मञ्जु भाषते गता कचिल्लोचनवर्त्म मालती ॥ ४७ ॥

हे सुन्दरी! तुम्हारे दर्शन से ही वस्तुतः हमारा अतिथि-सत्कार हो गया है। तुम इतना कष्ट न करो। यदि मालती लता केवल दृष्टि में भी आ जाय तो उसके देखने से ही तृप्ति हो जाती है, वह न मधुर दृष्टि से देखती है, न बोलती ही है, फिर भी मन की तृप्ति हो जाती है ॥ ४७ ॥

अधःकृताः सत्यमधीरलोचने रसातलेन त्रिदिवस्य भूमयः।
अनङ्ग दुर्वारशराधिदैवतं भवद्विधं रत्नमवाप्यतेऽत्र यत् ॥ ४८ ॥

हे कातर नयनों वाली! काम के अमोघ बाणों की अधिष्ठात्री देवतास्वरूप तुम जैसी दिव्य रत्न-मणियों को उत्पन्न करनेवाले पाताललोक ने स्वर्गभूमियों को भी पराजित कर दिया, यह सत्य है ॥ ४८ ॥

कुतूहलाध्यासितमर्त्यलोकया त्वया मुहूर्तं फणिलोककौमुदि।
अवैमि पातालमवाप्तसन्धिना विलङ्घ्यते सन्तमसेन सम्प्रति ॥ ४९ ॥

हे नागलोक की चाँदनी! तुम कौतूहल से अपना देश छोड़ कर इस मर्त्यलोक में आई हुई हो तो मैं समझता हूँ कि मौका पाकर इस समय पाताल-लोक को घोर अंधकार ने घेर लिया होगा। अर्थात् तुम्हारे यहाँ आ जाने पर वहाँ घोर अँधेरा छा गया होगा ॥ ४९ ॥

इदं मृणालादपि कोमलं वपुस्तवैष दूरादरविन्दिनीपतिः ।
पुनः पुनः संस्पृशतीव कौतुकात् तमालगुल्मान्तरपातिभिः करैः ॥ ५०॥

तुम्हारे कमलनाल से भी कोमल शरीर को तमालवृक्ष के गुच्छों के बीच से छनकर आने वाली अपनी किरण रूपी हाथों द्वारा यह सूर्य भी दूर से ही बार बार छू रहा है ॥ ५० ॥

अनेन ते सभ्रमचारिबिन्दुना नवीनपीयूषतुषारदन्तुरः ।
शरीषमृद्वङ्गि तुषारपाण्डुना कपोलबिम्बेन विडम्ब्यते शशी ॥ ५१ ॥

हे *शिरीषपुष्प के समान कोमल अङ्गवाली* ! पसीने की बूँदों से युक्त, हिम के समान श्वेत तुम्हारे इस बिम्बरूप कपोलों से नवीन अमृत की सी धवल कान्तिवाला चन्द्रमा भी लज्जित हो रहा है अर्थात् तुम्हारा कपोल चन्द्र से भी अधिक सुन्दर है ॥ ५१ ॥

इदं वदाशिक्षत कैतवं कुतस्तवैष मुग्धे सरलाङ्गुलिः करः ।
इहैतदालिख्य शिलातले शनैरनेन लीलाकमलं यदुज्झितम् ॥ ५२ ॥

हे मुग्धे ! यह बताओ कि सीधी अगुलियों वाले तुम्हारे इस हाथ ने यह चालाकी कहाँ से सीखी ? क्योंकि पहले तो इस हाथ ने उस शिला पर यह चित्र बनाया, और फिर उसे इस कमल से ढँक लिया ? ॥ ५२ ॥

न चित्रमेव क्वचिदस्ति भूतले ममात्र तेनास्ति कुतूहलं महत् ।
अतः किमेतत् पिहितं प्रकाश्यताम् अहेतुरुस्तन्वि क एष मत्सरः ॥५३॥

इस चित्र के समान भूतल पर और आकृति ही मुझे नहीं दिखाई पड़ती, इसलिये मुझे बहुत कौतूहल हो रहा है। अतः यह क्या छिपा रखा है, इसे तो खोलो। हे तन्वि ! अकारण ही इस प्रकार छल करना (डाह करना) ठीक नहीं ॥ ५३ ॥

अदृश्यमेतद्यदि मन्यसे तव त्वमर्थ्यसे तर्हि वियदेव शंस नः ।
कृती स्वयाय भुजगाम्बरौकसाम् अलेखि चित्रे कतमः कृशोदरि ॥५४॥

यदि तुम यह समझती हो कि यह किसीको नहीं दिखाया जा सकता, तो हमें इतना ही बता दो कि तुम क्या चाहती हो ? पाताललोक तथा स्वर्ग में रहने वालों में से वह भाग्यशाली कौन है ? हे कृशोदरी ! जिसका तुमने यह चित्र बनाया है ॥ ५४ ॥

लतेव सम्मीलितषट्पदस्वना कियच्चिरं निर्वचनैव तिष्ठसि ।
चलच्चकोराक्षि विचिन्त्य सूनृतं ममोत्तरं किञ्चन दातुमर्हसि ॥ ५५ ॥

अपने में भ्रमरों की ध्वनि को जिसने छिपा रखा है, ऐसी लता की भाँति तुम कब तक मौन रहोगी ? हे चकोरनयनी ! अच्छी तरह सोचकर मेरे वचनों का उत्तर तो तुम्हें देना ही चाहिए ॥ ५५ ॥

यथातिजिह्वे पि यथातिवेपसे यथा कपोले पुलकं बिभर्षि च ।
तथाऽत्र मन्ये तव पक्षपातवञ्जितान्तमन्तःकरणं कृशोदरि ॥ ५६ ॥

जिस भाँति तुम अत्यन्त लजा रही हो, बहुत काँप रही हो, और जैसे तुम्हारे गालों पर रोमाञ्च हो आये हैं, इस सबसे तो यही विदित होता है कि हे कृशोदरी ! तुम्हारा हृदय भी इसके प्रति पक्षपात रखता है अर्थात् तुम इस पर आसक्त जान पड़ती हो ॥ ५६ ॥

ह्रिये तवेयं यदि कल्पते कथा किमेतया नः प्रकृते यतामहे ।
यदर्थमेते वयमागताः स्वयं स नार्प्यते किं करभोरु सायकः ॥ ५७ ॥

हे करभोरु ! यदि यह सब बातें तुम्हें लज्जाशील ही बना रही हैं, तो जाने दो । हमारा इन बातों से क्या प्रयोजन ? हम अपने काम की बात कहें । अच्छा, तो हम लोग जिसके लिए आये हैं, क्या हमारा वह बाण हमें न दोगी ? ॥ ५७ ॥

सलीलमेवं वदति स्मितानने नृपे नवप्रेमरसार्द्रचेतसि ।
विवर्तयन्ती मणिकङ्कणं करं मुमोच मौनं न फणीन्द्रकन्यका ॥ ५८ ॥

अभिनव प्रेमरस से आर्द्र चित्तवाले हँसमुख राजा के ऐसा कहने पर भी अपने हाथ की चूड़ी को आगे-पीछे करती हुई शशिप्रभा ने मौन को न तोड़ा ॥ ५८ ॥

माल्यवतीवचनम्

तया तथा दृष्टमथान्तरान्तरा कटाक्षकान्तिःस्नपितावतंसया ।
इति स्मिताप्यायितदन्तदीधितिर्जगाद तं माल्यवती विशाम्पतिम् ॥ ५९ ॥

माल्यवती के वचन

कटाक्षों की शोभा से शशिप्रभा के कन्धे सिक्त हो रहे थे, अर्थात् वह एकटक अपने कन्धों की तरफ ही देख रही थी, लेकिन बीच-बीच में राजा की तरफ भी देखती थी । उस राजा को माल्यवती ने मधुर हँसी से अपने दाँतों को चमकाते हुए यों कहा ॥ ५९ ॥

तवैतया सत्कृतिपात्र सत्कृतं स्वयं न यत् कल्पितमल्पमध्यया ।
न सोऽवलेपो न च सा प्रमादिता न च त्रपा तत्र नृपोऽपराध्यति ॥ ६० ॥

हे आदर के योग्य ! इस क्षीण कटि वाली ने जो स्वयं तुम्हारा सत्कार नहीं किया, तो इसमें न इसका गर्व ही कारण है और न लापरवाही । लज्जा भी इसका कारण नहीं । इसमें तो केवल तुम्हारा ही अपराध है ॥ ६० ॥

कृतीति वार्ता तव वेत्सि वाञ्छितं त्वमन्तरात्मेव न कस्य वा भुवि ।
अतस्सखीभावगतस्य गोपनं न युज्यते नस्त्वयि तन्निशम्यताम् ॥ ६१ ॥

हे सौभाग्यशाली ! तुम बहुत कुशल हो, यह बात तुम्हारे बारे में लोक में

विश्रुत है, तुम अन्तरात्मा की तरह किसके मन की बात भलीभाँति नहीं जान सकते, अर्थात् तुमसे कोई बात छिप नहीं सकती। इसलिए अपनी सखी के भावों को छिपाना ठीक नहीं है। अब तुम जो कुछ जानना चाहते हो, सुनो ॥ ६१ ॥

शिलीमुखेऽस्मिन् तव नामलाञ्छिते मृगोपनीते मृगशावलोचना।
प्रमोदमाप्तेयमितो विलोकिते करे चकोरीव तुषारदीधिते ॥ ६२॥

हिरण के शावक की तरह नेत्रों वाली, यह सुन्दरी मृग द्वारा लाये हुए तुम्हारे नामांकित बाण को पाकर परम प्रसन्न हो गयी। उस बाण को हाथ पर लेकर हमारी सखी वैसे ही देखती रही है, जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती है ॥ ६२ ॥

क एष राजेति मुहुः कुतूहलादियं यदा पृष्टवती सखीजनम्।
अतस्तदाऽस्यै कथितं सविस्तरं मया त्वमुर्वीतलमीनलाञ्छनः ॥ ६३ ॥

यह राजा कौन है? जब इसने कई बार हम लोगों से उत्सुक होकर यह पूछा, तब मैंने विस्तारपूर्वक इस पृथ्वी के कामदेवरूप तुम्हारे विषय में सब कुछ इसे बताया ॥ ६३ ॥

करेण सासूयमपास्य कर्णतः क्वणद्द्विरेफावलिनीलमुत्पलम्।
तदैतयाभ्युद्गतपक्षपातया श्रुता गुणाढ्यस्य बृहत्कथा तव ॥ ६४ ॥

तब ईर्ष्यालु सी होकर भ्रमर पंक्ति के गुंजार से युक्त कमल को अपने कान से दूर हटाकर तुम्हारे प्रति आसक्त हुई इसने गुणों से युक्त तुम्हारी बृहत् कथा को उसी प्रकार सुना, जैसे गुणाढ्य कवि की 'बृहत्कथामञ्जरी' को लोग सुनते हैं। ६४ ॥

इमां त्वदाकारनिरूपणे सखीम् अवेत्य पर्युत्सुकलोचनामिव।
ततो मया विश्वविलोचनोत्सवस्त्वमेव चित्रे लिखितोऽसि पार्थिव ॥६५

तुम्हारी आकृति को देखने के लिए उत्कण्ठित नेत्रोंवाली अपनी सखी को जानकर, तब हे नृप! विश्व के लोचनों को आनन्द देनेवाले तुम्हारे (इस) चित्र को मैंने इस शिला पर बनाया ॥ ६५ ॥

उदञ्चितव्यायतपक्ष्मणा ततः सखीसमक्षं निभृतेन चक्षुषा।
चिरं निपीतः सतृषेव मुग्धया त्वमेतया मध्यमलोकवासव ॥ ६६ ॥

हे राजन्! ऊपर को उठी हुई अत एव फैली हुई पलकों वाले नेत्रों से इस (प्यासी) मुग्धा ने सखियों से आँख बचाकर तुम्हें बड़ी देर तक आनन्द-पूर्वक देखा ॥ ६६ ॥

अतो वरोऽयं युवयोः समागमः कुमुद्वतीचन्द्रमसोरिवोचितः।
इयं हि बालोच्छ्वसितं मनोभुवस्त्वमत्र लोकत्रितयैकसुन्दरः ॥ ६७ ॥

अतः (मैं समझती हूँ) कुमुदिनी और चन्द्रमा के संयोग के समान ही तुम दोनों का यह समागम भी अति सुन्दर हुआ है। यह तो साक्षात् काम के हलके श्वास के समान है, और तुम भी तीनों लोकों में एकमात्र सर्व-सुन्दर हो ॥ ६७ ॥

नृप ग्रहीतुं न यमत्र कोऽप्यलं सुरेषु वा पन्नगपुंगवेषु वा।
स एव पङ्करुहकर्णिकामृदुस्त्वयाऽशयोऽस्याः क्रियते सकौतुकः ॥ ६८ ॥

हे नृप ! देवताओं में या नागश्रेष्ठों में कोई भी जिसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ, तुमने इसके उसी कमल-केसर से भी कोमल भावना को कौतूहल से युक्त बना दिया है अर्थात् तुमने इसका हृदय जीत लिया है ॥ ६८ ॥

अयाचितोऽप्यर्पित एव ते शरः क्षितेरयं न्यायविदां वरेतया।
तदेनमभ्यर्थयमे कथं पुनः कलत्रमेषाहि वसुन्धरा तव ॥ ६९ ॥

हे धरती के न्याय जानने वालों में श्रेष्ठ नृप ! इसने तुम्हारा बाण तो बिन माँगे ही तुम्हें दे दिया है। फिर तुम बार-बार उसे क्यों माँगते हो। आखिर यह सारी पृथ्वी भी तो तुम्हारी पत्नी रूप है, इसके तुम स्वामी ही हो ॥ ६९ ॥

इतीतिवृत्तं तदुपाश्रयं तथा प्रकाशयन्ती पृथिवीपतिम्प्रति।
छलादलीकभ्रुकुटिं विधाय सा तयाऽऽलुलोके फणिराजकन्यया ॥ ७० ॥

अपने सम्बन्ध की इस प्रकार की बातों को राजा से बताने वाली अपनी सखी को नागराजकन्या शशिप्रभा यों ही भौंहें तानकर (बनावटी क्रोध जताती हुई सी) देखने लगी ॥ ७० ॥

अथ द्विरेफस्य मुखाब्जपातिनो निवारणायोरगराजकन्यका।
शिलातलान् सम्भ्रममीलितस्मृतिस्तदाशु लीलाशतपत्रमाददे ॥ ७१ ॥

इसी बीच मुखकमल पर मँडराने वाले भौंरे को हटाने के लिये अकस्मात् सब कुछ भुलाती हुई सी शशिप्रभा ने शीघ्र ही उस शिला पर रखे हुए लाल-कमल को उठा लिया ॥ ७१ ॥

ततस्स रोमाञ्चनिपीडिताङ्गदो रमाङ्गदं व्यक्तशशिप्रभेङ्गितः।
अपश्यदिन्दीवरदामदीर्घया प्रमोदविस्तारितया दृशा नृपः ॥ ७२ ॥

तब रोमाञ्च के कारण कसे हुए बाजूबन्द वाले और शशिप्रभा के संकेत को भली-भाँति समझने वाले राजा ने कमल के समान दीर्घ दृष्टि से रमांगद की ओर देखा ॥ ७२ ॥

रमाङ्गदवचनम्

समर्पिता पार्थिवपुष्पकेतुना तवेयमार्द्रप्रणया मनस्विनी।
असीमसौन्दर्यसुधाविलासभूरुदन्वतेवेन्दुकला पिनाकिनः ॥ ७३ ॥

रमागद का कथन

समुद्र ने जिस प्रकार भगवान् शंकर को चन्द्रकला अर्पित की, उसी तरह हे राजन् ! कामदेव ने ही मानो यह असीम सौन्दर्य रूपी अमृत के विलास का उत्पत्ति स्थानभूत, नव अनुरागवती मनस्विनी तुम्हें दी है । ॥ ७ ॥

किमन्यदत्रोल्लसित जगत्त्रये तवैव सौभाग्यपताकया नृप ।
यदागता मन्मथपत्त्रिणामियं शरव्यतामेवमपि श्रुते त्वयि ॥ ७४ ॥

तुम्हारी सौभाग्यरूपी पताका का तीनों लोकों में अन्य जगह इससे बढ़कर और क्या उल्लास हो सकता है कि तुम्हारे बारे में सुनते ही यह (त्रैलोक्य-सुन्दरी) कामदेव के बाणों का निशाना बन गई ।

विमर्श—अर्थात् यह जो तुमपर आसक्त हुई है, इससे बढ़कर और तुम्हारे सौभाग्य का विषय क्या हो सकता है ! ॥ ७४ ॥

वधूर्दिलीपस्य सुदक्षिणा यथा यथा सुनन्दा भरतस्य भूपते ।
रघूद्वहस्यानकिन्यका यथा तथा तवैव विधिनोपपादिता ॥ ७५ ॥

दिलीप के लिये सुदक्षिणा, राजा भरत के लिये सुनन्दा, और राम के लिये जानकी को जैसे विधाता ने बनाया था, वैसे ही इसे भी मानो विधाता ने तुम्हारे लिये ही बनाया है ॥ ७५ ॥

किमन्यदस्याः कृतपाणिपीडनः पदं निधत्से गृहमेधिना धुरि ।
इति प्रसर्पत्स्मितचन्द्रिकः शनैरभाषतोर्वीतिलकं रमाङ्गदः ॥ ७६ ॥

अधिक क्या कहूँ, इसके साथ पाणिग्रहण करके आप गृहस्थों में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कर लेंगे । इस प्रकार चन्द्रकिरणों की भाँति अपनी हँसी को बिखेरते हुए रमागद ने राजा से कहा ॥ ७६ ॥

विलोकितं चित्रमलीकभाषिणी भवत्सखीयं प्रतिभासते मम ।
इतीरितैव किल पार्थिवेन सा भृशं ललज्जे निभृतं जहास च ॥ ७७ ॥

इसके बाद चित्र देखकर राजा ने शशिप्रभा से कहा कि मैंने इस चित्र को देख लिया है । यह तुम्हारी सखी बड़ी झूठ बोलने वाली मालूम होती है । राजा के ऐसा कहने पर शशिप्रभा बहुत लज्जित हुई, परन्तु मुँह फेर कर चुपचाप हँसने लगी ॥ ७७ ॥

विलोकयन्ती तमपाङ्गलोचना समुल्लसत्स्वेदलवाङ्कितस्तनी ।
ततस्सुजातस्तनकान्तमौक्तिका लतेव सा हेममयी व्यकम्पत ॥ ७८ ॥

फिर वह कनखियों से राजा को देखने लगी । उसके स्तनों पर पसीने की बूँदें उभर आयीं, जिससे उनकी शोभा मनोहर थी । तब वह सुन्दर मोती के गुच्छों से जड़ी हुई स्वर्णलता की भाँति काँपने लगी ॥ ७८ ॥

मुखे तवासक्तमिदं शशिप्रभे दृशावतंसागतयैतदीयया ।
सखीजनस्सस्मितमित्युवाच ताम् अवन्तिनाथं च मिथो रमाङ्गदः ॥ ७६ ॥

तब हँसती हुई उसकी सखियों ने उससे कहा—"हे शशिप्रभा! तुम्हारे मुख पर राजा का मन आसक्त हो गया है।" उसी समय रमांगद ने राजा से भी कहा कि "हे नृप! उसकी दृष्टि तुम्हारे मुख पर लगी है।" यह बात सखियों ने शशिप्रभा से और रमांगद ने राजा से एक साथ कही ॥ ७६ ॥

अत्रान्तरे झटिति चित्तमिवाच्छमम्भः
क्षोभं जगाम सरितस्तुहिनांशुसूतेः ।
वाति स्म च प्रसभभग्नतमाल-ताल-
हिन्ताल-साल-सरलः सहसा समीरः ॥८०॥

इस प्रकार नवसाहसांक राजा का निर्मल चित्त अकस्मात् ही क्षुब्ध हो उठा, जैसे चन्द्रमा को देखकर नदी का जल क्षुब्ध होकर उच्छाल मारने लगता है। और सहसा तमाल, ताल, हिन्ताल, साल, साखू के वृक्षों को उखाड़ देने वाली वायु भी चलने लगी।

विमर्श—अर्थात् धैर्य और संयम का बाँध तोड़ने वाली विचारों की आँधी आ गई। दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो गये ॥ ८० ॥

पयोदोदयः

वदनमदथ तत्क्षणादुदञ्चन्-
कनकपिशङ्गतडिल्लतः पयोदः ।
अधरितमुरजध्वनीनि मुञ्चन्
विधुरितकर्णतलानि तर्जितानि ॥ ८१ ॥

बादल घिर आना

उसी समय स्वर्ण के समान कुछ पीली बिजली जिसमें से रह-रहकर कड़कती थी, ऐसा बादल आकाश में उदित हो गया। वह कान के पर्दों को बधिर कर देने वाली और मुरज से भी भयंकर घनघोर गर्जना करने लगा।

विमर्श—यहाँ पर बिजली के पहले 'पिशङ्ग' का उल्लेख किया गया है, जिससे वर्षा की सूचना मिलती है। कहा भी गया है :

वाताय कपिला विद्युत् आतपाय च लोहिनी ।
पीता वर्षाय विज्ञेया, दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥ ८१ ॥

अथ समुदितत्रासा मेघस्वनादनु भूपतेर्
भुजपरिघयोरन्तर्बाला प्रवेष्टुमियेष सा ।

किमसि चकिता मा त्वं भैषीरितो भज लज्जया
कृतमिति च तामूचे देव स साहसलाञ्छन ॥ ८२ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये शशिप्रभासंलापो
नाम सप्तम सर्ग ॥ ७ ॥

तब उस मेघ गर्जना को सुनकर डरी हुई शशिप्रभा राजा के बाहुरूपी परिघ के अन्दर छिपने की इच्छा करने लगी। यह जानकर नवसाहसांक राजा ने उससे कहा, तुम घबरा क्यों रही हो, डरो मत, इधर आ जाओ, लज्जा त्याग दो ॥ ८२ ॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित
नवसाहसांकचरित महाकाव्य का 'शशिप्रभासंलाप'
नामक सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

अथाष्टमः सर्गः

अष्टम सर्ग

नायिकातिरोधानम्

सापदेऽथ भुजगेन्द्रकन्यका खे पयोदपटलैस्तिरोहिते ।
नर्मदापुलिनपल्लवस्थिता हंसपङ्क्तिरिव कम्पमाददे ॥ १ ॥

नायिका का छिपना

वह नागराजकन्या अकस्मात् मेघों के समूह से आच्छादित नभ ने जब भयानक रूप धारण कर लिया, तब उसी तरह काँपने लगी, जैसे नर्मदा के किनारे पर स्थित पत्तों पर बैठी हुई राजहंसों की पंक्ति काँपती है ॥ १ ॥

स्फूर्जयेव निचयः पयोमुचां तारमन्द्रमनदत् यथायथा ।
सा नरेन्द्रतिलकं तमैक्षत मुग्धलोलनयना तथा तथा ॥ २ ॥

आकाश में बादलों का समूह जैसे-जैसे मन्द और कभी घोर की गर्जना करने लगा, वैसे ही वैसे वह कातर नयनोंवाली शशिप्रभा राजेन्द्र (नवसाहसांक) को देखने लगी ॥ २ ॥

उल्लसन्नवपयोधरालसां द्यां च तां च सुमुखीं विलोकयन् ।
भूपतिः स नितरामभूद्वशे विस्मयस्य च मनोभवस्य च ॥ ३ ॥

नवीन मेघ जिसमें मँडरा रहे थे, अतएव अलस अर्थात् स्तब्ध आकाश को और नवीन स्तन जिसके उल्लसित हो रहे थे, अतएव अलसायी हुई उस नायिका को जब राजा देखने लगा, उस समय वह विस्मय और काम के वशीभूत हो रहा था

विमर्श—अर्थात् जब मेघाच्छादित नभ को देखता, तब उसे कुतूहल होता, और जब पुष्ट-स्तनों वाली नायिका को देखता, तब कामाधीन हो जाता । यहाँ श्लेष का चमत्कार सराहनीय है ॥ ३ ॥

वामनत्वमलिनत्वमत्यजन् व्यञ्जितक्रम इव त्रिविक्रमः ।
क्रामति स्म सहसैव मेघभूर् अन्धकारनिकरोऽथ रोदसी ॥ ४ ॥

दीर्घाकार और घोर झंझावात के साथ स्पष्ट रूप से मेघ अपना विस्तार वामन भगवान् त्रिपदक्रम की भाँति बढ़ा रहा था और सहसा मेघों से उत्पन्न अन्धकार धीरे-धीरे आकाश और धरती को व्याप्त करने लगा ॥ ४ ॥

नेत्ररोधिनि तयोर्न केवलं मूर्च्छिते तमसि वैशसं हृदि ।
यावदास्यविगलद्बिसाङ्कुरे चक्रवाकमिथुनेऽप्यजृम्भत ॥ ५ ॥

राजा और शशिप्रभा के नेत्रों की शक्ति को रोकने वाले और हृदय में व्याप्त होने वाले अन्धकार से उनके हृदयों में ही निराशा न हुई, अपितु कमल-वन में चलने वाले चकवा चकवी के हृदय में भी (रात्रि की आशंका से) निराशा व्याप्त हो गई ॥ ५ ॥

कर्णभूषणमणिप्रभालवैः स्तोकलक्षितकपोलपत्रया ।
दृश्यमाणनयनोऽथ पिप्रिये पन्नगेन्द्रसुतया तया नृप ॥ ६ ॥

ऐसे समय में अपने कनफूलों के मणियों की प्रभा में चमकते हुए कपोलों वाली शशिप्रभा ने अपनी ओर आकृष्ट नेत्रों वाले राजा के सौन्दर्य को एक बार फिर सतृष्ण नयनों से देखा ॥ ६ ॥

विमर्श—घोर अन्धकार छाया हुआ था। पर शशिप्रभा के कर्णफूल में जड़े हुए मणियों की किरणें उसके कपोल पर पड़ रही थीं, अत वह अंश राजा को साफ दिखाई पड़ रहा था। राजा उसे एकाग्र चित्त से देख रहा था और शशिप्रभा भी सतृष्ण नयनों से उसे देख रही थी ॥ ६ ॥

तेजसि स्फुरति ताडिते मुहुर् निभ्यती कनकभङ्गपिङ्गले।
त हृदि स्थितमिवेक्षमीलितु साऽपि मीलितविलोचनाऽभवत् ॥ ७ ॥

स्वर्ण की कान्ति के समान चमकती हुई पीली बिजली के प्रकाश से भयभीत होती हुई वह (राजा को न देखकर) आँखें बन्द करके अपने हृदय में स्थित राजा को देखने लगी

विमर्श—सोने के खण्ड को तोड़ने से उसके अन्दर के भाग की कान्ति अत्यन्त पीत वर्ण की होती है, उस कान्ति के समान बिजली जब कड़कती थी, तब नायिका की आँखें चौंधियाकर बन्द हो जाती थीं। इस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि वह अपने प्रियतम को हृदयस्थित देखने के लिये ही मानो आँखें बन्द कर रही हो। क्योंकि बिना चित्त की एकाग्रता के अन्दर स्थित मूर्ति कैसे दीखेगी और आँखें बन्द करना चित्त में एकाग्रता लाने का ही एक साधन माना गया है ॥ ७ ॥

आकाशवाणी

एष ते न घटते मनोरथः पार्थिवाहिपतिकन्यकाप्रति।
गच्छ विन्ध्यविपिनान्तदृष्टया वञ्चितोऽसि मृगतृष्णयैतया ॥ ८ ॥

आकाशवाणी

फिर आकाशवाणी राजा को सुनाई दी कि—हे राजन्! नागराजकन्या के प्रति जो तुम्हारा मनोरथ है, अर्थात् उसे पाने का जो तुम अभिलाष लगाये हो, वह पूर्ण न हो सकेगा, तुम लौट जाओ। विन्ध्याचल के इस वन में इस (शशिप्रभा रूपी) मृगतृष्णा से तुम छले गये हो ॥ ८ ॥

साहसोदधिविलोडने स्वयं योंसमंसलतयार्पयिष्यति ।
श्रीरिवोरसि मुरद्विषः पदम् तस्य निश्चितमियं विधास्यति ॥ ९ ॥

कन्धे से कन्धा लगाकर घोर परिश्रम करके जो साहस रूपी समुद्र को मथ सकेगा, यह उसी के हृदय पर विष्णु के हृदय पर लक्ष्मी की भाँति विराजित हो सकेगी। इसकी प्राप्ति के लिये साहस-समुद्र के मन्थन जैसा घोर परिश्रम करना पड़ेगा ॥ ९ ॥

पश्य पश्य चपलेयमन्तिकान् नीयते तव यथोचितं कुरु ।
एवमेव यदियं न लभ्यते जानकीव जनकप्रतिज्ञया ॥ १० ॥

देखो देखो, तुम्हारे पास से इसे कोई लिये जा रहा है। अब तुम जो कुछ कर सकते हो, करो। जनक की प्रतिज्ञा के समान यह यों ही जानकी की भाँति नहीं मिल सकती।

विमर्श—अर्थात् जनक की प्रतिज्ञा पूर्ण किये बिना जैसे जानकी किसी को नहीं मिल सकती थी, वैसे ही यह भी बिना घोर परिश्रम किये तुम्हें नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १० ॥

कन्यकासि किमिदं शशिप्रभे युक्तमेहि पितुरन्तिकं व्रज ।
इत्यविग्रहवती[1] नभस्तलात् उल्लास सहसा सरस्वती ॥ ११ ॥

हे शशिप्रभा ! तुम नागराजकन्या कुमारी हो, तुम यह क्या कर रही हो, अब तुम अपने पिता के पास वापस लौट जाओ। यही तुम्हारे लिए उचित है। इस प्रकार आकाश से एक अत्यन्त संक्षिप्त सी वाणी निकली ॥ ११ ॥

तां निशम्य स निकामविस्मितः साचिकार्मुकलतामलोकत ।
इन्दुमौलिगलकन्दलासितं तत्क्षणाच्च तिमिरं न्यवर्तत ॥ १२ ॥

इस वाणी को सुनकर राजा बहुत विस्मित हो गया। और उसने अपने कमानदार धनुष की डोरी की ओर देखा। उसी समय भगवान् शंकर के गले के पास के कण्ठ के समान कृष्ण वर्ण अन्धकार भी दूर हो गया। भगवान् शंकर का कण्ठ विषपान के कारण काला है, यह लोकविश्रुत है ॥ १२ ॥

साऽचिरांशुतपनीयमेखला शक्रचापमणिकुण्डला ततः ।
क्वापि मुद्रितमयूरताण्डवा संहतिर्जलमुचां तिरोदधे ॥ १३ ॥

फिर सूर्य की किरणें जिसकी मेखला थी, इन्द्रधनुष जिसके कुण्डल थे, ऐसी मेघपंक्ति भी नष्ट हो गयी, इससे जगह-जगह नाचनेवाले मयूरों ने अपना नृत्य बन्द कर दिया ॥ १३ ॥

सा पुरातनपथेन पावनी सोमसूतिरपि निम्नगाऽवहत् ।
स्वादुनिर्मलरसोर्मिनिर्भरा भारतीव मसृणं महाकवेः ॥ १४ ॥

---

१. विस्तारो विग्रहो व्यासः—अमरकोश ।

उस समय नर्मदा में भी जलवृद्धि हो गई थी, पर फिर मेघमाला के विलीन होने पर वह भी अपने पूर्वरूप में बहने लगी। उसकी शोभा ऐसी थी, जैसे मधुर, निर्मल रसतरङ्गों से युक्त महाकवि की सुन्दर वाणी हो ॥ १४ ॥

अप्यपाङ्गतरय स नर्मदा वीचिलास्यरचनाकुतूहली ।
आययौ शबरराजयोषितां नर्तितालकलतस्समीरणः ॥ १५ ॥

नर्मदा की तरंगों में नृत्य उत्पन्न करने में चतुर वेगविहीन मन्द पवन बहने लगा। जिससे भिल्लराज की स्त्रियों के केश विलोल हो रहे थे ॥ १५ ॥

इत्यकालजलदादिवैकृते क्वेनचिद्विरचिते गते शमम्।
भूपते शशिमुखी सखीयुता नेत्रनिर्विषयतामवाप सा ॥ १६ ॥

इस प्रकार अकाल ही बादल रूपी ऐसे सङ्कट के शान्त होने पर जब राजा ने सामने देखा तो अपनी सखियों सहित वह शशिमुखी राजा के नेत्रों से दूर हो चुकी थी ॥ १६ ॥

यद्यपि नूनमपहृत्य तन्मनो नागराजदुहिता जगाम सा ।
उत्पलस्य सरस लसत्स्पृहा चक्रवाकवनितेव केसरम् ॥ १७ ॥

नागराजकन्या स्वयं तो चली ही गयी, साथ साथ राजा का मन भी हरती गयी। जिस तरह अत्यन्त उत्सुक चकवी (दिनान्त पर) कमल के सरस केसर (पराग) को लेकर विलुप्त हो जाती है ॥ १७ ॥

अमत कृतपयोधरश्रिया धौततप्ततपनीयकान्तया।
विद्युतेव सदृशा तयाऽऽकुलम् सोऽभवज्झटिति दृष्टनष्टया ॥ १८ ॥

फिर स्तनों से जिसकी शोभा बढ़ रही थी, और शुद्ध तपाये हुए सोने की कान्ति के समान पीली बिजली जैसी उस शशिप्रभा के अन्तर्धान होने पर राजा तत्काल अत्यधिक व्याकुल हो गया ॥ १८ ॥

विमर्श—विद्युत् पक्ष में 'पयोधरश्रिया' का अर्थ होगा—मेघों से जिसकी शोभा बढ़ रही थी, ऐसी।

सा पुरो मम हृतेति लज्जया चिन्तया किमिव सा चरेदिति।
सा पुनर्न सुलभेत्यसौ शुचा तप्यते स्म तिसृभि द्वितीश्वर ॥ १६ ॥

प्रथम—वह मेरे सामने ही हरी गयी, इसके कारण लज्जा से, द्वितीय—अब वह क्या करेगी अर्थात् कहाँ होगी, इस चिन्ता से, और तृतीय—वह अब मुझसे न मिल सकेगी—इन तीन प्रकार के शोकों से राजा तप रहा था। उसे व्याकुलता हो रही थी ॥ १६ ॥

१ स्वर्ण सुवर्णं कनक हिरण्य हेम हाटकम् ।
तपनीय शातकुम्भ गाङ्गेय भर्म कर्बुरम्—अमरकोश ।

तस्य तापजननेन मानसं तेन बालविरहेण विव्यथे।
केतकच्छदकदर्थने परं यत् कणोऽपि शिशिरः प्रगल्भते ॥ २० ॥

केवड़े के पत्तों को बिगाड़ने में जिस प्रकार थोड़ा सा भी हिम समर्थ हो जाता है, उसी भाँति उस तापदायक थोड़े भी विरह ने राजा के मन को व्यथित कर दिया ॥ २० ॥

जित्वरं जगति पुण्यकेतुना तद्विकृष्य तरसा शरासनम्।
ताड्यते स्म हृदये पतत्त्रिणा सोऽथ मालवकुरङ्गलाञ्छनः ॥ २१ ॥

उस समय कामदेव भी अपने जगत्‌विजयी धनुष को चढ़ाकर बाण से बलपूर्वक मालवराज नवसाहसांक के हृदय को वेधने लगा ॥ २१ ॥

लज्जया वलितकण्ठकन्दलं लोचनाञ्चलमिलद्वतंसकम्।
तस्य वर्तितमिवाभवत्तदा तन्प्रियावदनमुन्नसं हृदि ॥ २२ ॥

लज्जा से सिर झुकाने के कारण ग्रीवा तथा कण्ठ नीचे झुक गया था, अतएव आँखों के ऊपरी भाग तक जिसका शिरोभूषण लटक रहा था, ऐसा शशिप्रभा का मुख बार-बार राजा के मन पर अपनी स्मृति का गहरा प्रभाव डालने लगा। अर्थात् उसे उसके उस कमनीय मुख की बार-बार याद आने लगी ॥ २२ ॥

म्लानिमाप स तया विना नृपस् तत्र पन्नगपतेस्तनूजया।
स्वां रुचि नहि कदाचिदश्नुते शर्वरी विरहधूसरः शशी ॥ २३ ॥

उस नागराजकन्या के बिना राजा अत्यन्त म्लान अर्थात् तेजोविहीन हो गया। रात्रि के वियोग में फीका पड़ा हुआ चन्द्रमा अपनी शोभा से ही हीन हो जाता है। अर्थात् जिस भाँति रात्रि के वियोग में चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है, राजा भी शशिप्रभा के वियोग में म्लानवदन हो गया ॥ २३ ॥

पाण्डुपक्ष्मलदृशः परिच्युतं सोऽथ माल्यशकलं व्यलोकत।
तादृशि व्यतिकरे विनिर्गतं हासलेशमिव पुष्पधन्वनः ॥ २४ ॥

फिर राजा ने घनी पलकों वाली दृष्टि से युक्त उस शशिप्रभा के शरीर से गिरे हुए एक माला के टुकड़े को देखा, जो उस गड़बड़ी को देख मुख से निकली हुई काम की हँसी के समान मालूम पड़ रहा था ॥ २४ ॥

शंसदुज्ज्वलकपोल-सङ्गतं कुङ्कुमेन दलकोटिचुम्बिना।
सम्भ्रमेण गलितं नतभ्रुवः कर्णतामरसमाददेऽथ सः ॥ २५ ॥

उज्ज्वल कान्ति वाले कपोलों के साथ अपने संपर्क का सूचक तथा जिसके अग्रभाग पर कुंकुम लगा हुआ था, और जो जल्दबाजी के कारण कान से गिर गया था, ऐसे शशिप्रभा के कान के कमल को राजा ने हाथ से उठा लिया ॥ २५ ॥

कार्मुके सति शरेषु सत्स्वपि प्रेयसी तव हृतान्तिकादिति ।
तेन सौरभहृतालिनि स्वनैर् यान्यतेव नृपतेर्व्यधीयत ॥ २६ ॥

तुम्हारे पास धनुष और अनेक बाण होने पर भी तुम्हारी प्रेयसी तुम्हारे सामने ही हर ली गई ! इस प्रकार मकरन्द पान करने वाले भ्रमरों की ध्वनि ने मानो राजा की निन्दा सी की ॥ २६ ॥

कोष्णनि श्वसितवेपितच्छद वनिवेश्य वदने स सादरं ।
अर्धमीलितविलोचनोत्पल पुस्तवत्स्थित इवाभवत् क्षणम् ॥ २७ ॥

कुछ-कुछ गरम श्वासों से जिसके पत्ते कांप रहे थे, ऐसे उस कमल को राजा ने प्रेम से अपने मुख पर रखा । इससे उसकी आधी आँखें कमल से ढंक गयीं । वह इस प्रकार ध्यानावस्थित था कि क्षणभर के लिए ऐसा लगा कि वह मिट्टी का पुतला तो नहीं है ! ॥ २७ ॥

नर्मदोर्मिलुलिते तदंशुके पल्लवाङ्कितसहासहारिणि ।
आहृतस्तनविलेपने दृशा सोऽस्पृशत् प्रणयमिन्दुपाण्डुनि ॥ २८ ॥

नर्मदा की तरंगों के समान चञ्चल, किनारे पर बने हुए हंसों की शोभा से मन हरने वाले, और स्तनों पर लगे हुए कस्तूरिकादि लेप से युक्त, शशि प्रभा के वस्त्र की ओर राजा का ध्यान गया अर्थात् उसने उधर दृष्टि की ॥ २८ ॥

मा विषीद नरसाहसाङ्क ते कान्तया गतमनेन वर्त्मना ।
पश्य तत्पदमितीव रेवया तस्य सारसरवैरसूच्यत ॥ २९ ॥

उस समय रेवा के तटवर्ती सारसों ने टाटस बंधाते हुए राजा से मानो यह कहा कि—हे नरसाहसांक ! दुःख मत करो । तुम्हारी प्रिया इसी रास्ते से गई है । उसके पदचिह्न भी यहां बने हैं, इधर देखो ॥ २९ ॥

किं निमग्नमिह बालया तया भीतया भुजगराजकन्यया ।
नेनमत्र नियतं रसातलं नियते विवरमित्यतर्कयत् ॥ ३० ॥

पास ही एक विशाल बिल देखकर राजा ने अनुमान लगाया कि क्या वह भयभीत षोडशी नागराजकन्या इस बिल में चली गयी ! इसी रास्ते निश्चित हो पाताललोक चली गई होगी ॥ ३० ॥

सोऽतिमात्रगहनेऽपि रहसा पार्थिवः पतितुमैच्छदम्भसि ।
जीवितं तृणमिवावमानवे साहसव्यसनिनोऽपि तादृशाः ॥ ३१ ॥

---

१ पुस्तं लेप्यादिकर्मणि—अमरकोश । मिट्टी आदि के द्वारा पुतला तैयार करने के काम को पुस्त कहते हैं ।

तब राजा जोश में आकर अत्यन्त गहरे नदी के उस पानी में वेग से गिरने की इच्छा करने लगा। ठीक भी है, दृढ साहस वाले ऐसे व्यक्ति अपने प्राणों को तिनके की भांति नगण्य समझते हैं ॥ ३१ ॥

तत् समीहितमवन्तित्रासवस्तस्य नावददुपान्तवर्तिनः ।
एष विघ्नमिह साहसोत्सवे कल्पयिष्यति ममेति शङ्कितः ॥ ३२ ॥

अवन्तिनाथ ने अपनी इस इच्छा को अपने समीपवर्ती रमांगद से नहीं कहा। क्योंकि उसने सोचा कि यह मेरे इस साहसिक कार्य में बाधक हो जायगा ॥ ३२ ॥

उज्झति स्म स शनैः समुच्छ्वसन् पल्लवासनमुपास्यशासनः ।
अग्रहीच्च सशरं करेण तत् व्यक्तराजककुदेन कार्मुकम् ॥ ३३ ॥

प्रशंसनीयशासनवाला वह राजा गहरी श्वास लेता हुआ धीरे-धीरे अपने उस पल्लवासन को छोड़ने लगा। और जिसके कन्धे का पुष्ट भाग स्पष्ट हो रहा था, ऐसे हाथ से उसने धनुष-बाण को उठा लिया ॥ ३३ ॥

पन्नगेन्द्रदुहितुः करेण यः सख्यमापदरविन्दबन्धुना ।
अर्पितं प्रणयिना तमप्यसौ सायकं कनकपुङ्खमाददे ॥ ३४ ॥

नागराजपुत्री के कमल के समान कोमल हाथ की मित्रता जिसने प्राप्त कर ली थी (और फिर उस प्रेमी हाथ से जो अलग हो चुका था), ऐसे उस स्वर्णफलक वाले बाण को भी राजा ने उठा लिया ॥ ३४ ॥

सुभ्रुवः स्मरविलासदेशिकं तं शशंस सशरं पतत्रिषु ।
पीतशीतकरमूर्तितानवं भानुमानिव मयूखमंशुषु ॥ ३५ ॥

अपने सब बाणों में राजा ने शशिप्रभा के काम-भावों को व्यक्त करने वाले उस बाण की प्रशंसा उसी भांति की, जैसे सूर्य प्रातःकाल में फीके पड़े चन्द्रमा का आस्वाद लेनेवाली अपनी अनेक किरणों में से एक किरण की प्रशंसा करता है ॥ ३५ ॥

व्यक्ततच्चरणलक्ष्मणा ततः स्रस्तकेशकुसुमाकुलालिना ।
मेघसिक्तसिकतेन वर्त्मना नर्मदाजलसमीपमाप सः ॥ ३६ ॥

शशिप्रभा के बालों से गिरे हुए फूलों पर भौंरे जहाँ मँडरा रहे थे, और मेघ द्वारा बालू भिगो दी गयी थी, जिससे नायिका के पदचिह्न उसपर साफ दिखाई पड़ रहे थे, ऐसे मार्ग से होते हुए सिन्धुराज नर्मदा के जल के समीप पहुँचा ॥ ३६ ॥

एष जातु न विकत्थते क्वचिन् लक्ष्यतेऽस्य फलतः सदा क्रिया ।
तत् करिष्यति किमत्र साहसं चेतसीति विदधे रमाङ्गदः ॥ ३७ ॥

यह देखकर रमांगद ने अपने मन में सोचा कि यह राजा कभी किसी बात को पहले तो बताता नहीं। इसका विचार तभी व्यक्त होता है, जब वह

कार्यरूप में परिणत हो जाता है। पता नहीं, इस समय यह कौन-सा साहस का कार्य सोच रहा होगा ॥ ३७ ॥

नर्मदाप्रवेश.

अक्षिपत्तटशिलाविटङ्कत पार्थिव स्समय नर्मदाम्भसि।
वारिधे पयसि विश्वदीपक सायमद्रिशिखरादिवार्यमा ॥ ३८ ॥

राजा का नर्मदा में प्रवेश करना

पुन नर्मदा के तटवर्ती शिला के मुँडेरे पर से राजा ने नर्मदा के पानी में छलाग मार दी। वह ऐसे ही उसमें गिरा, जिस प्रकार चोटियों से उतर कर सायकाल में सूर्य समुद्र में कूद पड़ता है ॥ ३८ ॥

तत्र मीनमकराकुले पतन् आससाद स विलासमीश्वर ।
यामुनाम्भसि निपातिन पुरा गोपतामुपगतस्य शार्ङ्गिण ॥ ३६ ॥

उस मीन और मकरों से परिपूर्ण नदी के जल में कूदने पर राजा ने वही शोभा प्राप्त की, जो ग्वाले का रूप धारण करने वाले (कृष्ण रूप में) भगवान् विष्णु ने यमुना के जल में कूदने पर प्राप्त की थी ॥ ३६ ॥

अम्भसस्तदवपातताडिताम् उर्ध्वमेत्य निपतत्सु बिन्दुषु।
साहसेन परितोषितैस्सुरैर् मौक्तिकार्घ्यमिव तस्य चिक्षिपे ॥ ४० ॥

राजा के कूदने से उछले हुए जल से अनगिनत बूँदें ऊपर उठीं, ऐसा मालूम पडा मानो राजा के साहस से प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए देवताओं ने उसके ऊपर मोती बरसाये हों ॥ ४० ॥

किञ्चिदन्तरितमूर्मिभि क्षणाद् अन्वगान्छ्दय त रमाङ्गद ।
येन यात्यरुणसारथि पथा वासरस्तमनुगच्छते न किम् ॥ ४१ ॥

नर्मदा की तरगों से छिपे हुए उस राजा का अनुसरण रमागद ने तत्काल किया। यह उचित ही था, क्योंकि जिस मार्ग से सूर्य जाता है, क्या दिन उसका अनुसरण नहीं करता अर्थात् अवश्य ही करता है ॥ ४१ ॥

कस्तुलाममधिरोप्य जीवित स्वामिनि त्वमिव सेवतामिति ।
तस्य हसनिनदेन वल्गुना साधुवादमिव नर्मदा ददौ ॥ ४२ ॥

हे रमागद ! ऐसा कौन है, जो तुम्हारी तरह प्राणों की बाजी लगाकर अपने स्वामी की सेवा कर सकता है ! इस प्रकार नर्मदा ने हसों की मधुर वाणी से मानो रमागद की सराहना की ॥ ४२ ॥

बिलप्रवेश.

तौ मुहुर्जलचरैरदृश्यताम् अग्रतश्चकितमुक्तवर्त्मभि ।
ध्वान्तसन्ततिभिदे रसातलम् प्रस्थितौ रविनिशाकराविव ॥ ४३ ॥

बिल में जाना

जलचर उन्हें बार-बार देखते थे, उन्होंने चकित होकर उनके लिये मार्ग छोड़ दिया। उस मार्ग से पाताललोक में प्रविष्ट होते हुए वे दोनों ऐसे सुशोभित हुए, मानो सूर्य और चन्द्र अन्धकारपुंज का नाश करने पाताल-लोक चल पड़े हों ॥ ४३ ॥

आश्रयत्यवनिमेघवाहने[1] वारिगर्भमभितो गरीयसि।
प्राप मेकलसुतासमानताम्[2] अन्तराहितनिधानया भुवा ॥ ४४ ॥

धरती के इन्द्र अत्यन्त गुरु उस राजा नवसाहसांक के उस गहरे जल में प्रविष्ट होने पर, अपने अन्दर असंख्य रत्नों को छिपाने वाली नर्मदा धरती की समानता को धारण करने लगी।

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार धरती उस राजा से अपने को सनाथ मानती थी, अब नर्मदा भी उस राजेन्द्र का सम्पर्क पाकर अपने को सनाथ समझने लगी ॥ ४४ ॥

उज्झिता झटिति कार्यगौरवात् ईश्वरेण रुरुचे न मेदिनी।
सोद्यमेन पुनरप्यवैष्यता भानुनेव पदवी पयोमुचाम् ॥ ४५ ॥

उद्यमी सूर्य पुनः उदित होने के लिये (आवरण को दूर करने के लिये) जैसे मेघ-मंडल को त्याग देता है अर्थात् मेघों के बीच से बाहर निकल आता है, और तब वे बादल शोभारहित हो जाते हैं, उसी भाँति अपनी कार्य-सिद्धि के लिये धरती का त्याग करने वाले उस राजा के बिना धरती भी शोभा-हीन हो गई ॥ ४५ ॥

आपपात सरमाङ्गदः क्षणान सर्वतस्स तमसाविले बिले।
गूढमत्सरविषे विशेषवान् दुर्जनस्य मनसीव सद्गुणः ॥ ४६ ॥

मत्सर रूपी जहर जिसके अन्दर भरा पड़ा है, ऐसे दुर्जन के मन में जैसे कोई विशेष गुण प्रविष्ट हो जाता है, उसी भाँति रमांगद सहित वह राजा भी चारों ओर अन्धकार से परिपूर्ण उस बिल में प्रविष्ट हुआ ॥ ४६ ॥

यद्बभूव पुरतोस्य भूपतेर् एककुण्डलपटासितं तमः।
तस्य तद्दिनकरांशुभासुरैर्मौलिरत्नकिरणैरभज्यत ॥ ४७ ॥

राजा के सामने सारे घने अन्धकार का जो-जो भाग घिर कर एकत्र होने लगता, वह सूर्य-किरणों की प्रभा के समान चमकती हुई उस राजा के शिरो-भूषण में लगे रत्नों की कान्ति से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता ॥ ४७ ॥

सान्द्रहेमरजसा महौजसाम् अग्रणीरगरुधूपगन्धिना।
सोऽथ तेन बिलवर्त्मना शनैः क्रोशमात्रमगमन्नरेश्वरः ॥ ४८ ॥

---

१. तुराषाण् मेघवाहनः—अमरकोष। (इन्द्र)

२. रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका—अमरकोष।

दैदीप्यमान स्वर्ण की सी कान्तिवाले तथा तेजस्वियों में अग्रणी वह राजा अगर धूप की सुगन्ध से सने उस विलमार्ग से धीरे धीरे एक कोस तक आगे बढ़ा ॥ ४८ ॥

सिंहदर्शनम्

लग्नसान्द्रगजशोणितच्छटैः शौर्यपावकशिखाङ्कुरैरिव ।
केसरैरतिकरालकन्धरो मार्गमस्य रुरुधेऽथ केसरी ॥ ४९ ॥

सिंहदर्शन

गजों के गाढ़ रक्त से सनी शोभावाली, पराक्रम रूपी अग्नि की ज्वालाओं के समान दैदीप्यमान सटा (केसर, गर्दन के बालों) वाले, भयानक कन्धे वाले एक शेर ने आगे आकर राजा के मार्ग को रोक लिया ॥ ४९ ॥

मुक्तघर्घररवस्स रंहसा स निशामधिपमभ्यधावत ।
व्यात्तदीर्घदशनास्यकन्दरः पूर्णमिन्दुमिव सिंहिकासुतः ॥ ५० ॥

गम्भीर गर्जना करके वह सिंह तेजी से राजा की ओर झपटा। उसने अपना बड़े-बड़े दाँतों वाला, गुहा की तरह भयानक जबड़ा खोल रखा था, वह ऐसा मालूम पड़ रहा था, जैसे पूर्णचन्द्र को ग्रसने के लिए दौड़ने वाला साक्षात् राहु हो ॥ ५० ॥

अर्धचन्द्रमथ तज्जिघांसया सन्दधे धनुषि यावदीश्वरः ।
सात्रदस्फुटितकोरकं पुरो बालकुन्दविटपं तमैक्षत ॥ ५१ ॥

उस सिंह को मारने की इच्छा से जब राजा ने अपने अर्धमचन्द्राकार बाण को धनुष पर चढ़ाया, तो राजा ने सामने सिंह को न देखकर नयी-नयी अविकसित कलिकाओं वाले एक छोटे से कुन्द के वृक्ष को देखा ॥ ५१ ॥

निम्नतो निकटदंष्ट्रमाननम् कालमेघशकलामितत्विषः ।
आयतोऽभिमुखमीर्ष्यया जवात् तेन वर्त्म मुमुचे न पोत्रिणः ॥ ५२ ॥

आगे चलने पर भयानक दाढ़ वाले मुख से युक्त, प्रलयकालीन मेघखण्ड

गजदर्शनम्

किञ्चिदस्य पुरतोऽथ गच्छतः कर्णतालविधुतालिपङ्क्तिना ।
रुद्ध्यते स्म समदेन पद्धतिः दीर्घदन्तमुसलेन दन्तिना ॥ ५३ ॥

के समान काली आकृति वाले, ईर्ष्या से तेजी के साथ सामने से आने वाले सूअर के रास्ते को राजा ने नहीं छोड़ा अर्थात् साहसपूर्वक वहीं डटा रहा।

---

१ वराह सूकरो घृष्टि कोल पोत्री किरि किटि —अमरकोश ।

हाथी का दर्शन

तब कुछ और आगे बढ़ने पर ताडपत्र के समान अपने कानों को हिला कर भ्रमर-समूह को उड़ाने वाले दीर्घ मूसल के समान दाँतों वाले मदोन्मत्त हाथी ने आकर राजा के मार्ग को रोक लिया ॥ ५३ ॥

मन्द्रकण्ठनिनदोऽतिवेगवान् ऊर्ध्ववालधिरुदग्रलोचनः ।
कुण्डलीकृतकरस्तमभ्यगात् स क्रुधा निभृतकर्णपल्लवः ॥ ५४ ॥

अपने कण्ठ से गम्भीर चिंघाड़ मारकर पूँछ को ऊपर उठाकर, आँखों को भयानक बनाकर, सूँड़ को कुण्डलाकार बनाकर, कानों को निश्चल करके, क्रोध से भरा हुआ वह हाथी तेजी से राजा की ओर बढ़ा ॥ ५४ ॥

यावदङ्कुरितमत्सरोऽभवत् तस्य सम्मुखमधिज्यकार्मुकः ।
तावदैक्षत न स क्वचिद् द्विपं राजगन्धमद(वह) गन्धकेसरी ॥ ५५ ॥

जब राजा को मत्सर अर्थात् क्रोध हो आया, तब अपने धनुष को तानकर उसके सम्मुख हुआ, इतने में उसने देखा कि वह हाथी वहाँ नहीं था। वहाँ पर मदोन्मत्त गजराजों को मारने वाला सिंह ही उसके सामने था ॥ ५५ ॥

उत्पतन्निपतदग्रतो मुहुर्मुक्तदट्टहसितं सहार्चिषा ।
केवलं कपिलकुन्तलं शिरः पश्यतोऽस्य न चमत्कृतं मनः ॥ ५६ ॥

ऊपर उछलते हुए, नीचे गिरते हुए, दाँतों की चमक के साथ अट्टहास करते हुए उसके भूरे बालों वाले सिर को देखकर राजा का मन आश्चर्य-चकित नही हुआ अर्थात् राजा डरा नहीं ॥ ५६ ॥

एवमादि यदभून्महीपतेरद्भुतं पथि विभीषिकावहम् ।
तद्बिभेद निजसत्त्वसम्पदा तिग्मदीधितिरिव त्विषा तमः ॥ ५७ ॥

मार्ग में राजा के सामने जब ऐसे भयानक दृश्य उपस्थित हुए, तो राजा ने अपना बल-सम्पत्ति से उन्हें उसी भाँति समाप्त कर दिया, जैसे सूर्य अपने तेज से अन्धकार को नष्ट कर देता है ॥ ५७ ॥

सरिदुत्तरणम्

तां ददर्श सरितं सुदुस्तराम् अग्रतोऽथ विलकल्पविन्नृपः ।
स्पर्शतः किल यदम्भसां झटित्यश्मभावमुपयान्त्यसूरयः ॥ ५८ ॥

नदी को पार करना

बिल की कल्पना करने वाले राजा ने उस नदी को अत्यन्त विस्तीर्ण तथा दुस्तर पाया। जिसके जल का स्पर्श करते ही साधारण लोग पत्थर की भाँति अचल से हो जाते थे

विमर्श—अर्थात् उसके पानी के पार जाने में किसी की बुद्धि काम नहीं करती थी। बड़े-बड़े तैराकों की हिम्मत वहाँ टूट जाती थी ॥ ५८ ॥

मारुतैरपरपारनुन्नया प्रांशुवंशलतया स सानुगः ।
तामलङ्घयदथोपगूढया जन्मभीतिमिव योगविद्यया ॥ ५९ ॥

वायु के द्वारा इस पार से उस पार तक झुकायी गयी लम्बी बाँस की छड़ी के सहारे राजा ने अपने अनुचर रमागद के साथ उस नदीमार्ग को ऐसी शीघ्रता से पार कर दिया, मानो योगविद्या के बल से उसने अपनी जन्मजात जन्म मरण की भीति को ही पार कर लिया हो ॥ ५९ ॥

नगरदर्शनम्

प्रस्थितस्तदनु सोद्यमं पुरः सोऽथ साहसवतां पुरस्सरः ।
निर्मितं मणिमयूखपल्लवैर्नगरमातपमिव व्यलोकत ॥ ६० ॥

नगरदर्शन

इतना उद्यम करके वह साहसी वीरों में अग्रगण्य राजा जब उस नागलोक में पहुँचा तो उसने उस नगर को मणिकिरणरूपी पत्तों से निर्मित बालसूर्य के समान देखा ॥ ६० ॥

इन्द्रनीलकपिशीर्षकं ततः सोऽमितं स्फटिकसालमैक्षत ।
सावशेषजलनीलकोटिभिः शारदैर्घटितमम्बुदैरिव ॥ ६१ ॥

तब उसने इन्द्रनील मणियों से जड़े हुए स्फटिक शिला से निर्मित प्राकारों को देखा, जिन्हें देखकर यह आभास हुआ, मानो कुछ बचे हुए जल की नीली पंक्तियों से भरे हुए शरदकालीन मेघ से ही बने हों ॥ ६१ ॥

उत्पताकमणितोरणाङ्कितं मण्डितं कनकपल्लवस्रजा ।
स्निग्ध काञ्चनकपाटसम्पुटं तत्र गोपुरमपश्यदीश्वरः ॥ ६२ ॥

जो पताकाओं की तरह फहराने वाले मणियों के तोरण से सुशोभित था, जिस पर स्वर्णपत्रों के वन्दनवार सजाये हुए थे, जिसके किवाड़ भी सोने ही के बने थे, ऐसे उस नगर के सिंहद्वार को राजा ने देखा ॥ ६२ ॥

विस्मयेन विषयीकृतः पुरं तेन सोऽविशदयन्त्रितासवः ।
निर्वृतेः पदमिवोज्झितावनिः सूर्यमण्डलपथेन योगवान् ॥ ६३ ॥

विस्मय के वशीभूत वह राजा (रमागद के साथ) उस पुर में प्रविष्ट हुआ, जैसे कोई योगी अपनी योग सिद्धियों से धरती को छोड़कर सूर्यमार्ग से परमपद तक चला जाता है ॥ ६३ ॥

तत्र वैद्रुमगवाक्षमूर्च्छितं हेमहर्म्यमवलोकते स्म सः ।
मेरुशृङ्गमिव धातुताम्रया सन्ध्यया कृतपदं क्वचित् क्वचित् ॥ ६४ ॥

राजा ने उस नगर में जहाँ तहाँ गेरुकादि धातुओं से ताम्र वर्ण की (लाल) सन्ध्या से युक्त, सुमेरु पर्वत की चोटियों की भाँति ऊँचे तथा मूँगों से खचित खिड़कियों वाले विशाल महल को देखा ॥ ६४ ॥

अग्रतः स च यशोभटोऽविशन् सोऽथ कौतुकहृतस्तदङ्गणम् ।
इन्द्रनीलमणिकान्तिमेचकं व्योम सारुण इवोष्णदीधितिः ॥ ६५ ॥

तब इन्द्रनील मणियों की कान्ति से चित्रित उस मकान के आँगन में यशोभट (रमांगद) के साथ वह राजा अत्यन्त कौतूहल के साथ उसी प्रकार प्रविष्ट हुआ, जैसे नीले आकाश में अरुण के साथ सूर्य आता है ॥ ६५ ॥

पद्मरागरचितालवालका वेदि[१]कामणिविटङ्कविस्तृता ।
तेन तत्र ददृशे कुतूहलाद् अन्तिके कनकमाधवीलता ॥ ६६ ॥

पद्मराग मणियों से जिसके चारों ओर क्यारियाँ बनायी गयी थीं, तथा चौतरे की मणियाँ जिसकी कपोतपालों तक फैली हुई थीं, ऐसी समीपवर्तिनी स्वर्ण की बनी माधवी लता को राजा ने बड़ी उत्सुकता से देखा ॥ ६६ ॥

स्त्रीदर्शनम्

तत्तले स्थितिमुपेयुषा श्रमान तेन काचिदबला व्यलोकत ।
निर्गता झटिति हेमवेश्मतः श्रीः सुवर्णकमलोदरादिव ॥ ६७ ॥

एक स्त्री के दर्शन

थके होने के कारण वह उस माधवीलता के नीचे बनी हुई उस वेदी पर बैठ गया । तब उसने एक स्वर्ण-भवन से निकली हुई एक स्त्री को ऐसे देखा, मानो स्वर्णकमल से लक्ष्मी निकल रही हो ॥ ६७ ॥

अंशुकेन शरदिन्दुबन्धुना त्यागितेव यशसाऽवभासिता ।
कान्तिमत्यधरनीलवाससा यामुनेन पयसेव जाह्नवी ॥ ६८ ॥

उसका अधोवसन नीलवर्ण का था तथा उत्तरीय आँचल शरद्कालीन चन्द्रमा की भाँति श्वेत था । किसी द्वारा त्यक्त शुभ्र यश से भी वह सुशोभित थी । वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे यमुना के जल के मिश्रण से नील आकृति वाली जाह्नवी हो ॥ ६८ ॥

बन्धुजीवकमुदच्छवीमुखं बिभ्रतीव कुरु[२]विन्दकुण्डले ।
शर्वरीव सितपक्षपर्वणः शीतदीधितिपतङ्गमण्डले ॥ ६९ ॥

गुलदोपहरी के समान रक्तवर्ण वाले मुखवाली, मेघ पुष्प के कुण्डलों को धारण की हुई उसकी शोभा ऐसी थी, जैसे शुक्लपक्ष की रात्रि चन्द्रमण्डल तथा सूर्यमण्डल दोनों को धारण किये हुए हो ॥ ६९ ॥

शोभिता किमपि हारलेखया भिन्नखेलमतिलोलयोरसि ।
तत्क्षणस्फुटितकुन्दशुद्धया गन्धवाहपदवीव गङ्गया ॥ ७० ॥

---

१. स्यात् वितर्दिस्तु वेदिका—अमरकोश ।—चबूतरा
२. कुरविन्दो मेघनामा मुस्ता मुस्तकमस्त्रियाम्'—अमरकोश । मोथा ।

जो इधर उधर हिलकर मानो क्रीडा कर रहा था, ऐसे उस हार की कान्ति से वह अत्यन्त सुशोभित हुई, जैसे अभी-अभी विकसित कुन्द के फूलों के समान श्वेत, गंगा की तरंगों से शीतल पवन की पंक्ति शोभित होती है ॥७०॥

आननेन ललिताक्षिपक्ष्मणा निर्यदुज्ज्वलकपोलकान्तिना ।
कुर्वताम फणिलोकमण्डितं यामिनीतिलकबिन्दुनेन्दुना ॥ ७१ ॥

सुन्दर पलकों वाली आंखों से उसका मुख शोभित था, गालों से श्वेत कान्ति निकल रही थी। वह उसका मुख रात्रि का तिलक बिन्दुभूत चन्द्रमा की तरह मालूम पड रहा था। ऐसे अपने उस चन्द्रमुख से वह पाताललोक को मानो अलङ्कृत कर रही थी ॥ ७१ ॥

पुष्पदाम दधती सषट्पदं दक्षिणेन शशिपाण्डुपाणिना ।
साक्षतं सदधिदूर्वयाञ्चितं हेमपात्रमितरेण बिभ्रती ॥ ७२ ॥

चन्द्रमा की तरह स्वच्छ दायें हाथ से भ्रमरों से युक्त पुष्पमाला धारण करने वाली, और बायें हाथ से दही से सनी दूब से युक्त स्वर्णपात्र को धारण करने वाली उस स्त्री को राजा ने देखा ॥ ७२ ॥

तन्निरीक्षणसविस्मयं तत पार्थिवं जनितकौतुकं शुकः ।
इत्युवाच मणिपञ्जरे स्थितो बालचूतविटपावलम्बिनी ॥ ७३ ॥

जब राजा उसे देखकर आश्चर्य में पड गया, तब एक छोटे से आम के पेड की शाखा पर टँगे हुए मणिमय पिंजडे में स्थित एक तोते ने उसके कुतूहल को और भी बढाते हुए राजा से कहा ॥ ७३ ॥

शुकवाक्यम्

सत्क्रियां रचयितुं तवातिथेर्नर्मदा भगवतीयमुद्यता ।
श्लाघनीयचरितो जगत्त्रये कस्य नासि बहुमानभाजनम् ॥ ७४ ॥

तोते का कथन

हे राजन् ! तुम जैसे अतिथि का सत्कार करने के लिये यह साक्षात् भगवती नर्मदा ही उद्यत हैं। तीनों लोकों में प्रशंसनीय चरित्रवाले आप भला किसके सम्मान के पात्र नहीं हैं ? अर्थात् आप सभीके आदरपात्र हैं ॥ ७४ ॥

देव पन्नगवधूभिरुज्ज्वलं वल्लकीकलरवं प्रियैः सह ।
मल्लिकाधवलमत्र गीयते केलिरत्नभवनेषु ते यशः ॥ ७५ ॥

हे देव ! नागस्त्रियाँ अपने प्रियवरों के साथ मल्लिकापुष्प के समान श्वेत तुम्हारे यश को इन रत्ननिर्मित क्रीडागृहों में वीणा बजा बजाकर गाया करती हैं ॥ ७५ ॥

दुर्मना नृप पथाऽमुना गता सा विलासवसतिः शशिप्रभा ।
तत्सखीजनकथान्वयश्रुतेयुष्मदागमनमूहितं मया ॥ ७६ ॥

हे नृप ! वह विलासिनी शशिप्रभा अभी-अभी दुखी मन से इसी रास्ते से गई है। उसकी सखियों द्वारा तुम्हारी कथा सुनकर ही मैंने तुम्हारे यहाँ आने का अनुमान किया है।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारे विषय में मैंने यह जान लिया कि तुम वही हो, जिसकी चर्चा शशिप्रभा की सखियाँ कर रही थीं ॥ ७६ ॥

दुर्लभोऽयमतिथिर्ममापि तन् गृह्यतामुचितया सपर्यया ।
पार्थिवो हि नवसाहसाङ्क इत्येप सीयकनरेन्द्रनन्दनः ॥ ७७ ॥

सीयकनृपति के पुत्र राजा नवसाहसाङ्क जैसा अतिथि मिलना तो मेरे लिये भी दुर्लभ है। अतः मेरी यह अतिथि-सेवा भी ग्रहण कीजिए ॥ ७७ ॥

पेशलोक्तिनिपुणस्य पक्षिणस्तस्य गामिति निशम्य सस्मितः ।
तामथ प्रणमति स्म निम्नगाम् इन्दुसूतिमवनीन्दुरादृतः ॥ ७८ ॥

मृदुभापण करने में चतुर उस तोते की ऐसी वाणी सुनकर चकित हँसते हुए राजा ने आदरपूर्वक (शरीरधारिणी) उस नर्मदा नदी का प्रणाम किया ॥ ७८ ॥

कुलकम्

नर्मदाकृतः सत्कारः

कारितासनपरिग्रहं पुरो भूपतावपचितिं विधाय सा ।
आस्त मौक्तिकशिलातले ततश्चेतसीव सुकवेः सरस्वती ॥ ७९ ॥

कुलक

नर्मदा द्वारा राजा का सत्कार

प्रथम राजा को आसन पर विठाकर, उसकी अर्चना (आरती) इत्यादि कर, वह नर्मदा मुक्तानिर्मित शिलातल पर उसी तरह बैठी, जैसे सुकवि के चित्त में सरस्वती बैठ जाती है ॥ ७९ ॥

स्थित्वाथ किञ्चित्तमवन्तिनाथम् अपच्छदच्छन्नकुतूहला सा ।
निवेद्यतां मानवदेव कस्मात् अलंकृता भूमिरियं त्वयेति ॥ ८० ॥

बैठने पर कुछ काल ठहरने के बाद जिसका कुतूहल अभी शान्त नहीं हुआ था, ऐसी नर्मदा ने अवन्तिनाथ (नवसाहसाङ्क) से पूछा कि महाराज ! निवेदन कीजिये, आपने किस प्रयोजन से इस भूमि को अलंकृत किया अर्थात् आपके यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ? ॥ ८० ॥

तस्यै शशास निजमामृगयाविहारात्
वृत्तान्तमन्तविरसं स विशुद्धवृत्तिः ।
कान्तास्मृतिप्रभवकण्टकिताङ्गभावः
लज्जावनम्रवदनो नवसाहसाङ्कः ॥ ८१ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये नागलोकावतारो
नामाष्टम सर्गः ॥ ८१ ॥

उस शुद्ध हृदय वाले राजा ने अपने शिकार खेलने के वृत्तान्त से लेकर शशिप्रभा के लोप होने तक का सारा दुःखान्त वृत्तान्त कह सुनाया। अपनी प्रिया की स्मृति आने से उसके शरीर के प्रत्येक भाग में रोमाञ्च हो रहा था। अतएव लज्जा के कारण उसने सिर नीचा कर लिया था ॥ ८१ ॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित
नवसाहसाङ्कचरित का आठवाँ
सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

अथ नवमः सर्गः

नर्मदावाक्यम्

अथ स्वरेणांगणदीर्घिकाणां संवाहयन्ती कलहंसनादम् ।
तमित्यवन्तीश्वरमाबभासे सा मेकलक्ष्माधरराजकन्या ॥ १ ॥

नर्मदा के वचन

अपने आँगन की बावड़ियों में रहने वाले हंसों की कलकण्ठ ध्वनि के समान मधुर ध्वनि से मेकल पर्वत की पुत्री उस नर्मदा ने स्वेच्छापूर्वक उस अवन्तीश्वर सिन्धुराज से कहा ॥ १ ॥

नास्य क्षितीशोपकृतं जनस्य कियत् तया पन्नगराजपुत्र्या ।
यस्याः कृते सम्प्रति भूपितेयं भूमिस्त्वया भूशशलाञ्छनेन ॥ २ ॥

हे राजन् ! जिसके लिए धरती के चन्द्रमास्वरूप तुमने इस भूमि (नागलोक) को अलंकृत किया है, उस नागराजकन्या ने क्या हमारे जैसे जन पर बहुत बड़ा उपकार नहीं किया है ? अवश्य किया है ॥ २ ॥

इदं नृप त्वामवलोक्य जातं मनः प्रमोदेन समास्वतन्त्रम् ।
नो कस्य लोकत्रयसम्मतानां भवेन् सतां सङ्गतमुत्सवाय ॥ ३ ॥

हे नृप ! तुम्हें देखकर मेरा यह मन प्रसन्नता से परवश हो गया है । तीनों लोकों में माननीय आप जैसे सज्जनों का समागम (संगति) भला किसे आनन्दित न करेगा ? ॥ ३ ॥

अद्यापि कस्यापि मया शुभस्य त्वद्दर्शनेनानुमितो विपाकः ।
आतिथ्यमक्ष्णोः कथमन्यथैवम् आयान्ति रत्नानि भवद्विधानि ॥ ४ ॥

ऐसा लगता है कि आज मैंने अपने किसी पुण्यकर्म का यह फल पाया है कि आप जैसे व्यक्ति का दर्शन मुझे मिला । अन्यथा आप जैसे रत्न नेत्रों के आतिथ्य को कैसे प्राप्त हो सकते थे ॥ ४ ॥

स वत्स, जाते जनकः कृतात्मा सा पुण्यमूर्तिर्जननी जगत्सु ।
महीकलापोद्वहनादिपात्रो पुत्रो ययोस्त्वं नरलोकपालः ॥ ५ ॥

हे प्रिय राजा ! वह तुम्हारा पिता बड़ा पुण्यात्मा होगा और तुम्हारी वह माता भी तीनों लोकों में पुण्य की मूर्ति होगी, समस्त पृथ्वी के भार को धारण करने की योग्यता वाले तुम जैसा राजा जिनका पुत्र है ॥ ५ ॥

रूपेण तेजस्वितया जवेन प्रियंवदत्वेन तवामुना च ।
दिलीप-दुष्यन्त-भगीरथादीन् तानादिराजान् झटिति स्मरामि ॥ ६ ॥

तुम्हारे इस सौन्दर्य, तेजस्विता, नम्रता और प्रिय सम्भाषण से मुझे एकाएक दिलीप, दुष्यन्त और भगीरथ आदि प्राचीन राजाओं की याद आ जाती है ॥ ६ ॥

ममानभावैस्त्रिभिरेव मन्ये समुद्रनेमिर्गुभुधा धृतेयम् ।
भुजङ्गमेन्द्रेण च मेरुणा च दोष्णा ■ मौर्वीकिणशोभिना ते ॥ ७ ॥

मैं समझती हूँ कि तुम तीनों ने समान भाव से समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का भार अपने ऊपर उठा रखा है—सर्पराज शेषनाग, मेरु पर्वत, और धनुष की प्रत्यञ्चा से जिसमें घट्टे पड़ गये हैं, ऐसी तुम्हारी भुजा ने ॥ ७ ॥

त्वयि स्थिते सम्प्रति जागरूके जगद्विवेष्वप्यपधृतचित्त ।
करोति नेत्रे भगवानयैमि म योगनिद्रामुकुले मुकुन्द ॥ ८ ॥

ऐसा लगता है कि तुम्हारे सजग होने के कारण ही जगत की वस्तुओं के विषय में निश्चिन्त होकर भगवान् विष्णु भी मानो अब योगनिद्रा में आँख बन्द किये हुए हैं ॥ ८ ॥

न किञ्चिदिक्ष्वाकुकुलावतीर्णात् रथाङ्गपाणे परिहीयते ते ।
अजायताम्भोजदृशा नियोगो यथा तस्य तथा तवापि ॥ ६ ॥

इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न होने वाले विष्णु (राम) से तुम किसी भी बात में कम नहीं हो । अर्थात् इस समय तुम्हारी स्थिति ठीक उन्हीं की तरह है । जैसे उनको वन में कमलनयनी सीता का वियोग सहना पड़ा, वैसे ही तुमको भी शशिप्रभा का वियोग हो गया है ॥ ६ ॥

अकृत्रिमोऽयं गुणवत्सु जाने जात्यैव ते पार्थिव पक्षपात ।
यत् प्रौढलावण्यसुधास्रवन्त्या तया विना चेतसि ताम्यसीव ॥ १० ॥

विदित होता है कि गुणशालिनी वस्तुओं से तुम्हारा स्वाभाविक प्रेम है । इसीलिए तो अत्यधिक सौन्दर्यामृत का स्राव करने वाली उस शशिप्रभा के वियोग में तुम इतने दुःखी हो रहे हो ॥ १० ॥

अलं विषादेन घनादिरूढा ललामभूता जगतोऽखिलस्य ।
तवाङ्कमभ्येष्यति साचिरेण शशिप्रभा पार्थिवकैरवस्य ॥ ११ ॥

हे नृपति ! दुःखी न होओ, सारे विश्व में श्रेष्ठ सुन्दरी, मेघमण्डल में प्रसिद्ध शशिप्रभा के समान यह शशिप्रभा भी उसी भाँति तुम्हारे पास आयेगी, जैसे चन्द्रकान्ति श्वेतकमल के पास जाती है ॥ ११ ॥

इतोऽद्य यान्ती पुरतो मया सा दृष्टा भुजङ्गाधिपतेस्तनूजा ।
उदग्रभोगैरहिभि परीता लतेव दृष्टी हरिचन्दनस्य ॥ १२ ॥

हरिचन्दन की लता की भाँति भयानक फणा फैलाये हुए सर्पों से घिरी हुई उस नागराजपुत्री शशिप्रभा को मैंने आज इधर से ही जाते हुए देखा है ॥ १२ ॥

---

१ सिते कुमुदकैरवे—अमरकोश ।

उद्दण्डहेमाम्बुरुहासु खेलन् एतासु लीलागृहदीर्घिकासु।
समुत्कयन्ती कलहंसयूथम् आमञ्जुना नूपुरसिञ्जितेन ॥ १३ ॥

महाराज ! वह शशिप्रभा लम्बे मृणाल वाले स्वर्णकमल जिसमें शोभित थे, ऐसी क्रीडागृह की इन बावड़ियों मे किलोल करने वाले हंस-समूह को अपने पैंजन की अत्यन्त मंजुल आवाज से समुत्सुक करती हुई इधर ही से गयी है ॥ १३ ॥

व्यापारयन्ती वलितानेनेन्दुः पश्चाद् दृशौ केतकपत्रदीर्घे।
इतस्ततः शून्यतयास्खलन्ती समेपि मार्गे ददती पदानि ॥ १४ ॥

कभी कभी अपना मुखचन्द्र मोड़ कर जब वह केवड़े के पत्रों के समान अपनी तीखी नजर से पीछे घूमकर देखती थी, तब उस समय शून्य हृदय होने से वह सममार्ग पर भी ठोकर खाती हुई चल रही थी ॥ १४ ॥

विस्रस्तमाल्यां श्लथबन्धनत्वात् अंसावकीर्णां कबरीं वहन्ती।
कलिन्दकन्यामसृणोर्मिनीलां निस्त्रिंशलेखामिव मन्मथस्य ॥ १५॥

वेणी में जो माला गुँथी थी, वह ढीली हो जाने से वेणी छूट गयी और कंधों पर लटकने लगी। कंधों पर लटकती हुई उस वेणी से वह ऐसी सुशोभित हुई, मानो यमुना की स्निग्ध-श्यामल लहर के समान नील वर्ण की काम की खड्गलेखा को कन्धे पर लिए चल रही हो ॥ १५ ॥

मुखं निशाघ्रातमिवारविन्दं विषादवीतप्रभमुद्वहन्ती।
विलुम्पती निःश्वसितेन कान्तिम् आपाटलस्याधरपल्लवस्य ॥१६॥

दुःख के कारण जिसपर की कान्ति नष्ट हो गयी थी, ऐसे और सन्ध्याकालीन मुरझाये हुए कमल के समान मुखवाली वह दीर्घ उष्ण श्वास ले रही थी, जिससे उसके लाल अधरोष्ठ की कान्ति भी नष्ट हो रही थी ॥ १६ ॥

उन्मोचयन्तीमलकाग्रमेत्य लग्नं चलत्कुण्डलरत्नकोटौ।
किमप्युदञ्चद्दशनांशुलेखा सखीं शनैस्सस्मितमालपन्ती ॥ १७ ॥

और कभी-कभी उसके चंचल रत्नकुण्डलों में उलझते हुए उसके बालों को जब उसकी सखी सुलझाया करती है, तब अपनी दन्तकान्ति को बिखेरती हुई वह उससे मन्दमुस्कान के साथ धीरे-धीरे कुछ कहती रहती ॥ १७ ॥

सुधासितं क्षौममिवास्तृतं तं नखांशुरेखावलयच्छलेन।
कृतं दधानोपरि पाणिपद्मम् उदग्रकम्पस्य कुचद्वयस्य ॥ १८ ॥

अत्यन्त कम्पित अपने दोनों कुचों पर जब वह अपने कर-कमल को रखती थी, तब ऐसा मालूम पड़ता था जैसे उसके नखों की किरणों की गोलाई के बहाने कुच पर सुधा की तरह श्वेत दुकूल डाल दिया हो।

विमर्श—अपने कुचों पर उसने अपना हाथ जो रखा, उसमें से जो किरणें गोलाई में निकल रही थीं, वह ऐसी मालूम पड रहीं थीं, जैसे स्तनों को ढँकने के लिए अत्यन्त सफेद वस्त्र ही डाल दिया हो ॥ १८ ॥

गतानि सद्य श्लथता सखीभिर्विहस्य साकूतविलोकितानि ।
क्रमेण किञ्चित् प्रतिसारयन्ती विलज्जमाना मणिकङ्कणानि ॥ १९ ॥

कभी कभी जब उसकी सखियाँ उसकी दुर्बल कलाइयों पर ढीले पडे मणि कंकण को देखकर मन ही मन हँस उठतीं, तब लज्जित होती हुई सी वह किसी प्रकार उन कंकणों को सँभालती हुई दिखाई देती ॥ १९ ॥

अशोकपुष्पग्रथितां दधाना प्रालम्बमालामवलग्नमध्या ।
आरोपितज्येव जगज्जयाय स्वचापलेखा मकरध्वजेन ॥ २० ॥

वह कृशोदरी अशोक पुष्पों से गुँथी हुई उदरभागतक लटकने वाली लम्बी माला को पहनकर जब चलती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जगत् विजय के लिए काम ने अपने धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ा ली हो ॥ २० ॥

आर्द्रव्रणाङ्कस्य कृपार्द्रचित्ता केलीमृगस्य स्वयमेव तस्याः ।
आचुम्बती पाण्डुकपोललेखां च्युतसदूर्वाङ्कुरमर्पयन्ती ॥ २१ ॥

दयावती वह नवीन व्रन (घाव) युक्त क्रीडामृग के पीले गालों को चूमती हुई और अपने कर्णाभरण से दूब को निकाल कर उसे खिलाया करती है ॥ २१ ॥

मार्गेषु रुद्धासु निरुद्धभावात् द्विरेफसम्पातसमाकुलाऽपि ।
लतासु पुष्पावचयच्छलेन पदे पदे वत्स विलम्बमाना ॥ २२ ॥

भ्रमर समूह से यद्यपि उसे दुख उठाना पड़ रहा था, किन्तु मार्ग में पड़ने वाली लताओं के प्रति स्नेहवश वह फूल तोड़ने के बहाने उनके पास कुछ देर तक ठहर जाया करती है ॥ २२ ॥

त्वदायविरतपमवाप्य बाला सा लक्ष्यते किञ्चिदनिर्वृतेव ।
भवादृशामेकपदे वियोगो न कस्य राजेन्द्र मनो दुनोति ॥ २३ ॥

तुम्हारे वियोग को पाकर यह बेचारी कुछ अशान्त मनवाली सी जान पड़ती थी। आप जैसों का एकाएक होने वाला वियोग भला किसके मन को दुखी न बना देगा ॥ २३ ॥

पृथुप्रतापस्सवितेव यथैव यथा कलाभिः निधिरोषधीशः ।
यथा वसन्त सुमनोनुकूलस्तथाऽसि भूमिः स्पृहणीयताया ॥ २४ ॥

प्रचण्ड प्रतापी सूर्य, सम्पूर्ण कलाओं का आकर चन्द्रमा और पुष्पों के लिए अनुकूल वसन्त को जैसे सभी चाहते हैं, वैसे ही आप को भी सभी चाहते हैं ॥ २४ ॥

नायकवाक्यम्

इति क्षितीशश्रुतिशुक्तिपेयाम् उदीर्य वाचं विरराम रेवा ।
स च स्मितद्योतितदन्तमेत्रम् उवाच तां मध्यमलोकपालः ॥ २५ ॥

नायक के वचन

इस प्रकार राजा के सींप के समान कानों से पी जाने वाली वाणी कह कर रेवा मौन हो गई। तब मधुर हँसी से अपने दाँतों को चमकाते हुए भूपति ने उससे कहा ॥ २५ ॥

स्थाने यदाह्लादयसि प्रपन्नं पीयूषधारामधुरैर्वचोभिः ।
सुधैकसूतिस्स यदाकरस्ते चण्डीशचूडाभरणं शशाङ्कः ॥ २६ ॥

तुम जो इस प्रकार के अमृत की धारा के समान मधुर वचनों से मुझ दुखी को प्रसन्नतापूर्वक आनन्दित कर रही हो, यह तुम्हारे योग्य ही है, क्योंकि शिव के शिर का भूषणभूत तथा अमृत को उत्पन्न करने वाला चन्द्रमा ही तो तुम्हारा जनक है ॥ २६ ॥

ऋजुः प्रकृत्यासि परं तदस्य वीचीषु पर्याप्तमनार्जवं ते ।
न केवलं सा पयसि प्रसक्तिरालक्ष्यते ते बत मानसेऽपि ॥ २७ ॥

हे माता ! यद्यपि तुम सरल स्वभाव की हो, पर तुम्हारी लहरों में अत्यन्त टेढ़ापन है। यह बात तुम्हारे पानी में ही नहीं, मनमें भी है, ऐसा मुझे लगता है ॥ २७ ॥

या जूटमध्ये च शशाङ्कमौलेरुन्निद्रकुन्दस्रगिवाऽवभाति ।
तामप्यतीव त्रिजगत्प्रतीच्यां त्रिःस्रोतसं पुण्यतयाऽतिशेषे ॥ २८ ॥

विकसित कुन्दपुष्पों की माला के समान जो शिवजी की जटाजूट में शोभा पा रही है, उस तीनों जगत की वन्दनीया गंगा को भी तुमने अपने पुण्यों से जीत लिया है ॥ २८ ॥

या साऽस्य शक्तिः प्रसराम्बुपङ्के त्वया कृता धर्मविहारवीथिः ।
सलीलमुद्धूलकुलाचलेयं मही महासूकरदंष्ट्र एव ॥ २९ ॥

तुमने फैले हुए जल के कीचड़ में भी धर्मचारियों के विचरण का मार्ग बना दिया है। तुम्हारे ऊपर इस पृथ्वी का भार ऐसे मालूम पड़ता है, मानो महापर्वतोंवाली पृथ्वी को वराहावतार ने अपनी ठुड्डी पर रखा हो ॥ २९ ॥

भवादृशीनां महतां नदीनाम् अद्भिर्जगत्यस्तमितोपसर्गे[1] ।
सुखं सदैवासुरजिन् समुद्रे निद्राति पर्यङ्कितपन्नगेन्द्रः ॥ ३० ॥

आप जैसी नदियों के पुण्यजल से समस्त संसार का उत्पात नष्ट हो जाने

---

१. अजन्यं क्लीबमुत्पातः उपसर्गः समं त्रयम्—अमरकोश

पर दैत्यों को जीतने वाले भगवान् विष्णु शेषनाग की शय्या पर सुख से सोते रहते हैं ॥ ३० ॥

वसन्तमन्यत्र मयि प्रसन्ना सम्भावनामादरमहो निधत्से ।
अस्त्येव भक्तेष्वतिवत्सलत्वाद्बलाद् गुणारोपणकौतुकं ते ॥ ३१ ॥

प्रसन्न होकर ही तुम मुझ अयोग्य पर इतनी कृपा और आदर का भार धर रही हो । भक्तों के प्रति अति वात्सल्यभाव के कारण ही तुम उनमें हठात् गुणों का आरोप करने के लिये उत्सुक रहती हो ॥ ३१ ॥

विमर्श—अर्थात् भक्त बेचारे कुछ योग्य भी नहीं होते, पर तुम अपनी वात्सल्य दृष्टि के कारण ही उन्हें गुणशाली समझने लगती हो ॥ ३१ ॥

अनेनमेकोऽपि हृदि प्रहर्षस्तव प्रसादातिशयेन जातः ।
अनार्द्रतामिन्दुमरीचिसङ्गे कियच्चिरं चन्द्रमणिर्बिभर्ति ॥ ३२ ॥

तुम्हारी इस अत्यन्त दयादृष्टि के कारण मेरे हृदय में बड़ी प्रसन्नता हो रही है । भला चन्द्र की किरणों का सम्पर्क पाकर चन्द्रकान्तमणि कब तक न पिघलेगी ॥ ३२ ॥

निधाय तत्तादृशमिन्द्रजालं सा येन नीता फणिराजकन्या ।
अपश्यतो हेतुमिहोपपन्नं किमप्यहो विस्मयते मनो मे ॥ ३३ ॥

मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि इस प्रकार का इन्द्रजाल रचकर उस नागराजकन्या को कौन कहाँ ले गया । उसका कुछ भी कारण मैं नहीं देख पाया, अतः यहाँ आया हूँ ॥ ३३ ॥

अज्ञानमस्मिन्विषये किमन्यत् ममैतदर्हस्यपनेतुमम्ब ।
दिनान्तसम्मूर्च्छितमन्धकारं निशामुखस्येव शशाङ्कलेखा ॥ ३४ ॥

हे अम्बा ! और क्या कहूँ । इस सम्बन्ध में मेरा अज्ञानान्धकार तुम्हीं दूर कर सकती हो । क्योंकि ज्योत्स्ना में ही वह शक्ति है कि वह निशामुख अर्थात् सायंकाल का घना अन्धकार दूर कर दे ॥ ३४ ॥

पुनर्नर्मदावाक्यम्

उक्त्वेति तूष्णीमभवन्नृसोमः सा सोमसूतिस्सरिदित्युवाच ।
अत्रेतिवृत्तं कथयाम्यशेषं निशम्यतां मालवलोकपाल ॥ ३५ ॥

पुनः नर्मदा का कथन

इतना कहकर राजा के मौन हो जाने पर पुनः चन्द्रपुत्री नर्मदा नदी ने उससे कहा कि मैं तुमसे सम्बद्ध सारा वृत्तान्त आपको सुनाती हूँ, आप सुनें ॥

गृहदेवतावाचः

यदैव सा तर्जितचन्द्रकान्तिरजायतेन्दीवरपत्त्रनेत्रा ।
चित्रस्थितानां गृहदेवतानामिति स्फुरन्ति स्म तदैव वाचः ॥ ३६ ॥

गृहदेवताओं के वचन

हे राजन् ! चन्द्रमा की कान्ति को निज कान्ति से जीतनेवाली उस शशिप्रभा के पैदा होने पर गृहभित्तियो पर बने गृहदेवताओं की वाणी स्पष्ट रूप से सुनाई दी अर्थात् शशिप्रभा के जन्म लेते ही प्रसूतिगृह की भीतों पर बनी गृहदेवताओं ने मानव वाणी में इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥

रत्नाकरत्वं भुजगेन्द्र जातं कन्या तव श्रीः शुभलक्षणेयम् ।
वक्षःस्थलं मध्यमलोकभर्तुर्विभूषयित्री पुरुषोत्तमस्य ॥ ३७ ॥

हे नागराज ! तुम को तो समुद्रत्व प्राप्त हो गया है, क्योंकि तुम्हारी यह शुभ लक्षणों वाली कन्या साक्षात् लक्ष्मीस्वरूप ही है। यह किसी पृथ्वी-पालक पुरुषोत्तम राजा के वक्षःस्थल को सुशोभित करेगी ॥ ३७ ॥

भुजङ्गवंशार्णवकौमुदीयम् इयं पताकाऽस्य रसातलस्य ।
उपागतेयं निधनाग्रदूती वज्रांकुशस्यासुरपुङ्गवस्य ॥ ३८ ॥

यह नागवंश रूपी समुद्र मे उत्पन्न होने वाली चन्द्र की चाँदनी सी है। यह इस नागलोक की ध्वजा है। यह वज्रांकुश नामक श्रेष्ठ दैत्य की मृत्यु की अग्रदूती बन कर आई है। अर्थात् यहाँ यह जो शशिप्रभा के रूप में आई है, इसीके कारण वज्रांकुश मारा जायगा ॥ ३८ ॥

स्ववीर्यपर्यस्तपुरन्दरेण तेनासुरेन्द्रेण कदर्थितस्य ।
तेजश्चिराढुच्छ्वसितं तदाऽभूत् इति श्रुते भोगभृतां कुलस्य ॥ ३९ ॥

गृहदेवता की उपर्युक्त बात सुनकर संत्रस्त नागकुल ने अपने पराक्रम से इन्द्र को भी परास्त करनेवाले दैत्यराज वज्राकुश के द्वारा बहुत दिनों के बाद छुटकारे की साँस ली ॥ ३९ ॥

तद्देहकान्तिस्तिमिरं व्यनैषीत् यदत्र मोघीकृतरत्नदीपा ।
पित्रा तदस्याः कृतमर्थयुक्तम् आह्लादनं नाम शशिप्रभेति ॥ ४० ॥

इसकी देह की कान्ति ने पाताललोक के अन्धकार को मिटा दिया, और यहाँ के रत्नदीपो को (अपनी प्रभा से) बेकार कर दिया। इसलिए इसके पिता ने इसका सार्थक और आनन्ददायक 'शशिप्रभा' नाम रखा ॥४०॥

ततस्सुधासूतिकराभिरामैर्गुणैः परीता सहजन्मभिः सा ।
शनैः शनैर्वृद्धिमवापदत्र रसातले वालमृणालिकेव ॥ ४१ ॥

चन्द्रमा की शुभ्र किरणों के समान जन्मजात सुन्दर (आह्लादकत्वादि) गुणों से परिपूर्ण वह शशिकला पाताललोक में उसी प्रकार धीरे-धीरे बढ़ने लगी, जैसे जन्मजात तन्तुओं से युक्त कोमल मृणालिका बढ़ती है ॥ ४१ ॥

शशिप्रभापितुः प्रतिज्ञा

यदर्थिताऽभूदनुबद्धमानसैः सुरैश्च सिद्धैश्च महोरगैश्च।
तेषां पुरस्तादकृत व्यवस्थाम् इत्येकदा संसदि पन्नगेन्द्रः ॥ ४२ ॥

शशिप्रभा के पिता की प्रतिज्ञा

जब वह नवयुवती हो गई, तब उसके रूप पर मुग्ध हुए देवताओं, सिद्धों और महाप्रतापी नागों ने उसको (पाणिग्रहण के लिए) माँगने की इच्छा की। तब उनके सामने ही एक बार सभा में नागराज ने ऐसी प्रतिज्ञा की ॥ ४२ ॥

गुप्ताभितो यत्त्रिदशारिवीरैर्वज्राङ्कुशाख्यस्य महासुरस्य।
असूत लीलागृहदीर्घिकेह हैमं हरेर्नाभिरिवारविन्दम् ॥ ४३ ॥

इस पाताललोक में चारों ओर से वज्राङ्कुश नामक महाराक्षस के वीरों से रक्षित लीलागृह की बावलि ने एक स्वर्णकमल पैदा किया है। वह ऐसा लग रहा है, मानो विष्णु की नाभि से निकला हुआ स्वर्ण-कमल हो ॥ ४३ ॥

आनीय तद्यो दुहितुर्ममास्याः कर्णावतंसप्रणयीकरोति।
लभ्येयमिष्वासभृतः कलत्रं पार्थस्य पाञ्चालनृपात्मजेव ॥ ४४ ॥

जो कोई उस स्वर्णकमल को लाकर मेरी पुत्री के कानों को अलङ्कृत कर देगा, वह जैसे धनुर्धर अर्जुन ने पाञ्चालराजपुत्री द्रौपदी को पाया था, वैसे ही इसे भी स्त्रीरूप में पायेगा ॥ ४४ ॥

कुलक

तेनैवमुक्ते च तदा परेषु समर्थमङ्गीकृतवान्न कोऽपि।
वन्यद्विपादुद्गतदानराजेः कः कुम्भमुक्ताफलमाददीत ॥ ४५ ॥

उसके इस प्रकार कहने पर उनमें से किसीने भी उस कार्य को नहीं उठाया। जिसके गण्डस्थल से मदजल की धारा बह रही है, ऐसे मदोन्मत्त जंगली हाथी के कुम्भस्थल (सिर) को विदीर्ण करके उसके मोतियों को भला कौन निकाले ॥ ४५ ॥

ततः प्रभृत्यद्भुतरूपरेखा सा बालिकाभूद्वरा वराऽपि।
चित्ते वचस्तत् कुलदेवतानां कृत्वापि तस्याः स च नान्वशेत ॥४६॥

तबसे लेकर वह वरा (सर्वसुन्दरी) होते हुए भी अवरा (वरविहीन) ही रही। और कुलदेवता गृहदेवियों की उस वाणी को चित्त में रखकर भी नागराज फिर चैन से सो नहीं सका, अर्थात् अपनी पुत्री के विवाहबद्ध न हो सकने का दुःख उसे निरन्तर होता रहा ॥ ४६ ॥

सम्प्रत्यवैमि प्रथिता यदाऽत्र स्वर्गे च भूमौ च रसातले च।
नीतोऽसि नेत्रातिथितां त्वमस्याः पुण्येन जन्मान्तरसम्भृतेन ॥ ४७ ॥

अब तो मैं समझती हूँ कि स्वर्ग लोक और भूलोक में अब इसके समान कोई दूसरी स्त्री न होगी, क्योंकि किसी पूर्वजन्म के संचित पुण्य के कारण तुम जो इसकी दृष्टि में आ गये हो ॥ ४७ ॥

आनेतुकामेन भवन्तमत्र निजं वचस्तन्नयता प्रतिष्ठाम् ।
आप्तप्रयत्नेन तथा स मन्ये फणीश्वरेणोपकृतः प्रपञ्चः ॥ ४८ ॥

मालूम होता है कि अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए तुम्हें यहाँ लाने के लिए ही शायद नागराज ने वह सारा प्रपञ्च (इन्द्रजाल) रचा होगा ॥४८॥

एकः क्षितौ साहसिकस्त्वमेव नान्योऽस्ति राजन्नवसाहसाङ्क ।
निसर्गदुर्गामपि भूमिमेतां स्वोद्यानवीथीमिव यः प्रविष्टः ॥ ४९ ॥

हे नवसाहसाङ्क धरती पर एकमात्र तुम्हीं वास्तविक अमित साहसी हो, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि तुम इस प्रकृति से ही दुर्गम भूमि को भी अपने बगीचे की पगडंडी की भाँति पार करके यहाँ आ गये हो ॥ ४९ ॥

तदस्य कार्यस्य पुरस्कृतस्य यतस्व सीमान्तविलोकनाय ।
विगाहमानोऽम्बरमर्धमार्गं निवर्तते जातु किमुष्णरश्मिः ॥ ५० ॥

यहाँ आने के जिस कार्य को तुमने शुरू किया है, अंतिम सीमा गाँठने के लिए अर्थात् उसकी पूर्ति के लिए उद्योग करना प्रारम्भ कर दो । नभोमण्डल की ओर प्रस्थान करने वाला सूर्य क्या कभी आधे रास्ते से ही वापस लौटता है ?

इतोऽस्ति [1]गव्यूतिशतार्धमात्रं गत्वा पुरी रत्नवतीति नाम्ना ।
विनिर्मिता शिल्पकलामयेन मयेन या नाकजिगीषयेव ॥ ५१ ॥

यहाँ से पचास गव्यूति (२०० मील चलकर) मात्र आगे जाकर रत्नवती नाम की एक नगरी है, जिसे अमरावती को जीतने की इच्छा से ही मानो शिल्प कलाकुशल मयनाम के दानव ने बनाया था ॥ ५१ ॥

तस्याऽसुरेन्द्रस्य नराधिपेन्द्र जगद्द्रुहः सा किल राजधानी ।
समेधितस्याब्जभुवा वरेण रणेष्ववध्यो मरुतां भवेति ॥ ५२ ॥

हे नृपेन्द्र ! तुम्हें देवता भी युद्ध में न मार सकेंगे, इस प्रकार ब्रह्मा के वरदान को पाकर अत्यन्त बढ़े हुए बल वाले एवं संसार को त्रास पहुँचाने वाले असुरराज की वह राजधानी है ॥ ५२ ॥

स मौलिरत्नानि महोरगाणाम् उत्खाय चोत्खाय च कौतुकेन ।
करोति निर्वासितनायकेषु निजाङ्गनाहारलतान्तरेषु ॥ ५३ ॥

वह महासर्पों के शिरःस्थित रत्नों को उखाड़-उखाड़ कर जिनके प्रियकरों को निकाल बाहर कर दिया है, ऐसी अपनी रानियों की हारलता के बीच लगाता है ॥ ५३ ॥

---

१. गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्—अमरकोश ।

स बाष्पपर्याकुललोचनानि निःश्वासभिन्नाधरपल्लवानि।
करोति वक्त्राण्यमरागनानाम् उत्सन्नलीलास्मितचन्द्रिकाणि ॥ ५४ ॥

आँसुओं से पूर्ण नेत्रों वाले, दीर्घ निःश्वास से जिनके अधरोष्ठ मलीन हो रहे हैं, ऐसे देवस्त्रियों के मुखों को वह विलासक्रीडाओं की मधुर हँसी रूपी चन्द्रिका जिनकी नष्ट हो गई है, ऐसे बना देता है ॥ ५४ ॥

विमर्श—प्रियकर के युद्धाहत होने से देवाङ्गनाओं को सुरतक्रीडा का आनन्द नहीं मिलता ॥ ५४ ॥

कृताङ्गदः कम्बलकालियाख्यौ यज्ञोपवीतीकृतशङ्खचूडः।
स तक्षकापादितकण्ठभूषो बिभर्ति लीलामशिवः शिवस्य ॥ ५५ ॥

वह कम्बल और कालिया नाम वाले दो महानागों को बाजूबन्द के रूप में धारण करता है। शंखचूड़ नाग को उसने यज्ञोपवीत बना रखा है। तक्षक नाग उसका कण्ठाभरण बना पड़ा है और इस भाँति वह अकल्याणकारी दुष्ट राक्षस शिव की लीलाओं को किया करता है ॥ ५५ ॥

आस्तां किमन्यैः फणिभिः स चिन्त्यस्तथापि शेषस्य च वासुकेश्च।
राहुर्यथा निःश्वभयैकहेतुः तारधिपस्याहिमदीधितेश्च ॥ ५६ ॥

और नागों की तो बात ही जाने दो, शेषनाग और वासुकी नाग के लिए भी वह उसी भाँति भय का कारण बन गया है, जैसे सूर्य और चन्द्रमा के लिए राहु ॥ ५६ ॥

खगेन्द्रभङ्गे न तथा तथा च न सर्पयज्ञे जनमेजयस्य।
निधानमातङ्कपरम्पराणां जातो यथा सम्प्रति नागलोकः ॥ ५७ ॥

गरुड़ पक्षी के द्वारा नागों के खाये जाने से और जनमेजय के यज्ञ के कारण भी नागलोक प्रथम इतना भयाकुल नहीं था, जितना आज इस भय से उसमें आतंक छाया हुआ है ॥ ५७ ॥

हरेस्त्वमंशोऽत्र कृतावतारस्तस्याऽसुरेन्द्रस्य निबर्हणाय।
अवैमि लोकत्रयकण्टकस्य लङ्काधिपस्येव स मैथिलीशः ॥ ५८ ॥

मैं समझती हूँ, जैसे तीनों लोकों के लिए काँटा बने हुए रावण के नाश के लिए रामचन्द्र ने अवतार लिया था, उसी तरह तीनों लोकों को दुःख देने वाले इसके विनाश के लिए भी तुमने भगवान के अंशावतार में जन्म लिया है ॥ ५८ ॥

श्रीकण्ठवैकुण्ठपुरन्दराद्यैरपेक्षितं यत्त्रिदशैरशक्त्या।
कृतस्य तस्यास्य मरः[?] जिसोढुं सम्भाव्यसे मे नृपते त्वमेव ॥ ५९ ॥

भगवान् शंकर, विष्णु इन्द्र आदि देवताओं ने उसे उसका कुछ न बिगाड़

१ श्रीकण्ठः शितिकण्ठः कपालभृत्—अमरकोश।

सकने के कारण छोड़ दिया, उसीके संहार रूपी कार्यभार को उठाने के लिए तुम्ही मुझे समर्थ मालूम पड़ रहे हो ॥ ५६ ॥

किमन्यदुत्तिष्ठ गृहाण यात्रां वज्राङ्कुशं प्रत्यमितप्रताप ।
तच्चावतंसीकुरु हेमपद्मम् आनीय भूशक्र शशिप्रभायाः ॥ ६० ॥

और क्या कहूँ, हे अतिपराक्रमशाली ! तुम वज्राकुश को मारने के लिए यात्रा प्रारम्भ कर दो । हे धरेन्द्र ! तुम उसके यहाँ से उस स्वर्णकमल को लाकर शशिप्रभा के कान का आभूषण बना दो ॥ ६० ॥

सा ते समाप्तादद्भुतसाहसस्य वत्साङ्कमभ्येतु फणीन्द्रकन्या ।
सीता यथा दाशरथेः सलीलम् आरोपितत्र्यम्बककार्मुकस्य ॥ ६१ ॥

जिस भाँति शिवधनुष को चढ़ाने वाले रामचन्द्र को सीता मिली, उसी भाँति अपना साहसिक कार्य करने पर वह नागराजकन्या तुम्हारी गोद की शोभा बढ़ायेगी ॥ ६१ ॥

अगाधपातालतलोद्गतानि विनिद्रकुन्दच्छदसुन्दराणि ।
लोकद्वये सम्प्रति ते यशांसि आकल्पवल्लीफलवच्चरन्तु ॥ ६२ ॥

अगाध रसातल तक विकसित होने वाले, विकसित कुन्दपुष्पों के समान श्वेत, तुम्हारे यश इस लोक और उस लोक तक व्याप्त होकर ऐसे चिरस्थायी हो जायँ, जैसे कल्पकल्पान्त तक रहने वाले कल्पलता के फल ॥ ६२ ॥

प्रसादमाप्तेन चिराद्विलीने तस्मिन् सुरारातिघनोपरोधे ।
मुखेन्दुना पन्नगसुन्दरीणां पुनः समागच्छतु पत्रलेखा ॥ ६३ ॥

देवताओं के शत्रु उस दैत्य रूपी बादल के उपद्रव के नष्ट हो जाने पर प्रसन्नता को प्राप्त नागस्त्रियों के मुखचन्द्र पर एक बार फिर पत्ररचना की शोभा छा जाय ॥ ६३ ॥

आसीत् पुरस्तात्त्रिपुरावभङ्गे यन्मंगलं बालमृगाङ्कमौलेः ।
महासुरैर्भाविनि साम्पराये तवास्तु तत् संयुगजामदग्न्य ॥ ६४ ॥

प्राचीन समय में त्रिपुरासुर को नष्ट करते समय चन्द्रमौलि भगवान् शंकर को जो मंगल हुआ था, संग्राम में विजय पाने वाले परशुराम के समान पराक्रमी राजन् ! वही मंगल तुम्हारा राक्षसों के साथ होने वाले युद्ध में भी हो ॥ ६४ ॥

पन्थाश्शिवोऽयं पुरतोऽत्र गन्ता वङ्कुर्मुनिर्लोचनगोचरं ते ।
उपाचरेस्तं च तथाविधानां भक्तिं हि गां कामदुहामुशन्ति ॥ ६५ ॥

यात्रा के लिये अग्र प्रस्थान करो । यह मार्ग कल्याणकारी है । जब तुम यहाँ से कुछ दूर जाओगे, तो तुम्हें वंकुमुनि के दर्शन होंगे । उस मुनि की तुम अवश्य सेवा करना, क्योंकि ऐसे लोगों की भक्ति ही वस्तुतः इच्छित वस्तुएँ देनेवाली कामधेनु कही गयी है ॥ ६५ ॥

इत्युदीर्य मणिकान्तिकन्दलो कल्पित त्रिदशचापमस्य सा।
आमुमोच निजमङ्गदं भुजे ज्याकिणाङ्ककठिणीकृतत्वचि ॥ ६६ ॥

इस प्रकार के वचन कहकर नर्मदा ने माणिकिरणों से इन्द्रधनुष की कान्ति को फैलाने वाले अपने वलय को, धनुष के खींचने से घट्टे के चिह्नों से कर्कश बने हुए राजा के हाथ में पहना दिया ॥ ६६ ॥

नर्मदोक्तिस्वीकार.

अवदद्दथ स साहसोन्मुखस्ताम् इह हि वय वचसि स्थितास्त्वेति।
तद्विदिव न चिरादुदीरिताशी सरिदपि साऽन्य पुरस्तिरोबभूय ॥ ६७ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये नर्मदासवादो नाम
नवम सर्ग ॥ ६ ॥

नर्मदा के कथन को स्वीकार करना

पश्चात् उस साहसी राजा ने नर्मदा से कहा कि मैं आपकी बात को पूर्ण रूप से स्वीकार करता हूँ। राजा के इतना कहने पर राजा को आशीर्वाद देकर वह नर्मदा नदी भी बिजली की भाँति राजा के सामने से अन्तर्हित हो गई ॥ ६७ ॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नव
साहसाक चरित महाकाव्य का नर्मदासवाद नामक
नवम सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

अथ दशमः सर्गः

नायकस्य रमाङ्गदं प्रति प्रश्नः

अथ मेकलाचलसुतातिरोहितो अतिमात्रविस्मयरसार्द्रमानसः ।
दशनच्छविच्छुरितपाटलाधरः स रमाङ्गदं नृपतिरित्यवोचत ॥ १ ॥

नायक का रमाङ्गद के प्रति प्रश्न

इसके पश्चात् मेकल पर्वत की पुत्री नर्मदा के अन्तर्हित हो जाने पर अत्यन्त विस्मय-रस से भरे मन से, दांतों की चमक से रक्तवर्ण के ओठों को सुशोभित करते हुए सिन्धुराज ने रमाङ्गद मंत्री से कहा ॥ १ ॥

अधिरोहति स्वयमचिन्तिताऽप्यहो शुभसम्पद् पराङ्मुखे विधौ ।
सवपुर्विलोचनपथं यदावयोरमृतांशुसूतिरियमापदापगा ॥ २ ॥

जब भाग्य अनुकूल होता है, तब जिनके बारे में कुछ सोचा भी नहीं गया हो, ऐसी सब सम्पत्तियाँ अपने आप (मानव के) पास आ जाती हैं । अब यही देखो न, यह चन्द्रपुत्री नर्मदानदी शरीरधारिणी बनकर हमारे दृष्टि गोचर हुई अर्थात् बिना किसी कल्पना के ही इसकी मुलाकात अपने साथ हुई ॥ २ ॥

इदमिन्द्रजालमिति मे समुत्थिताम् मतिमेदर्पितमुदारया तया ।
विकसन् मरीचिरचितेन्द्रकार्मुकं करवर्ति रत्नवलयं विलुम्पति ॥ ३ ॥

जिस प्रकार विकसित सूर्य-किरणों से जिस पर इन्द्रधनुष की शोभा है, ऐसा रत्नकंकण इन्द्रजाल के रूप में हाथ पर आते ही विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस उदार विचारधारा वाली ने मुझसे जो कुछ कहा, मुझे तो सब इन्द्रजाल सा मालूम होता है ॥ ३ ॥

विमर्श—हम अक्सर देखते हैं कि सूर्य की किरणों में रंग-बिरंगे अणु होते हैं । इन रंगों से इन्द्रधनुष की छटा भी देखने में आती है । बीच-बीच में गोल वलय भी दीखते हैं । लेकिन जब हम उसे पकड़ने लगते हैं, तब वह गायब हो जाता है । उसी तरह नर्मदा ने भी जो कुछ कहा, वह राजा को इन्द्रजाल मालूम पड़ रहा है ॥ ३ ॥

अयि मेकलाद्रितनयापुरस्कृते क्रियते किमत्र वद कृत्यवस्तुनि ।
तव यन् सदा नयरहस्यवेदिनो न वियच्चरन्त्यनपांसुले पथि ॥ ४ ॥

बताओ भाई ! नर्मदा की बताई हुई बात के विषय में क्या किया जाय । क्योंकि तुम जैसे नीतिरहस्य जानने वाले व्यक्तियों की बुद्धि अन्याय रूपी धूलि से धूसर मार्ग पर नहीं जाती है ॥ ४ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इति पार्थिवेन कथिते दधन्मनाक् पुलकेन चुम्बितकपोलमाननम् ।
इदमात्तनीतिपथमाददे वच स्मितपुष्पिताधरदलो रमाङ्गद ॥ ५ ॥

रमाङ्गद का कथन

सिन्धुराज के ऐसा कहने पर (आत्मप्रशंसा सुनने के कारण) जिसके गालों पर लज्जा से रोमाच हो आया था, ऐसे मुखवाले तथा हँसी से विकसित अधरोष्ठ वाले रमाङ्गद ने न्यायमार्ग सगत वचन कहे ॥ ५ ॥

इह किं प्रतिस्फुरति मे तवाग्रतो नयशास्त्रनीरनिधिपारदृश्वन ।
अवलीढविश्वतमस पुरो रवेर्न हि जातु दीपकशिखा प्रकाशते ॥ ६ ॥

न्यायशास्त्ररूपी समुद्र को पार करनेवाले आपके सामने भला मेरी बुद्धि कहाँ तक सफल हो सकेगी ? भला ससार के समस्त अधकार को नष्ट करने वाले सूर्य के सामने दीपशिखा का प्रकाश कैसे हो सकेगा ? अर्थात् आपकी बुद्धि के आगे मेरी बुद्धि क्या काम देगी ॥ ६ ॥

विषयेऽत्र मौनमुचित हि मादृशाम् अवशस्तथापि कथयामि किञ्चन ।
क्षितिपालमौलिमणिवेणिकातिथेस्तव केन शासनमिद विलङ्घ्यते ॥ ७ ॥

इस विषय में मुझ जैसे लोगों का मौन रहना ही ठीक है । फिर भी लाचारी से कुछ कहता हूँ । क्योंकि समस्त बड़े-बड़े राजाओं के सिर पर की वेणिका का आतिथ्य स्वीकार करने वाले अर्थात् समस्त राजा लोग अपना मस्तक जिसके सामने झुकाते हैं, ऐसे आपकी आज्ञा का उल्लन्घन करने की शक्ति किसकी है ? ॥ ७ ॥

प्रथम हि मण्डलमखण्डशक्तिभिर्विजिगीषुभि स्वमभित प्रसाध्यते ।
परमण्डले तदनु नीतिपारगैरवनीपुरन्दर कर प्रसार्यते ॥ ८ ॥

हे धरती के इन्द्र ! अखण्ड शक्तिशाली, विजय की इच्छावाले नीति-निपुण राजाओं को सर्वप्रथम अपने आस-पास के मण्डल (शक्ति) को साधना चाहिए, तब उसके बाद दूसरे मण्डल को अपनाने के लिए हाथ बढ़ाना चाहिए ॥ ८ ॥

तदपास्तमेरमवितर्कितोत्थिते परिपन्थिनामिह विधेयवस्तुनि ।
यदि नाभविष्यदभिमानशालिनस्तव राज्यमुद्धृतसमस्तकण्टकम् ॥ ९ ॥

जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की गयी थी अर्थात् अचानक अगर कोई शत्रुओं से सम्बद्ध बात खड़ी हुई तो उसके निवारण आदि कार्य में आपने कभी देर न कर उसका निवारण किया है । यदि ऐसा न हुआ होता तो अभिमानशाली आपका राज्य समस्त शत्रुरूपी कण्टकों से रहित न हो सकता ॥ ९ ॥

श्रुतशक्तिसङ्कलितमन्त्र निश्चयैरुपलब्धषड्गुणविवेकवर्त्मभिः ।
तदुपायतत्त्वमधिगम्य धूः क्षितेस्तव मन्त्रिभिर्नृप दुरुद्वहोह्यते ॥ १० ॥

हे नृप ! अध्ययनशील, राजशक्ति और मंत्रशक्ति का निश्चय करने वाले, तथा उससे प्राप्त षड्गुणरूपी विचार-मार्ग पर चलने वाले आपके मन्त्री लोग राजसत्तारक्षण के सभी उपायों को जानकर ही तुम्हारी शासित धरती के (राजभार) भार को ढो रहे हैं।

विमर्श—आपके मन्त्री आपकी अनुपस्थिति में भी आपके राज्य का सारा काम सुचारु रूप से चला रहे हैं। राजशास्त्र के बल पर उन्होंने राजनीति के तमाम मन्त्रों को जान लिया है। और किस जगह कैसा व्यवहार करना, इस बारे में भी वे निश्चयी हैं। राजनीति के गुणों का कहाँ किस तरह प्रयोग करना—यह बात भी उन्हें विदित है ॥ १० ॥

अतिसान्द्रकाञ्चनमरीचिपिङ्गलं दिगुपाहितप्रचुरपत्रशोभिनः ।
तव कोशमुत्सृजति न क्षणं रमा परमारवंशसरसीसरोरुहः ॥ ११ ॥

हे परमारवंशरूपी तडाग के कमल ! चारों दिशाओं से प्राप्त किये हुए नाना प्रकार के वाण तथा वाहन आदि से सुशोभित आपके, घने स्वर्ण-किरणों से पीत वर्णवाले कोश को लक्ष्मी क्षणभर के लिए भी नहीं त्यागती है ॥ ११ ॥

प्रियकीर्तयो जयपवित्रिताशयास्तरसा तृणीकृतजगत्त्रया युधि ।
जगतीविशेषक तवानुजीविनो निवसन्त्यवन्तिविषये सहस्रशः ॥ १२ ॥

हे जगत् के तिलकभूत राजन् ! विजय (की भावना) से जिनके हृदय पवित्र हैं, ऐसे तथा, कीर्ति चाहनेवाले, युद्ध में वेग से तीनों जगत् को तिनके के समान समझने वाले, आपके सहस्रों सेवक उज्जयिनी में रहते हैं ॥ १२ ॥

पृथिवीभृतः प्रथितविक्रमेण ते गमितास्त्वया वशमुपायसम्पदा ।
नयवर्त्मगाः क्षितिपते तवान्यथा न भवन्ति भाविसमराभिशङ्कया ॥ १३ ॥

उपाय-सम्पत्ति से जिन राजाओं को प्रसिद्ध पराक्रम वाले आपने अपने वश कर लिया है, न्यायमार्ग पर चलते हुए वे विरोधी राजा भी हे राजन् ! भविष्य में होने वाले युद्ध की शंका करके तुम्हारे विरोध में नहीं उठेंगे ॥ १३ ॥

अपकर्तुमत्र समये तवात्तभीर्मनसापि हूणनृपतिर्न वाञ्छति ।
इभकुम्भभित्तिदलनोद्यमे हरेर्न कपिः कदाचन सटां विकर्षति ॥ १४ ॥

इस समय आपसे डरा हुआ हूणराजा मन से भी आपका कुछ अपकार करना नहीं चाहता, मदोन्मत्त हाथियों के गण्डस्थलों को फाड़ते समय शेर की जटा को क्या कभी बन्दर खींचता है ? ॥ १४ ॥

असितकान्तिजालजटिलाग्रबाहुना रणसीम्नि नाथ ! निहतेषु भर्तृषु ।
भवताऽत्र वागडवधूजनः कृतो रतिसन्धिविग्रहकथापराङ्मुखः ॥ १५ ॥

श्यामवर्ण की कान्ति के समूह वाली तल्वारों से जिसके हाथों के आगे का भाग व्याप्त हो गया था, ऐसे आपने रणभूमि में वागडराज के लोगों को मारकर उनकी वधुओं को रतिक्रीडा की संधि विग्रह सम्बन्धी बातों से भी विमुख कर दिया।

विमर्श—रतिकाल में जो मान, राग आदि होता है, वह अब नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

अधुनापि देव मुरलाङ्गनाननैर्विजयप्रशस्तिरिव लिख्यते तव ।
गलदञ्जनाश्रुपृषतावलिच्छलात्लसदिन्दुपाण्डुषु कपोलभित्तिषु ॥१६॥

हे राजन् ! आज भी मुरल देश की नारियाँ बहते हुए कज्जलयुक्त आँसुओं की बिन्दुपंक्ति के बहाने अपने सफेद कपोलों पर मानो स्याही से आपके विजय की गाथा लिख रही हैं ॥ १६ ॥

रभसादपास्य मणिकङ्कणावली कनकारविन्दकटकेषु तेऽसिना ।
न किमर्पितानि नृप लाटयोषितां स्फटिकाक्षसूत्रवलयानि पाणिषु ॥ १७ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी तल्वार ने मणिकङ्कणों को झटके से दूर करके और पीतकमलों के समान सुनहले वलयों की जगह क्या लाट देश की स्त्रियों के हाथों में स्फटिकयुक्त रुद्राक्ष की मालायें न पहना दीं अर्थात् उनके पतियों को रण में मारकर उन्हें वैधव्य प्राप्त कराकर योगियों का जीवन बिताने में तुम कारण हुए हो ! ॥ १७ ॥

नयनाम्बुभिः स्नपितधूसराधरा प्रतिबद्धरूक्षमलिनैकवेणयः ।
निहिता न किं महति शोकसागरे जगतीन्द्र कोशलपतेः पुरन्ध्रयः ॥ १८ ॥

हे जगत् के इन्द्र ! कोशल देश के राजा की स्त्रियों को आँसुओं से मलिन अधरों वाली सूखी और मलिन वेणी बाँधने वाली बनाकर क्या आपने महान् शोकसागर में नहीं डुबो दिया ? ॥ १८ ॥

उदितेन वैरितिमिरद्रुहाऽभितस्तव नाथ विक्रममयूखमालिना ।
गमिता प्रभावलयशून्यतां झटित्यपरान्तपार्थिववधूमुखेन्दवः ॥ १९ ॥

हे नाथ ! चारों ओर से वैरी रूपी अन्धकार के साथ द्रोह करने वाले तुम्हारे विक्रम रूपी सूर्य ने उदित होकर क्या अपरान्त राजाओं की वधुओं के मुख-चन्द्रमाओं को शीघ्र ही कान्तिसमूह से शून्य न कर दिया ? अर्थात् क्या वैरियों का नाश करके उनकी स्त्रियों के मुख की शोभा न छीन ली ॥ १९ ॥

अतिनिर्मलमुत्तरदिगन्तवर्तिना समरक्रमाभ्युदितधर्मबिन्दुना ।
शरदिन्दुनिर्मलमपायि भूभृताम् असिपत्रपात्रपतितं त्वया यशः ॥ २० ॥

उत्तर दिशा के अन्त तक व्याप्त यश वाले, युद्धस्थल में परिश्रम से उत्पन्न पसीने से सने हुए आपने अपनी तलवार की धार से क्या शत्रु राजाओं के बढ़े-चढ़े शरद्कालीन चन्द्रमा के समान स्वच्छ यश को दूर नहीं किया? अर्थात् किया ही ॥ २० ॥

निजरन्ध्रगोपनपटीयसाऽभितः परन्ध्रदृष्टिपटुचारचक्षुषा ।
नयभिन्नसाहसभुवा भुवस्तले भवता समं कथय को विरुद्धयते ॥ २१ ॥

अपने छिद्रों अर्थात् कमजोरियों को गुप्त रखने में चतुर, तथा दूसरों के गुप्त रहस्यों का चतुर गुप्तचरों द्वारा पता रखने वाले, न्याय से पूर्ण साहस-वाले आपके साथ कहिये, इस धरती पर कौन विरोध कर सकता है ? ॥ २१ ॥

नरदेव दैवमधिकृत्य या विपन्न निपतत्यवन्तिविषये कथञ्चन ।
शिखिमुक्तमन्त्रहविषा विहन्यते तव सा वसिष्ठमहसा पुरोधसा ॥ २२ ॥

हे नरेश ! यदि भाग्यवश अवन्ति देश पर कोई आपत्ति आ भी गई तो तुम्हारी उस आपत्ति को अग्नि में मन्त्रपूर्वक हवि छोड़ने वाले, महर्षि वशिष्ठ के समान तेजवाले आपके पुरोहित दूर कर देते हैं ॥ २२ ॥

नृप वासराणि निरुपप्लवाः प्रजाः सुखमात्मकर्मणि रता नयन्ति यत् ।
विजयं जयैकसुहृदोऽस्य सर्वदा ननु कार्मुकस्य तव सद्विजृम्भितम् ॥२३॥

हे राजन् ! आज तुम्हारे राज्य में निरुपद्रवी प्रजाजन सुख-शान्तिपूर्वक अपने-अपने कामों में जो लगे हैं, जो सुख से दिन बिता रहे हैं, यह हमेशा विजय ही प्राप्त करने वाले आपके इस धनुष का ही जृम्भण अर्थात् प्रबल प्रताप है ॥ २३ ॥

इति किञ्चिदेव न तव स्वमण्डले नृप चिन्त्यमस्त्युदितशक्तिसम्पदः ।
अधुना तु नीतिनिहितेन चेतसा फणिलोककृत्यमिदमेव चिन्त्यताम् ॥२४॥

श्रीमान्, जिसकी शक्ति-सम्पत्ति पूर्व उदित है, ऐसे आपके अपने राज्य में कोई चिन्ताजनक बात अब नहीं रह गई है। अतः अब तो न्यायपूर्ण दृष्टि से आपको पाताल्लोक के इस कार्य के विषय में ही विशेष विचार करना चाहिए ॥ २४ ॥

प्रभुशक्तिरुद्यमपरत्वमर्पितत्रिजगच्चमत्कृतिरहङ्कृतिश्च सा ।
असुरस्य तस्य कथिता नरेन्द्र ते नगरी च मेकलनगेन्द्रकन्यया ॥ २५ ॥

मेकलेन्द्रकन्या नर्मदा ने उस दैत्य वज्रांकुश की प्रभुशक्ति (सेना, कोश आदि), उद्यम पूर्वक कार्य करने की लगन और तीनों लोकों को चमत्कृत करने वाले उसके अहंकार तथा उसकी नगरी के सम्बन्ध में आपको सब कुछ बता ही दिया है ॥ २५ ॥

अभिगम्य यत्र स तवाधुना रिपुर्मरुतामुदारनिजकार्यसिद्धये ।
श्रुतिलग्नगन्धगजबृंहितः[1] क्षणं नृप केसरी कथय किं विलम्बते ।। २६ ।।

हे राजश्रेष्ठ ! अपने पवित्र कार्य की सिद्धि के लिए आपको अब देवताओं के शत्रु उस असुर पर आक्रमण कर ही देना चाहिए । इसमें देर नहीं करनी चाहिए । जिसके कानों ने गन्धगज की चिग्घाड़ सुन ली है, ऐसा सिंह उस हाथी पर आक्रमण करने में क्या क्षण भर का भी विलम्ब करता है अर्थात् अब तुम उस पर आक्रमण करने में देर न करो ।। २६ ।।

नरसाहसाङ्क न तवासुरादहं कलयामि सम्प्रति किमप्यसादृशाम् ।
विधुतिः कदाचन गिरेर्न भूभृतः कलविङ्क[2]पक्षपवनेन शङ्कते ।। २७ ।।

हे नरसाहसाङ्क ! उस दैत्य से आपके लिए मैं किसी प्रकार की विपत्ति नहीं समझ रहा हूँ अर्थात् वह दैत्य सम्प्रति आपका कुछ भी नुकसान नहीं कर सकता । एक य कश्चित् चटक (गौरेया) पक्षी के पंखों की हवा से पर्वतों के हिल जाने की शङ्का भी नहीं की जा सकती ।। २७ ।।

भवता यदोच्चलित एव दक्षिणश्चरणस्तदैव सुरवैरियोषिताम् ।
विगलन्ति देव नयनोदबिन्दवः शरदिन्दुपाण्डुनि कपोलमण्डले ।। २८ ।।

हे देव ! आप जब (आक्रमण के लिये) केवल अपना दाहिना पैर उठा लेते हैं, उसी समय देवताओं से वैर करने वाले दैत्यों की स्त्रियों के शरद्कालीन चन्द्रमा के समान स्वच्छ गालों पर आँसुओं की बूँदें छलकने लगती हैं ।। २८ ।।

विजयैकसद्मनि गुणं शरासने तव यावदत्र न नृपाधिरोहति ।
तुहिनच्छटाधवलचामरस्मिता विलसन्ति तावदसुरालये श्रियः ।। २६ ।।

जब तक विजय के एकमात्र स्थान आपके इस धनुष की प्रत्यञ्चा खींची नहीं गयी है, तभी तक असुरों के घरों में हिम की भाँति श्वेत चँवरों के समान स्मित वाली स्त्रियाँ या सम्पत्तियाँ शोभायमान हैं ।

विमर्श—उसके बाद तो वहाँ सारा वातावरण निश्रीक हो जाता है ।।२६।।

कनकारविन्दमरविन्दलोचन प्रणयेन नैव स समर्पयिष्यति ।
सुरनिर्जयार्जितमदावृतेऽन्तरं लभते न धाम किल वादृशां हृदि ।। ३० ।।

हे कमल के समान नेत्रवाले राजा ! वह प्रेमभाव से स्वर्णकमल को तुम्हें नहीं देगा । क्योंकि देवताओं पर विजयी होने के कारण मदपूर्ण ऐसे लोगों के हृदय में शान्ति की बात के लिए कोई स्थान नहीं होता अर्थात्

---

१ बृंहितं करिगर्जितम्—अमरकोश ।

२ चटकः कलविङ्कः स्यात्—अमरकोश ।

वह सामोपाय से कभी नहीं मानेगा। उस स्वर्णकमल को प्राप्त करने के लिए तुम्हें दण्ड का उपयोग करना पड़ेगा ॥ ३० ॥

भवतः कुतोऽपि नृप यावदागमं न स वेत्ति तावदभियोक्तुमर्हसि।
सहसाऽन्यथा रहसि मन्त्रिबोधितः परितः स्वदुर्गघटने यतिष्यते ॥ ३१ ॥

वह जब तक आपके आगमन (आक्रमण के लिए) के विषय में नहीं जानता अर्थात् आप उस पर आक्रमण करने वाले हैं, इस बात से वह जब तक बेखबर है, तब तक आपको शीघ्र उस पर आक्रमण कर देना चाहिए। नहीं तो फिर मन्त्रियों द्वारा इस रहस्य से एकाएक अवगत कराने पर वह चारों तरफ किले को मजबूत बनाने में लग जायगा ॥ ३१ ॥

कृतनूतनार्गलकपाटसम्पुटां सुभटैरुदायुधकरैरधिष्ठिताम्।
परितः सुखातपरिखां पुनः पुरीं रचितैकदुर्गमपथां विधास्यति ॥ ३२ ॥

फिर वह अपनी नगरी के नई अर्गला वाले किवाड़ों को बन्द कर देगा, जहाँ-तहाँ अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित वीर पुरुषों की नियुक्त कर देगा, नगरी के चारों ओर अच्छी प्रकार से खाई खोदकर उसे घेर देगा। इस तरह वह अपनी नगरी को अत्यन्त कठिन मार्ग वाली बना देगा ॥ ३२ ॥

वलितेऽपि किञ्चन धनुःपरिग्रहे भुवनत्रयप्रथितसाहसे त्वयि।
अपि जायते धृतिविपर्ययो हरेरसुरेषु कैव गणना तपस्विषु ॥ ३३ ॥

तीनों भुवनों में प्रसिद्ध साहस वाले आपके अपने धनुष को सँभालते ही तो भगवान विष्णु भी घबड़ा उठते हैं अर्थात् उनका भी धैर्य छूट जाता है, फिर उन बेचारे दैत्यों की तो गिनती ही क्या है ॥ ३३ ॥

नियतं नरेन्द्र विदधत्फणामणिस्फुरदंशुसूत्रितनवातपं नभः।
सुरवैरिवीर्यदृढमत्सरं पुरः फणिसैन्यमाजिभुवि ते भविष्यति ॥ ३४ ॥

हे नरेन्द्र ! यह निश्चित है कि अपनी फणाओं की मणियों से निकलनेवाली कांति से आसमान को प्रदीप्त करने वाले दैत्यों के पराक्रम से अत्यन्त द्वेष रखने वाले, नागों की सारी सेना के साथ यह पातालपुरी भी युद्धस्थल में आपके साथ होगी ॥ ३४ ॥

अधुनैव तेऽत्र निजतां व्रजन्ति वा सुभटाः स्वयं विधिवशेन केचन।
कपयः पुरा रघुपतेर्यथा वने हनुमत्पतङ्गतनयाङ्गदादयः ॥ ३५ ॥

इसी समय कुछ अन्य वीर भी स्वयं ही और कुछ भाग्यवश आपके पक्ष में हो जायेंगे। जैसे वन में रामचन्द्र के साथ हनुमान, सुग्रीव अङ्गदादि हो गये थे ॥ ३५ ॥

यदुदीरितश्च पुरुकुत्सकान्तया सरिताऽसि वङ्क्षुमुनिदर्शनम्प्रति।
प्रतिभाति किञ्चन ममैव तत्र ते किमु निर्मुखेङ्गितविदस्तदिङ्गितम् ॥

पुरुकुत्स की स्त्री नदी नर्मदा ने वह्नु मुनि के दर्शन के विषय में जो कुछ भी तुमसे कहा है, उसमें मुझे कुछ सार मालूम होता है। मुँह से कुछ न बोले जाने पर भी केवल इशारों को भी समझने वाले आपके लिए वह जरूर कोई इशारा ही रहा होगा॥ ३६ ॥

अथवैक एव त्रिभुरस्यरेर्वधे ननु धाम यत् स्फुरति शार्ङ्गिणस्त्वयि।
उदितक्रुधस्त्रिपुरदाहडम्बरे शरतामगाप किल यत् पिनाकिन ॥ ३७ ॥

अथवा एक अकेले आप ही शत्रु का नाश करने में पूर्ण समर्थ हैं। आप में भगवान् विष्णु का वही तेज विद्यमान है, जो त्रिपुरासुर का नाश करते समय अत्यन्त क्रुद्ध हुए भगवान शिव का बाण हो गया था।

विमर्श—त्रिपुरासुर का नाश करने जब भगवान् त्रिपुरारि प्रवृत्त हुए, उस समय भगवान् विष्णु ने स्वयं अपना तेज उनके बाण में संक्रान्त किया था, ऐसी पौराणिक कथा है ॥ ३७ ॥

अवलोकयामि शकुनं यथा तथा तदवैमि पक्ष्मलदृशा सभान्तरे।
न चिरादुपोढपुलकेन पाणिना कनकारविन्दमवतंसयिष्यसि ॥३८॥

जैसे जैसे मैं होनेवाले शकुनों पर विचार कर रहा हूँ, वैसे वैसे मेरी समझ में यह आ रहा है कि आप अवश्य शीघ्र ही अपने रोमाञ्चित हाथ से सभा के बीच ही, सुन्दर पलकों वाली उस शशिप्रभा को स्वर्णकमल से विभूषित कर देंगे ॥ ३८ ॥

त्वमिहैव नाथ मणिधाम्नि तिष्ठ वा नहि नाम तादृशमिदं प्रयोजनम्।
असुरं निहत्य सहसैव तत्क्षणाद् अहमानयामि तपनीयपङ्कजम् ॥३९॥

अथवा आप इसी मणिभवन में ठहरें। यह कोई ऐसा बड़ा भारी काम नहीं है। मैं ही सहसा क्षणभर में उस दैत्य को मारकर उस स्वर्णकमल को ले आता हूँ ॥ ३९ ॥

विजयी यदस्मि समरेषु जित्वर प्रभवन्ति तत्र तव पादपांसवः।
अरुणो यदन्धतमसं निषेधति स्फुरितं नराधिप तदर्कतेजसाम् ॥ ४० ॥

हे राजन्! मैं युद्ध में जो सदैव विजयी होता रहा हूँ, वह आपके चरणों की धूलि का ही प्रभाव है। अरुण जो अन्धकार को नष्ट करता है, उसमें भी तो सूर्य के तेज का ही प्रभाव है ॥ ४० ॥

नायकवाक्यम्

सिन्धुराज का कथन

मसृणोक्तिपल्लवितनीतिविक्रमक्रममित्युदीर्य विरते रमाङ्गदे।
स सरस्वतीमुखररत्ननूपुरध्वनिपेशलं नृपविरादददे वचः ॥ ४१ ॥

मृदु उक्तियों से राजनीति और पराक्रम के परस्पर क्रम (औचित्यानौचित्य) आदि को बतलाते हुए जब रमाङ्गद अपना कथन कहकर चुप हो गया, तब सरस्वती (वाणी) के मंजुल नाद करते हुए पैंजन की ध्वनि के समान मधुर वचन राजा ने कहे ॥ ४१ ॥

त्वदृते मुखात् सुखनिरस्तसंशयप्रसरेयमुल्लसति कस्य भारती ।
शशलक्ष्मणः परमखर्वशर्वरीतिमिरच्छिदुच्छलति कान्तिकन्दली ॥४२॥

अच्छी तरह से जिसने संशयों दूर किया है, ऐसी निर्दुष्ट वाणी तुम्हारे सिवाय और किसके मुख से निकल सकती है ? रात्रिजन्य अत्यधिक अन्धकार को दूर करने वाली चन्द्रमा की कान्ति के अतिरिक्त और किसकी कान्ति उल्लसित हो सकती है ?

विमर्श—रात्रि के भयानक अन्धकार को चन्द्र-प्रकाश के अतिरिक्त और कोई दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह प्रौढ वाणी तुम्हारे सिवा और कौन कह सकता है ? ॥ ४२ ॥

तव वेद्मि पौरुषमहं त्वया विना न वपुःस्थिति क्वचन कर्तुमुत्सहे ।
धनुषीव दीर्घगुणसङ्गते यतस्त्वयि मे दृढप्रणयवासितं मनः ॥४३॥

मैं तुम्हारे पुरुषार्थ को जानता हूँ । तुम्हारे बिना तो मेरी शरीर-स्थिति भी नहीं हो सकती अर्थात् बिना तुम्हारी सम्मति और सहायता के मैं किसी काम को करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता । जिस प्रकार मौर्वी से युक्त धनुष पर मेरा मन रहता है, उसी प्रकार महान् गुणों से युक्त तुम्हारे प्रति मेरा मन आसक्त रहता है ।

विमर्श—नीतिशास्त्र का नियम है कि राजा का अस्त्रबल तथा मन्त्रिबल दृढ़ रहना चाहिए । प्रस्तुत में भी राजा का अपने धनुष पर अपार प्रेम व्यक्त होता है । साथ ही मन्त्री पर भी उसका मन विश्वस्त है, इस वर्णन से राजा की योग्यता तथा शक्तिशालिता अभिव्यक्त होती है ॥ ४३ ॥

गमने तदेहि सहितौ यतावहे झटिति त्रिविष्टपरिपोः पुरीम्प्रति ।
अपदे यदुद्यमकथाविरोधिनी नहि सिद्धये भवति दीर्घसूत्रता ॥४४॥

तो आओ, हम दोनों साथ ही तुरत उस देवताओं के शत्रु की नगरी की ओर जाने का प्रयत्न करें । व्यर्थ की दीर्घसूत्रता उद्योग में बाधा डालने वाली होती है, जिससे कि कोई भी सिद्धि (कार्यसिद्धि) नहीं हो सकती ।

विमर्श—कार्य के उद्योग में बाधक बनने वाली दीर्घसूत्रता जो कि अस्थान तथा अकाल में ही की गई हो, कार्यसिद्धि में खलल डालती है । अतः अब इस विषय में अधिक विचार न कर हमें कार्यारम्भ कर देना चाहिए ॥ ४४ ॥

शुकवाक्यम्
तोते का वचन

इति पार्श्ववर्तिनमुदीर्य मौनवान् अवदत् स मालवकुरङ्गलाञ्छन ।
त्वरयाऽवतीर्य स च रत्नपञ्जरात् पुरत शुकोऽस्य पुनरित्यभापत ।

इस प्रकार अपने साथी रमाङ्गद से कहकर जब वह मालवराजेन्द्र नवसाहसाङ्क मौन हो गया, तब उसी समय रत्नजटित पिंजरे से निकल कर शीघ्र ही उस तोते ने (जिसका प्रसङ्ग पहले आ चुका है) राजा से यों कहा ॥ ४५ ॥

शृणु शङ्खचूडशुचिवशभूरहं नृप रत्नचूड इति नागदारक ।
उदपादि कण्वमुनिशिष्यशापत शुकता मयेयमनिमीलितस्मृति ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! सुनिये, मैं शङ्खचूड के पवित्र वश में पैदा हुआ एक नाग पुत्र हूँ । मेरा नाम रत्नचूड है । कण्वमुनि के शिष्य के शाप से मैंने तोते की यह योनि पाई है । इस योनि में भी मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई है ॥ ४६ ॥

प्रणयोक्तिभिर्मुनिरथ प्रसेदिवान् इति मे स शापतिमिरावधि व्यधात् ।
वशिना रुपो मतिषु नाऽसते चिरं जल विप्रुप[1]श्च नृप सस्यसूचिपु ॥४७॥

फिर मेरी भक्तियुक्त तथा मीठी वाणी से मुनि प्रसन्न हुए और उन्होंने मेरे इस शापरूपी अन्धकार के दूर होने की एक समयावधि बाँधी अर्थात् एक समय तय कर दिया । ठीक ही कहा है, सयमी महापुरुषों की बुद्धि में क्रोध उसी प्रकार देर तक नहीं ठहर सकता, जैसे धान की बाली पर पानी की बूँदें ज्यादा देर तक नहीं ठहर पातीं ॥ ४७ ॥

त्वमफल्गु नेष्यसि शशिप्रभान्तिक नवसाहसाङ्कनृपतेर्यदा वच
नियत भविष्यति तदा कुमार ते शुकरूपपरिवर्तनोत्सव ॥ ४८ ॥

उन्होंने मुझसे कहा कि जब तुम राजा नवसाहसाङ्क के सार्थक वचनों को शशिप्रभा के पास तक ले जाओगे अर्थात् राजा के सत्यसंदेश को शशिप्रभा तक पहुँचा दोगे, तब हे बालक ! निश्चित ही तुम्हारे इस तोते के रूप का रूपान्तर हो जायगा अर्थात् फिर तुम अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाओगे ॥ ४८ ॥

तदनङ्गपष्ठशर सन्दिश स्वय शनकै किमप्युरगबालिकाम्प्रति ।
हृदि यन्निधाय सहसैव याम्यह फणिनामनघ्रमणितो[2]रणा पुरीम् ॥ ४९ ॥

हे कामदेव के छठे बाणस्वरूप राजन् ! तुम स्वय ही नागकन्या

---

१ पृषन्ति बिन्दुपृषता पुमांसो विप्रुष स्त्रियाम्—अमरकोश ।
२ तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्—अमरकोश ।

के लिए शीघ्र कोई सन्देश दो, जिसे अपने हृदय में रखकर मैं नागों की ऊँचे-ऊँचे मणिजटित द्वारों वाली नगरी में जाऊँ ॥ ४९ ॥

अयि मौनमेतदवनीन्द्र मुच्यताम् द्रुतमुच्यतां च किमियं मयि त्रपा ।
पृथगस्मि देव नहि ते परिच्छदात् उचितं न तन्मयि रहस्यगोपनम् ॥ ५० ॥

राजन् अब अपना यह मौन तोड़िये, शीघ्र ही कुछ कहिए। मुझसे इतनी लज्जा क्यों ! हे देव, मैं आपके सेवक परिजनों से बाहर नहीं हूँ, इसलिए मुझसे अपने रहस्य को छिपाना ठीक नहीं है ॥ ५० ॥

नायकवाक्यम्

इति वल्गु जल्पति शुकेऽथ विस्मयात् अपि विस्मयं परमवाप पार्थिवः ।
अवदच्च पञ्जरमिवास्य कल्पयन् दशनांशुभिः स्फटिकसूचिकोमलैः ॥५१॥

नायक का वाक्य

इस प्रकार जब वह तोता आश्चर्यपूर्वक बोल रहा था, उस समय राजा को और भी अधिक आश्चर्य हुआ। फिर अपने दाँतों की उज्ज्वल कान्ति से उस सुग्गे के चारों तरफ स्फटिक-शलाकाओं का पिञ्जरा सा बनाते हुए राजा ने कहा।

विमर्श—जब राजा बोलने लगा, तब उसके दाँतों की किरण-पंक्तियाँ सुग्गे के आस-पास चारों तरफ छिटकीं, जिससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि उस सुग्गे के चारों तरफ मानो स्फटिक-शलाकाओं वाला पिंजड़ा तैयार हो गया हो ॥ ५१ ॥

विपदं विलोक्य तव दुःसहामिमाम् अयि रत्नचूड मम दूयते मनः ।
पतितं कुकूज दहने न कस्य वा मृदुमालतीमुकुलमाल्यमाधये ॥ ५२ ॥

हे रत्नचूड़ ! तुम्हारी इस भयंकर असह्य विपत्ति को देखकर मेरा मन अत्यन्त दुखी हो रहा है। भला कोमल मालती की कलियों की माला को आग में दहकते देखकर किसकी मनोव्यथा चीत्कार न कर उठेगी अर्थात् किसे ग्लानि नही होगी[1] ॥ ५२ ॥

नायिकां प्रति सन्देशः

घटितं विधेरिदमजर्यमावयोर्न रमाङ्गदान्मम सखेऽतिरिच्यसे ।
इदमार्य तत्त्वयि विमुक्तयन्त्रणो ननु सन्दिशामि हरिणीदृशम्प्रति ॥ ५३ ॥

नायिका के लिये सन्देश

हे मित्र ! भाग्यवश ही हम लोगों की यह मित्रता हुई है, मेरे लिये तुम रमाङ्गद से कुछ कम नहीं हो। इसीलिए हे प्रिय ! मैं निःसंकोच तथा यन्त्रणा

---

१. पुंस्याधिर्मानसी व्यथा—अमरकोश

रहित होकर तुम्हें उस हरिणी के समान नेत्र वाली (शशिप्रभा) को बताने के लिए कुछ सन्देश देता हूँ ॥ ५३ ॥

विरतेऽपि मेघतिमिरे नताङ्गि मे न गतासि लोचनपथं यदा तदा ।
फणिलोकभूमिमतिदुर्गमामिमाम् अविशं तवानुपदमेव सुन्दरि ॥ ५४ ॥

तुम शशिप्रभा से कहना कि ! "हे सुन्दर लचीले शरीर वाली ! जब बादलों के उस घने अँधेरे के दूर हो जाने पर भी तुम मुझे न दिखाई दी, तब मैं तुम्हारे पीछे पीछे ही नागों के इस भयानक दुर्गम लोक में आ पहुँचा ॥ ५४ ॥

नगरीं त्वदात्तहृदयोऽपि भोगिनाम् अहमागतो न मृगदीर्घलोचने ।
श्रुतये दुसूतिसरितोऽन्यतो हृत सहसैव हेमशतपत्रवार्तया ॥ ५५ ॥

हे मृग के समान दीर्घ नेत्रवाली ! मैं तुम्हारे प्रति मेरा चित्त आसक्त होने पर भी नागों की इस नगरी में आकर भी तुम्हारे पास नहीं आया, किन्तु चन्द्रपुत्री नर्मदा से स्वर्णकमल की बात सुनकर अब मैं अन्यत्र जा रहा हूँ ।

विमर्श—इससे राजा का केवल कामासक्तत्व नहीं प्रतीत होता, वह धीरोदात्त तथा आर्तत्राणपरायण है, यह बात भी इससे व्यक्त होती है ॥ ५५ ॥

अतिपाटलाधरमवाञ्चितं ह्रिया स्मितकान्तिसमन् स्तिमितरत्नकुण्डलम् ।
तदपाङ्गसङ्कलितलोचनोत्पलम् फणिलोककौमुदि मुखं स्मरामि ते ॥५६॥

हे नागलोक की चाँदनी ! लाल लाल ओठों वाले, लज्जा के कारण अवनत, मन्द मन्द मुस्कान से जिस पर कान्ति झलक रही थी, ऐसे निश्चल रत्नकुण्डलों वाले तथा जिस पर कमलरूपी नयन सहस्र कटाक्षों से युक्त होने से अत्यधिक शोभित थे, ऐसे तुम्हारे मुख की मुझे सदैव याद आती रहती है ॥ ५६ ॥

द्वितये द्वयेन सहसोज्झितस्तदा शशिसूतिसिन्धुपुलिनोऽन्तरे शरः ।
जगदेकविभ्रममुवा भुवस्तले सुतनु त्वया मयि च पुष्पधन्वना ॥ ५७ ॥

हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! उस समय चन्द्रपुत्री नर्मदा के किनारे दो व्यक्तियों ने 'दो' पर एक साथ ही बाण छोड़ा । सारे संसार की एकमात्र शोभास्थान तुमने भूतल पर और कामदेव ने मुझपर ॥ ५७ ॥

धृतमूर्मिहस्तनिवहेन रेवया ननु फेनकान्तिकरमोर मे पतन् ।
विपये दृशोरुपदर्शं मन शिलालिखितैकहंसमिथुनं तवांशुकम् ॥ ५८ ॥

हे हस्तिसूँड के समान जंघाओं वाली ! तरंगरूपी हाथों के समूह से रेवा-नदी ने फेन के समान श्वेत कान्तिवाले, मनःशिला (मेनसिल) से बने

हुए हंस के जोड़ों से युक्त तुम्हारे जिस वस्त्र को पकड़ा था, वह वस्त्र मेरी आँखों के सामने ही दिखाई दे रहा है ॥ ५८ ॥

मणिकान्तिलुप्ततिमिरे रसातले भवतीमिहानुसरता तनूदरि ।
अवलोकितान्यथ मया पदानि ते सहसा सुवर्णसिकताङ्किते पथि ॥ ५६ ॥

हे क्षीण कटि वाली ! तुम्हारा पीछा करते हुए मैंने मणियों की कान्ति से जहाँ अन्धकार नष्ट हो गया था, ऐसे रसातल में सुनहले बालू वाले मार्ग पर तुम्हारे पदचिह्नों को देखा ।

विमर्श—बालुकामय प्रदेश पर पद-चिह्नों का उठ आना स्वाभाविक ही है। राजा जब पाताललोक में आया, तब उसने बालुई जमीन पर शशिकला के पदचिह्न देखे ॥ ५६ ॥

सरले झटित्युदितकार्श्यदोर्लतार्गलितानि रत्नवलयानि ते मया ।
कथमप्युदश्रुपृषतं पदे-पदे चकितेन चन्द्रमुखि वीक्षितानि च ॥ ६० ॥

हे चन्द्रमा के समान मुख वाली ! सरलहृदये ! दुर्बलता बढ़ जाने के कारण तुम्हारे हाथों से गिरे हुए रत्नजटित कंगनों को मैं बड़ी कठिनाई से आँसू पोंछ-पोंछकर पद-पदपर चकित होते हुए देखता रहा ।

विमर्श—विरहजन्य दुर्बलता के कारण कृशता आ जाना स्वाभाविक है। कृशता से हाथ में के कंगन गिर गये थे, जो राजा को रास्ते में मिले थे ॥ ६० ॥

मनसा किमालिखति किं समाचरत्यधुना किमिन्दुवदना च वक्ति सा ।
इति मेऽपदिश्य भवतीं प्रवृत्तया हृदयं सशल्यमिव हन्त चिन्तया ॥६१॥

वह चन्द्रमुखी मन में क्या सोच रही होगी, उसके मन में किसका ध्यान चल रहा होगा, क्या कर रही होगी, क्या कहती होगी—इस प्रकार की तुम (शशिप्रभा) से सम्बद्ध चिन्ता ने मेरे हृदय में एक काँटा सा चुभो रखा है। अर्थात् जबसे इस चिन्ता ने व्यापा है, तब से हृदय एक क्षण भर के लिए भी आश्वस्त नहीं है, बेचैन है ॥ ६१ ॥

परितापयत्यविरलोच्छलत्प्रभातुहिनच्छटाभिरसिताब्जलोचने ।
शरदिन्दुदीधितिकलापसुन्दरस्तव हार एष हृदि सिञ्चतीव माम् ॥ ६२ ॥

बराबर निकलने वाली अपनी शीत कान्ति से जब यह चन्द्रमा जलाने लगता है, तब शरद्कालीन चन्द्रमा की किरण सा सुन्दर उज्ज्वल तुम्हारा यह हार ही मेरे हृदय को सान्त्वना देता है। चन्द्र आदि चीजें विरह में दाहक मानी जाती हैं, उस समय अपने प्रियजन सम्बन्धी कोई वस्तु पास रहे, तो वह आनन्द देती है, यह कविसमयसिद्ध बात है ॥ ६२ ॥

कथय प्रिये निहितसान्द्रचन्दनद्रवशीतलोज्ज्वलकरा कुचद्वये ।
मम हारयष्टिरपि सा सखीव किं मदनाभितापमपहृत्करोति ते ॥ ६३ ॥

हे प्रिये, बोलो ! घने चन्दन का लेप करने से ठण्डी और उज्ज्वल किरणों वाली मेरी वह हारयष्टि भी सखी की भाँति क्या तुम्हारी कामपीडा को कुछ दूर कर देती है ?

विमर्श—राजा ने अपना हार शशिप्रभा को दे रखा था, उसी के बारे में वह सन्देश देते समय कह रहा है कि क्या वह नायिका की कामपीडा को कुछ हल्का कर रहा है ॥ ६३ ॥

क्षणमप्यहो पतसि मे शुचिस्मिते न समुत्सुकस्य तव विस्मृते पथि ।
झटिति प्रविश्य हृदये मयाऽत्र किं लिखितासि पद्ममुखि पुष्पकेतुना ॥ ६४ ॥

हे शुद्ध हास्यवाली ! मैं उत्सुक हृदयवाला तो तुमको क्षण भर भी नहीं भूल सक रहा हूँ ! हे कमलमुखी ! क्या कामदेव ने मेरे हृदय में प्रवेश कर तुम्हारी मूर्ति मेरे हृदय में अङ्कित कर दी है ?

विमर्श—नायिका का ध्यान नायक के हृदय से एक क्षण के लिए भी नहीं हट रहा है। ऐसा लग रहा है, जैसे कामदेव ने स्वयं उसके हृदय में प्रवेश कर नायिका की मूर्ति उसके हृदय पर खोद दी हो ॥ ६४ ॥

समुद्वहन्ती स्रवदञ्जनाम्बुधारोत्करश्यामितकङ्कणेन ।
करारविन्देन मुखेन्दुबिम्बम् आपाण्डुरक्षामकपोलभित्ति ॥ ६५ ॥

कुछ पीलापन लिये हुए और दुर्बल गालों वाले मुखचन्द्र को काजल के साथ बहते हुए काले आँसुओं के धारापुञ्ज से जिसके कङ्कण काले हो गये थे, ऐसे हाथ से पोंछती हुई ॥ ६५ ॥

नवे नवे पङ्कजिनीपलाशमृणालहारादिसनाथपार्श्वे ।
प्रवालशीलास्तरणे निषण्णा सिंहासने मन्मथपार्थिवस्य ॥ ६६ ॥

नये नये कमलिनी के पत्ते और कमल के डंठल के हार उसके आस पास पड़े थे, ऐसे अतएव मूँगे के समान शोभायमान बिछौने पर वह ऐसी बैठी होगी, जैसे कामदेव रूपी राजा के सिंहासन पर ही विराजमान हो ॥ ६६ ॥

बालप्रवालाङ्कुरपाटलस्य लावण्यरत्नाकरकौस्तुभस्य ।
उदूष्मणा निःश्वसितेन कान्तिं कदर्थयन्ती दशनच्छदस्य ॥ ६७ ॥

कोमल मूँगे के अङ्कुर के समान लाल सौंदर्यसमुद्र के कौस्तुभमणिस्वरूप ओठ को गहरी और गर्म श्वासों से मलिन करती हुई ॥ ६७ ॥

कलापकः[1]

अनल्पसंकल्पविकल्पजाल-विलोडनैर्न स्वमपि स्मरन्ती ।
ससाध्वसेनाविरतं मया त्वम् उत्प्रेक्ष्यसे पन्नगराजपुत्रि ॥ ६८ ॥

कलापक

विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्पों के संघर्ष में पड़ी अपनी सुध-बुध भी भूली हुई, हे नागपुत्रि मैं तुमको घबराया हुआ सा बराबर देखा करता हूँ ।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारी क्या स्थिति है, इस बारे में मैं बहुत शंकित रहता हूँ ॥ ६८ ॥

ब्रूमः कियन्नथ कथञ्चन कालमल्पम् अत्राब्जपत्रनयने नयने निमील्य ।
हेमाम्बुजं तरुणि तत्तरसाऽपहृत्य देवद्विपोऽयमहमागत इत्यवेहि ॥६९॥

और क्या कहूँ, किसी न किसी तरह आँख मूँद कर थोड़ा सा समय और काट लो । हे कमल के समान नेत्रवाली, इस बीच शीघ्र ही उस दैत्य के पास से उस स्वर्णकमल को लेकर मुझे पास आया हुआ ही समझ लो ।

विमर्श—कुछ काल तक और धैर्य धारण किये रहो, तब तक मैं उस राक्षस को मार कर स्वर्णकमल तुम्हारे पास ले आऊँगा । ॥ ६९ ॥

भद्रैतद्व्रज रत्नचूडनिबिडप्रेमार्द्रमस्मद्वच-
स्तस्यास्तत्र कुरङ्गशावकदृशः कर्णावतंसीकुरु ।
शापान्ते बत विस्मरिष्यसि यदि भ्रातस्तदेकं किम-
प्यादाय स्वयमेव तत्प्रतिवचः पार्श्वं ममाभ्येष्यसि ॥ ७० ॥

प्रिय रत्नचूड ! शीघ्र जाओ, घने प्रेम से परिपूर्ण मेरे इन वचनों (सन्देश) को हरिणी के बच्चे के समान नेत्रवाली उस सुन्दरी के कानों तक पहुँचा दो अर्थात् इन वचनों से उसके कानों की शोभा बढ़ाओ । यदि तुम शाप खत्म होने पर हमें भूल भी जाओ तो भी अवश्य ही उसके उत्तर को मेरे पास पहुँचा देना ॥ ७० ॥

इति नरपतेः स्वान्ते कृत्वा मनोमृगवागुरां
गिरमुदकमन्निस्त्रिशाभे नभस्यशनैः शुकः
चिरविनिहितां दृष्टिं तस्मान्निवर्त्य तथोत्सुको
झटिति गमने देवोऽप्यासीत्स साहसलाञ्छनः ॥ ७१ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य
कृतौ नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये 'रत्नचूड-
सम्प्रेषणं' नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

---

१. जहाँ चार श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ कलापक होता है ।

इस प्रकार राजा की बात को मनरूपी मृग के लिए जाल बनाकर अर्थात् अपने मन को उस वाणी में अच्छी तरह बाँधकर, ताकि इधर-उधर का ध्यान न आये, वह रत्नचूड तोता निर्मल आकाश में शीघ्र उड गया। तब (शशिप्रभा-सगम के लिए) उत्सुक बने उस साहसाङ्क राजा ने बहुत देर से उसकी ओर लगी अपनी दृष्टि को उसकी तरफ से हटाकर शीघ्र ही दैत्यराज के यहाँ जाने का विचार किया।

विमर्श—अर्थात् अब वह अपने कर्तव्य के बारे में सोचने लगा ॥ ७१ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित
नवसाहसाङ्कचरित महाकाव्य का रत्नचूड
प्रेषण' नामक दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥

अथैकादशः सर्गः

शत्रुजयार्थप्रस्थानम्

शत्रु विजय के लिये जाना

अथ बिभ्रत् सरागेण हृदयेन कृशोदरीम् ।
स प्रतस्थे महीनाथः करेण च धनुर्लताम् ॥ १ ॥

फिर राजा सिन्धुराज प्रेमपूर्ण चित्त में शशिप्रभा के स्वरूप को धारण कर और हाथ में धनुष की डोरी को थामकर वज्रांकुश की ओर चल पड़ा

विमर्श—इस बात से स्पष्ट है कि उसके हृदय में उस सुन्दरी का ध्यान एक क्षण के लिए भी नहीं हटा है। पर वह अपने कर्त्तव्य में लगा है, यह बात भी स्पष्ट है ॥ १ ॥

इन्द्रनीलप्रतोलीतः स निर्गच्छन् पतिः श्रियः ।
तत्कान्ति श्यामतां गत्वा क्षणं कृष्ण इवाबभौ ॥ २ ॥

इन्द्रनील से बने गलियारों से जब वह शोभाशाली राजा गुजरने लगा, तब उस क्षण इन्द्रनील मणियों की कान्ति के प्रभाव से उसकी शोभा लक्ष्मी से सुशोभित भगवान् कृष्ण की तरह थी, उस समय वह कृष्णवर्ण का सा प्रतीत होने लगा ॥ २ ॥

आसन्नपद्मसरसा कुसुमानम्रशाखिना ।
स नर्मदोपदिष्टेन गन्तुं प्रववृते पथा ॥ ३ ॥

तब वह राजा जिसके इधर-उधर कमल से भरे-पूरे तालाब शोभा पा रहे थे, जिसके समीपवर्ती वृक्षों की डालियाँ फूलों से लदी होने के कारण झुक गयी थीं, ऐसे नर्मदा के बताये हुए उस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुआ ॥ ३ ॥

यान्तमेकान्तशिशिराः समीरास्तं सिषेविरे ।
एला–लवङ्ग-कङ्कोल-जातीफलसुगन्धयः ॥ ४ ॥

इलायची, लौंग, सुपारी तथा तथा जायफल की सुगन्ध से युक्त बहती हुई अत्यन्त ठंडी-ठंडी हवा (के झोंको) ने प्रस्थान करते हुए उसके शरीर को शीतल किया ॥ ४ ॥

---

१. रथ्या प्रतोली विशिखा—अमरकोश ।

विमर्श—मन्द-मन्द शीतल समीर आदि का किसीके प्रस्थान के समय चलना शुभसूचक माना जाता है ॥ ४ ॥

चक्रुस्तस्यानिलस्पर्शक्वणत्काञ्चनपल्लवाः ।
मौक्तिकस्तबकस्मेरा विस्मयं रत्नवीरुधः ॥ ५ ॥

सुन्दर रत्नसमान पुष्पोंवाली, वायु के स्पर्श से हिलने केकारण जिनके सोने के समान पीले पत्ते शब्द कर रहे थे, ऐसी तथा मोती के गुच्छ के गुच्छ खिलने के कारण जो स्मित करती हुई सी मालूम पड रही थीं, ऐसी रत्न की लताओं ने सिंधुराज को विस्मित कर दिया।

विमर्श—पाताल-लोक के ऐश्वर्यशालित्वातिशय को बताने के लिए कवि ने यह अतिशयोक्ति की उडान भरी है ॥ ५ ॥

अमन्दमारुताक्षेपमुक्तमुक्ताफलच्छलात् ।
चलद्वंशलता मूर्ध्नि तस्य लाजानिवाकिरन् ॥ ६ ॥

तेज हवा के झोंकों से हिलने के कारण गिरे हुए मोतियों के बहाने, बाँस की चचल लताओं ने मानो उसके ऊपर लावा बिखेरी।

विमर्श—अर्थात् बाँस के पेडों से मुक्ताफल गिर रहे थे, उसमें उत्प्रेक्षा यह की गयी कि वह लतायें राजा का मगल मनाने के लिए मानो उसपर लावा की वर्षा कर रही हों ॥ ६ ॥

अगलन् कुसुमव्याजात् तस्मिन्नभ्यर्णगामिनि ।
पातालकल्पवृक्षाणामानन्दाश्रुलवा इव ॥ ७ ॥

जब राजा पेड़ों के पास से जाता था, तब उसके ऊपर फूलों के रूप में नागलोक के कल्पवृक्षों ने मानो आनन्दाश्रुओं की वर्षा की ॥ ७ ॥

अरविन्दमुखक्रोडक्रीडन्मुखरषट्पदा ।
अनामयमिवापृच्छत्तमभ्यागतमब्जिनी ॥ ८ ॥

जिसके कमलों के भीतर बैठे हुए भौंरे गुञ्जार कर रहे थे—ऐसी कमलिनी (कमललता) ने मानो उस अतिथि की कुशल-वार्ता पूछी।

विमर्श—भौंरे गूँज रहे थे, मानो इस बहाने राजा से कमलिनी ही उसका कुशल क्षेम पूछ रही हो ॥ ८ ॥

शशिप्रभाक्षिविस्तारसवादिन्य पदे पदे ।
त किमप्यार्द्रता निन्युररण्यहरिणीदृशः ॥ ९ ॥

शशिप्रभा के नेत्रों की विशालता को बतलाने वाली अर्थात् शशिप्रभा के नेत्रों के समान ही बड़ी-बड़ी जगली हरिणियों की दृष्टियों ने उसके हृदय को कुछ-कुछ शीतल किया।

विमर्श—प्रेयसी के विरह में कातर राजा को तत्सदृश दृष्टि देखकर कुछ राहत मिलती थी ॥ ९ ॥

उपर्युक्तामृतस्पर्धि नारिकेलफलोदकान् ।
आस्वादितलवङ्गैलापूगनागलतादलान् ॥ १० ॥

लौंग, इलायची, सुपारी, पान आदि का रसास्वाद लेता हुआ वह सिन्धुराज अमृत के साथ स्पर्धा करने वाले अर्थात् तत्सदृश नारियलों के पानी को भी पीता था ॥ १० ॥

शय्यीकृतातनुस्वर्णकदलीबालपल्लवान् ।
विष्टरीकृतविस्तीर्णचन्द्रकान्तशिलातलान् ॥ ११ ॥

बड़े-बड़े केले के खंभों के कोमल पत्तों को बिछौने की तरह और बड़ी-बड़ी चन्द्रकान्त-रत्न से शोभित चट्टानों को आसन की तरह उपयोग में लाता हुआ वह राजा चलने लगा ॥ ११ ॥

तत्कालोचितकर्तव्यव्यावृत्तैकरमाङ्गदान् ।
आवृत्तिविहितप्रेयः फणिराजसुताकथान् ॥ १२ ॥

उस समय (रास्ता काटने के लिए) करने योग्य अतएव रमाङ्गद द्वारा बार-बार कही गयी नागराजपुत्री की सुन्दर कथा को सुनता हुआ चला । बार-बार उन कथाओं की आवृत्ति होने से राजा को अच्छा लगता था ॥ १२ ॥

हृदयन्यस्तकर्पूरमृणालनलिनीदलान् ।
पुंस्कोकिलकुलोल्लापजनितस्मरसञ्ज्वरान् ॥ १३ ॥

कमलिनी के दलों के मृणालों को हृदय पर रखता हुआ, नर-कोकिलों के समूह की कूक से जहाँ कामपीड़ा उत्पन्न की जा रही थी, ऐसे मार्गों में विश्राम करता हुआ चला ॥ १३ ॥

जाम्बूनदलतागुल्मविहिताश्रयसौहृदान् ।
गच्छन् स तत्र कतिचिन्निवासान् व्यधिताध्वनि ॥ १४ ॥

सुनहरी लतागुल्मों में विश्राम करने से उसने जिन रास्तों से दोस्ती कर ली थी, ऐसे उन रास्तों पर उसने कई जगह तम्बू डाले । अर्थात् रास्ते में कई जगह रुकता हुआ वह राजा अपने गन्तव्य स्थान की ओर जा रहा था ॥ १४ ॥

वङ्कुमुन्याश्रमप्राप्तिः

कुलकम्

सम्प्राप्य पृथिवीपालः कालेन कियताऽप्यथ ।
स कूलोपान्तविचरन्यङ्क वङ्कुतपोवनम् ॥ १५ ॥

वङ्कुमुनि के आश्रम का मिलना

इस प्रकार चलता हुआ नदीतट पर विचरण करता हुआ वह राजा कुछ समय पश्चात् वङ्कुमुनि के सुन्दर आश्रम में पहुँचा ॥ १५ ॥

आश्रमवर्णनम्

हृत कुतूहलेनाऽल तदालोकनजन्मना ।
पतिं मध्यमलोकस्य स जगाद रमाङ्गद ॥ १६ ॥

आश्रम का वर्णन

उस आश्रम को देखने से उत्पन्न कौतूहल से जो आकृष्ट कर लिया गया था, ऐसे उस पृथ्वीपति नवसाहसाङ्क को रमाङ्गद बोला ॥ १६ ॥

सीमा सती तिशब्दस्य सकुशाङ्काल्पपल्लवा ।
मैथिलीव श्रियं धत्ते कामप्याश्रमभूरियम् ॥ १७ ॥

कुश अर्थात् काँटों से अङ्कित छोटे-छोटे पत्तों वाली, (मुनिप्रताप के कारण) 'सती' इस शब्द की मानो सीमा अर्थात् अत्यन्त पवित्र यह आश्रम भूमि सीता की तरह किसी अनिर्वचनीय शोभा को धारण कर रही है ।

सीतापक्ष में—कुश नामक प्रिय पुत्र से जिसकी गोद भरी हुई है, (निर्वासिता होने के कारण) जिसने पत्तों के अलङ्कार भी बहुत कम धारण किये हैं तथा जो स्वयं 'सती' इस शब्द की सीमा है, अर्थात् जिसमें आकर वह शब्द समा जाता है—सीता से बढ़कर सती अन्य कोई नहीं हो सकती —ऐसी सीता के समान ॥ १७ ॥

इतो वान्ति हविर्धूमलतालास्यप्रदा इमे ।
मरुत पावना पक्वपुरोडाशसुगन्धय ॥ १८ ॥

हवन करते समय जो धूमलता ऊपर की ओर सीधी उठ रही थी, उसे कँपाने वाली तथा पके हुए हविष्यान्न की सुगन्ध से सनी ये पवित्र हवाएँ चल रही हैं ॥ १८ ॥

इतो हिरण्मयी भूमिस्तरनो हेमवल्कला ।
उन्निद्रहेमपद्मानि पयासीव पदे पदे ॥ १९ ॥

एक तरफ यह सुनहली भूमि, दूसरी तरफ सुनहली छालवाले पेड तथा जगह जगह पर विकसित स्वर्ण कमल वाला पानी ही पानी था ।

विमर्श—उस पाताललोक का यह सब प्राकृतिक सौन्दर्य तो बस देखते ही बनता था ॥ १९ ॥

काकपक्षोङ्कमूर्धानः पश्यैते गुरुशिक्षया ।
बटव खण्डयन्त्यत्र समिधश्च पदानि च ॥ २० ॥

जिनके सिर काकपक्ष से चिह्नित हैं, ऐसे बालवटु गुरु की आज्ञा और सीख के अनुसार एक ओर हवन के लिए लकड़ियों को तोड रहे हैं, और श्लोकों का पदच्छेद भी कर रहे हैं ।

विमर्श—जब बालक का पहली बार मुण्डन कराया जाता है, उस समय

सिर पर के बाकी सारे बाल छांट दिये जाते हैं, पर सिर पर एक जगह थोड़ा सा बाल अवश्य रख छोड़ते हैं, यह प्रथा अब भी प्रचलित है। उन्हीं रखे हुए बालों के पुंज को 'कौवा' अर्थात् 'काकपक्ष' कहते हैं। वह बालक समिधायें भी तोड़ते जाते थे और साथ ही श्लोकों का पदपाठ आदि भी करते जाते थे ॥ २० ॥

अनया साम गायन्त्या स्वरसंशयवानयम्।
इतः करोति कलहं शुकः सारिकया समम् ॥ २१ ॥

सामवेद की ऋचा गानेवाली इस कोयल के स्वर पर शंका करने वाला यह तोता तो देखो, इस कोयल से कलह कर रहा है।

विमर्श—अर्थात् सामगायन करते-करते सारिका ने कहीं स्वर की गलती कर दी है, ऐसी शंका समीपस्थ सुग्गे को होती है, और वह उसके साथ शास्त्रार्थ करने लगता है ॥ २१ ॥

इदमत्राद्भुतं पश्य मदक्लिन्नां गजस्य यत्।
गण्डलेखां नखाग्रेण शनैः कण्डूयते हरिः ॥ २२ ॥

इधर इस आश्चर्यजनक दृश्य को तो देखो—मदजल से परिप्लुत हाथी की गण्डलेखा (मस्तक) को यह शेर अपने नाखूनों के अग्र भाग से खुजुआ रहा है ॥ २२ ॥

प्रभामण्डलपर्यस्ततमसः शतशः पथि।
तवापतन्ति पातालरवयोऽमी महर्षयः ॥ २३ ॥

अपने प्रभापुञ्ज से बराबर पथ के घोर अन्धकार को दूर करने वाले, पाताललोक के सूर्य के समान ये महर्षि लोग आप ही की तरफ आ रहे हैं।२३॥

एषां द्वितयमेताभिः कपिलाभिरलङ्कृतम्।
उटजप्राङ्गणं गोभिर्जटाभिरभितः शिरः ॥ २४ ॥

इन मुनियों की दो वस्तुएँ कपिलाओं अर्थात् कपिला नाम की गायविशेष तथा कपिशवर्ण) से समलङ्कृत हैं। कुटियों के अँगने गायों से तथा मस्तक कपिश जटाओं से ॥ २४ ॥

इतो गात्रपरावृत्तिभग्नास्थिपरुपेतरान्।
मुनेः शय्याकुशानत्ति वालः कस्तूरिकामृगः ॥ २५ ॥

शय्या पर सोने वाले मुनि के इधर-उधर करवट बदलने से जिनका कड़ा भाग टूटा जा रहा था, ऐसी कोमल कुशाओं को बाल कस्तूरीमृग खा रहा है ॥ २५ ॥

इतोऽप्ययमृषिः पश्य जपापाटलयाऽनया।
गवानुगम्यते सायं सन्ध्ययेव दिवाकरः ॥ २६ ॥

इधर इस ऋषि के पीछे वह जपाकुसुम के फूल की भाँति लाल रंग की गाय वैसे ही आ रही है, जैसे दिन के पीछे रक्तवर्ण की सन्ध्या ॥ २६ ॥

सहसैवातिथि प्राप्त कोप्यय भवतामिति ।
एष प्रत्युटज वक्ति ससम्भ्रममय शुक ॥ २७ ॥

इधर देखिए, प्रत्येक कुटीर में एक एक तोता मानो सहसा कुटीरवासियों से यह कह रहा है कि देखिये, आप लोगों के यहाँ कोई अतिथि आ गया है ॥२७॥

अत सम्प्रति वीक्षन्ते कौतुकोत्तानितेक्षणा ।
त्वामिन्दुमिव पर्याप्तमण्डलं मुनिकन्यका ॥ २८ ॥

इसीलिए ये मुनिकन्यायें अब आश्चर्य से आँखें फाड फाड कर पूर्णचन्द्र के समान तुम्हें देख रही हैं ॥ २८ ॥

भूदत्तस्मरसाम्राज्य मुखश्रीतर्जितेन्दु च ।
आमामिन्दीवराक्षीणामलङ्कारो नव वय ॥ २९ ॥

इन कमल के समान नेत्रवाली सुन्दरियों को नई उम्र ही इनका सर्वोत्तम आभूषण है । इस वय के कारण ही इनकी मुख की शोभा से चन्द्र भी तिरस्कृत हो रहा है, और इसने तमाम धरती में मानो कामदेव को साम्राज्य दे दिया हो ॥ २९ ॥

मुक्तास्त्र स्त्रीपु कन्दर्पो देवाश्चानुशयादिव ।
शङ्के सन्त्यज्य कोदण्डमात्तदण्डस्तपस्यति ॥ ३० ॥

हे देव ! प्रतीत होता है कि कामदेव इन स्त्रियों पर कामशास्त्र छोड कर फिर पश्चात्ताप के कारण मानो अपने धनुष को छोड़कर प्रायश्चित्त स्वरूप सजा ग्रहण करने के लिये ही तपस्या करने चला गया है (अर्थात् इनका सौन्दर्य कामभावना रहित है) ॥ ३० ॥

वङ्कुमुनिदर्शनम्

तस्मिन्निरयुक्तवत्येव तथा सविधवर्त्मनि ।
तत पृथ्वीशशाङ्केन वङ्कुर्मुनिरदृश्यत ॥ ३१ ॥

वङ्कुमुनि का दर्शन

जब वह रमाकान्त ऐसा कह ही रहा था, कि इतने में पृथ्वीचन्द्र सिन्धुराज ने पास के रास्ते पर वङ्कु मुनि को देखा ॥ ३१ ॥

असावलम्बिनीर्बिभ्रत् सन्ध्याभ्रकपिशा जटा ।
प्रसृता इव निर्गत्य परमज्योतिष शिखा ॥ ३२ ॥

उन मुनिजी ने सन्ध्या के समान धूसर वर्ण की, कन्धों तक लटकती हुई जटाओं को धारण किया था । मालूम पड़ रहा था कि जैसे महाअग्नि की शिखाय बाहर निकल कर फैल गयी हों ॥ ३२ ॥

दधद्यज्ञोपवीतेन सीमन्तितमुरःस्थलम् ।
जाह्नवीनिर्झरेणेव नभः प्रालेयपाण्डुना ॥ ३३ ॥

यज्ञोपवीत से उनका वक्षःस्थल सुशोभित हो रहा था, मानो जाह्नवी की हिमधवल धारा से आसमान शोभा पा रहा हो ॥ ३३ ॥

शुद्धैकगुणसम्पृक्तामक्षमालां दधत् करे ।
मूर्तां तीव्रतपःसिद्धिमात्मनः फलितामिव ॥ ३४ ॥

उन्होंने शुद्ध एक गुण (तागे) से युक्त (गुंथी) अक्षमाला हाथ में धारण की थी । वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो उनकी घोर तपस्या की सिद्धि ही मूर्तिमती होकर फलित हुई हो ॥ ३४ ॥

योगक्षेमोपपत्त्यर्थमुपविष्टः कुशासने ।
नप्तेव मैथिलीभर्तुरतिथिर्नाम पार्थिवः ॥ ३५ ॥

योगक्षेम के लिये कुशासन पर बैठे हुए वह मुनि ऐसे लग रहे थे, मानो अग्निमित्र राजा जनकल्याण के लिए आसन पर बैठा हो ॥ ३५ ॥

प्रियसोमः सदा युक्तः प्रियया चानसूयया ।
पात्रमत्रिरिवोग्राणां तपसां तेजसामिव ॥ ३६ ॥

अत्रि ऋषि का सोम अर्थात् चन्द्र नामक एक पुत्र था, उससे अत्यन्त प्रेम करने वाले, तथा अपनी प्रिया अनसूया से सदा युक्त महामुनि अत्रि की तरह ही सोमरस से प्रेम करनेवाले वह वङ्कु मुनि भी उग्र प्रताप तथा तपस्या की खान थे ॥ ३६ ॥

स दृष्टिपथमायाति ययातिप्रतिमे नृपे ।
तुतोष कस्य वा न स्यादाकृतिस्तस्य सा मुदे ॥ ३७ ॥

ययाति के समान वह राजा उन वङ्कु मुनि के दृष्टि गोचर हुआ, तब मुनि अत्यन्त तुष्ट हुये । भला ऐसी सुन्दर आकृति किसकी प्रसन्नता के लिए नहीं होती । अर्थात् ऐसी आकृति सबको प्रसन्न कर देती है ॥ ३७ ॥

ततः कृतप्रणामस्य तस्य प्रणतभूभृतः ।
विदधे स विशाम्पत्युरातिथ्यमतिथिप्रियः ॥ ३८ ॥

अतिथियों को प्रिय मानने वाले अर्थात् अतिथिसेवापरायण उस ऋषि ने प्रणाम करनेवाले अतएव विनम्र उस राजा का अतिथि-सत्कार किया ॥ ३८ ॥

अथाऽदूरे सुखासीनः सुखासीने महीभृति ।
इति सूनृतया वाचा स वक्तुमुपचक्रमे ॥ ३९ ॥

राजा के सुख पूर्वक बैठ जाने पर राजा के पास ही सुख से बैठे हुए उस ऋषि ने मृदुवाणी में इस तरह बोलना प्रारम्भ किया ॥ ३९ ॥

अद्य नः पुण्यबीजेन मुक्तो यत् सत्यमङ्कुर ।
ललाम लोकत्रितये येन त्वमवलोकित ॥ ४० ॥

सचमुच ही आज हमारे पुण्य का बीज अङ्कुरित हो आया है, जो तीनों लोकों में परम सुन्दर आपको हमने देखा ॥ ४० ॥

तव शासति सौभाग्यमधिजातेयमाकृति ।
इन्दोः सुधानिधानत्व ज्योत्स्नया यत् प्रतीयते ॥ ४१ ॥

उच्चकुलीन तुम्हारी यह आकृति तुम्हारे सौभाग्य अर्थात् महत्त्व को बता रही है। जैसे कि चाँदनी से ही यह प्रतीत हो जाता है कि चन्द्रमा सुधा का भण्डार है ॥ ४१ ॥

यथाप्रदेशमायातैर्व्यक्ति वज्राङ्कुशादिभि ।
चक्रवर्तीत्यनुक्तोऽपि चिह्नैस्त्वमनुमीयसे ॥ ४२ ॥

वज्र, अङ्कुश आदि योग्य स्थानों पर स्थित चिह्नों के द्वारा बिना कहे भी यह अनुमान हो जाता है कि तुम चक्रवर्ती हो ॥ ४२ ॥

त्वद्दर्शनोत्सवेनैव कृतार्थं चक्षुरद्य न ।
विमुञ्चति शरच्चन्द्रे चिरल्डामपि स्पृहाम् ॥ ४३ ॥

तुम्हारे दर्शन के आनन्द से ही आज हमारे नेत्र सफल हो गये हैं। अत यह नेत्र चिरकाल तक शरद्कालीन चन्द्रमा में लगी इच्छा को छोड़ रहा है, अर्थात् आपको देखकर अब हम शरद्काली चन्द्र को भी देखना नहीं चाहते ॥

हेतुद्वितयमेवात्र परमानन्दसम्पद ।
परब्रह्मोपलब्धिर्वा सङ्गतम् वा भवादृशाम् ॥ ४४ ॥

हमारे परम आनन्दरूपी सम्पत्ति के केवल दो कारण हो सकते हैं— एक तो आप जैसे लोगों का दर्शन या परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति ॥ ४४ ॥

अकृत्वा भवत प्रश्न न स्थातुमहमुत्सहे।
धीरता मम भिन्दन्ति या कौतुकरसोर्मय ॥ ४५ ॥

आप से बिना प्रश्न किये तो मैं रह नहीं सकता। क्योंकि मेरी धीरता को कौतूहल रस की लहरें तोड़ रही हैं। अर्थात् धीरता का बाँध कौतुक रस के तेज आघात से टूट रहा है ॥ ४५ ॥

त्वया महीभृतामत्र वश केषामलङ्कृत ।
श्रोत्रपीयूषगण्डूप कानि नामाक्षराणि ते ॥ ४६ ॥

आपने (अपने जन्म से) किन राजाओं के वंश को अलङ्कृत किया है ? और कानों में अमृत-रस घोल देने वाले आपके नाम के कौन-कौन अक्षर हैं। अर्थात्—आप किस वंश के हैं और आपका नाम क्या है ? ॥ ४६ ॥

अनेन गुणिना सार्धं धनुषाऽनुचरेण च ।
केन कार्यातिभारेण त्वमेतामागतो भुवम् ॥ ४७ ॥

इस गुणशाली पुरुष तथा प्रत्यञ्चायुक्त धनुष के साथ आप किस विशेष कार्यभार से यहाँ इस जगह आये हैं ॥ ४७ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् राज्ञा सस्मितमीक्षितः ।
स्थित्वा क्षणमुवाचेदमिङ्गितज्ञो रमाङ्गदः ॥ ४८ ॥

रमाङ्गद के वाक्य

उस मुनि के इस प्रकार कहकर मौन हो जाने पर राजा ने जिसकी ओर हँसकर देखा था, ऐसा रमाङ्गद राजा के इशारे को समझ कर कुछ क्षण चुप रहकर फिर बोला ॥ ४८ ॥

अर्बुदाचलवर्णनम्

ब्रह्माण्डमण्डपस्तम्भः श्रीमानस्त्यर्बुदो गिरिः ।
उपोढहंसिका यस्य सरितः सालभञ्जिकाः ॥ ४९ ॥

अर्बुद पहाड़ का वर्णन

ब्रह्माण्ड रूपी मण्डप का खम्भा बना हुआ एक अत्यन्त शोभाशाली अर्बुद नाम का पहाड़ है । जिसकी नदियों के किनारे अनेक हंस हैं तथा जो इतने वेग से बहती हैं कि बड़े-बड़े साल वृक्ष भी उसके प्रवाह से टूट जाते हैं ॥ ४९ ॥

यः सूर्यांशुशलाकस्य विश्वस्योपरि विष्टतः ।
व्योमनीलातपत्रस्य दण्डत्वमधिरोहति ॥ ५० ॥

सूर्य की किरणें जिसकी कमाचियाँ (शलाकाएँ) हैं तथा जो इस संसार के ऊपर विराजमान है, ऐसे आकाश रूपी छत्र के नीचे वह पर्वत दण्ड की शोभा धारण करता है ।

विमर्श—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का चमत्कार पर्याप्त है ॥ ५० ॥

आदातुमवतंसाय स्वर्णदीहेमपुष्करम् ।
यः सेन्द्रनीलकटको भुवो भुज इवोद्धृतः ॥ ५१ ॥

जो नीलमणियों से युक्त धरती के उस उठे हुए हाथ की भाँति है, जो स्वर्ग की नदी मंदाकिनी के कमल को तोड़कर धरती को सजाने के लिये उत्सुक हो ॥ ५१ ॥

शिखरासन्ननक्षत्रो लक्ष्यते यः प्रतिक्षपम् ।
सशीकर इवोदस्तो हस्तः पातालदन्तिनः ॥ ५२ ॥

हर रात्रि को शिखर के समीपवर्ती नक्षत्रों के द्वारा वह ऐसा प्रतीत होता

है, मानो जैसे नन्हीं-नन्हीं पानी की बूँदों से युक्त उठायी हुई पातालगज की सूँड हो ॥ ५२ ॥

यस्य शृङ्गेन्द्रनीलांशुश्याममादित्यमण्डलम् ।
क्षणं पुटकिनीपत्रच्छत्राकृति विलोक्यते ॥ ५३ ॥

जिसके शिखर पर स्थित इन्द्रनील मणियों की नीलकिरणों से श्यामल सूर्यमण्डल जरा देर ऐसा दिखाई देता है, मानो कमलिनी के पत्तों का छत्र हो ॥ ५३ ॥

नीलकण्ठप्रिया कामं कृतपञ्चाननस्थितिः ।
यस्याग्रभूमिर्गौरीव गुहापीतपयोधरा ॥ ५४ ॥

जिसकी अग्रभूमि नीलकण्ठप्रिया = मोरों की प्यारी है, (पार्वती पक्ष में—शिव की प्यारी) और कृतपञ्चाननस्थिति = जहाँ शेरों ने अपना अड्डा बना रखा है, (पार्वती पक्ष में = जो शिव के साथ रहती है), गुहापीत-पयोधरा = जिसकी गुफाओं में बादल भरे रहते हैं। (पार्वती पक्ष में—भगवान् कार्तिकेय ने जिसका दूध पिया है, उस पार्वती की भाँति) ॥ ५४ ॥

अध सम्बद्धमेघेषु स्थिता यस्याग्रसानुषु ।
प्रावृड्विलासलास्यानामनभिज्ञा कलापिनः ॥ ५५ ॥

जिनके ऊपर मेघ मँडरा रहे होते हैं, ऐसे अग्र शिखरों पर बैठे हुए कुछ मोर वर्षाकालीन विलास के नृत्य को न जानने के कारण विमूढ़ रहते हैं ॥ ५५ ॥

इन्दुः कटकमाणिक्यं यस्य तुङ्गस्य भूभृतः ।
भुवो यस्य च कान्ताया मेखलामणिरंशुमान् ॥ ५६ ॥

वह पर्वत इतना ऊँचा है कि उसकी प्रियतमा भूमि के हाथ का मणिकङ्कण तो चन्द्रमा है, और सूर्य करधनी के मणि का काम करता है ॥ ५६ ॥

क्वचित्क्वचित् पतन्त्या यः कृष्णसारः शशित्विषा ।
कण्डूयते इवासन्ना शृङ्गेण हि मृगीं निशि ॥ ५७ ॥

इस पर्वत पर जब चाँदनी छिटकी रहती है, (चाँदनी रात में) तब कहीं-कहीं पर कृष्णसार मृग समीपवर्ती मृगी को मस्ती के साथ सींग से खुजलाता रहता है ॥ ५७ ॥

पाण्डुः शरद्घनैरूर्ध्वमधस्तालीवनासितः ।
यः कैलास इवाश्लिष्टः पौलस्त्यभुजसम्पदा ॥ ५८ ॥

जिसे ऊपर से तो शरत्कालीन मेघों ने श्वेत और नीचे ताड़ के वन ने

नीला बना दिया है, वह ऐसा मालूम पड़ रहा है, जैसे रावण की भुजाओं में कसा हुआ कैलाश पर्वत हो ॥ ५८ ॥

हरयः शेरते यस्य मत्तेभवधनिःस्पृहाः ।
गुहासु नखनिर्मुक्तमुक्तादन्तुरभूमिषु ॥ ५९ ॥

यह ऐसा पर्वत है, जहाँ नाखूनों से गिरे हुए गजमुक्ताओं से व्याप्त भूमिवाली गुफाओं में शेर हाथियों को मारने की इच्छा से विरत होकर सोते रहते हैं ॥ ५९ ॥

अलकच्युतमन्दारमकरन्दसुगन्धिभिः ।
अमर्त्यमिथुनक्रीडानिकुञ्जैर्यस्य सूच्यते ॥ ६० ॥

उस पर्वत की घनी झाड़ियाँ (रतिक्रीडा के समय) देवस्त्रियों के बालों से गिरे हुए मन्दारपुष्प के केसर की सुगन्धि से इस बात की सूचना देती रहती हैं कि यहाँ पर देव-गन्धर्व के जोड़ों ने रतिक्रीडा की है ॥ ६० ॥

उदञ्चदिन्द्रचापानि नानारत्नांशुपल्लवैः ।
सानूनि यस्य सेव्यन्ते द्वये चित्राशिखण्डिनः ॥ ६१ ॥

नाना प्रकार के रत्नों के किरण रूपी पत्तों से युक्त, जिनपर अनेक इन्द्र-धनुष उठ आये थे, ऐसे उस पर्वत के शिखरों पर विचित्र वर्ण के मोर रहा करते हैं ॥ ६१ ॥

पत्या सह वनान्तेषु विहरन्त्याऽद्रिकन्यया ।
नीयन्ते शोणतां यस्य शिलाः सालक्तकैः पदैः ॥ ६२ ॥

जंगलों के बीच अपने पति के साथ विचरण करने वाली पर्वतकन्या अपने अलता से युक्त चरणों से शिलाओं को लालवर्ण की बना देती है ॥ ६२ ॥

प्रतिभान्ति पुरस्तेऽपि यस्य वल्मीकवामनाः ।
शैलाः सुवेल–कैलास–महेन्द्र–मलयादयः ॥ ६३ ॥

जिस पर्वत के सामने वे लोकप्रसिद्ध सुवेल, कैलास, महेन्द्र, मलय आदि पर्वत भी दीमक के बनाये हुए छोटे-छोटे ढूहों की तरह दिखाई देते हैं ॥ ६३ ॥

वशिष्ठाश्रमवृत्तवर्णनम्

अति स्वाधीननीवारफलमूलसमित्कुशम् ।
मुनिस्तपोवनं चक्रे तत्रेक्ष्वाकुपुरोहितः ॥ ६४ ॥

वशिष्ठ आश्रम का वृत्तान्त-वर्णन

स्वच्छन्द रूप से धान्य, फल-मूल, लकड़ी, कुश जहाँ सुविधा से मिल

सकते हैं, ऐसे उस पर्वत पर इक्ष्वाकु वंश के पुरोहित वसिष्ठ मुनि ने भी अपना आश्रम बनाया था ॥ ६४ ॥

> हृता तस्यैकदा धेनुः कामसूर्गाधिसूनुना ।
> कार्तवीर्यार्जुनेनेव जमदग्नेरनीयत ॥ ६५ ॥

एक समय उन वसिष्ठ मुनि की कामधेनु को गाधिपुत्र विश्वामित्र उसी भाँति छीनकर ले जाने लगे, जैसे कार्तवीर्य अर्जुन नामक राजा जमदग्नि ऋषि की गाय कामधेनु को छीन कर ले गया था ॥ ६५ ॥

> स्थूलाश्रुधारासन्तानस्नपितस्तनवल्कला ।
> अमर्षपावकस्याभूद्धर्तुं समिदरुन्धती ॥ ६६ ॥

तब बड़े-बड़े आँसुओं की निरन्तर धारा बहाकर स्तन पर के वल्कल वस्त्र को गीला करती हुई वसिष्ठपत्नि अरुन्धती अपने स्वामी की क्रोधाग्नि के लिए समिधा का काम करने लगी । अर्थात् उसे रोते देखकर ऋषि का क्रोध अत्यन्त बढ़ गया ॥ ६६ ॥

> अथाथर्वविदामाद्यः समन्त्रामाहुतिं ददौ ।
> विस्फुलिङ्गोत्कटज्वालाजटिले जातवेदसि ॥ ६७ ॥

तब अथर्ववेद जाननेवालों में अग्रगण्य ऋषि ने भयानक ज्वालाएं जिसमें से निकल रही थीं और अतएव अत्यन्त घने अग्नि में मन्त्रपूर्वक आहुति दी ॥ ६७ ॥

> तत क्षणात् सकोदण्डः किरीटी काञ्चनाङ्गदः ।
> उज्जगामाग्नितः कोऽपि सहेमकवचः पुमान् ॥ ६८ ॥

तब क्षणभर में धनुष हाथ में लिए, मुकुट पहने, सोने के बाजूबन्द धारण किये हुए, सुनहला कवच पहने हुए कोई पुरुष अग्नि से निकला ॥ ६८ ॥

> दूरं स तमसेनेव विश्वामित्रेण सा हृता ।
> तेनानिन्ये मुनेर्धेनुर्दिनश्रीरिव भानुना ॥ ६९ ॥

विश्वामित्र जिस (गाय) कामधेनु को अपहरण कर ले गया था, उस गाय को वह पुरुष उसी भाँति लौटा लाया, जिस भाँति अन्धकार से अपहृत दिन की शोभा को सूर्य लौटा लाता है ॥ ६९ ॥

> ततस्तापसकन्याभिरानन्दाश्रुलवाङ्कितः ।
> कपोलः पाणिपर्यङ्कात् साश्रुलेशादपास्यत ॥ ७० ॥

तब आश्रमवासिनी तमाम तापसकन्याओं ने, जिन्होंने दुःख के कारण अपने जिन गालों को अश्रुलेशयुक्त हथेलीरूपी पर्यङ्क पर अबतक रखा था, अब ऊपर उठा लिया और अब उन पर आनन्दाश्रु बहने लगे ॥ ७० ॥

परमारवंशवर्णनम्

परमार इति प्रापत् स मुनेर्नाम चार्थवत् ।
मीलितान्यनृपच्छत्रमातपत्रं च भूतले ॥ ७१ ॥

परमारवंश का वर्णन

मुनि वशिष्ठ ने उसका परमार अर्थात् शत्रुओं को मारनेवाला यह सार्थक नाम रख दिया। जिसने धरती के समस्त नृपतियों के छत्र-चामर सम्पन्न राज्य को मिटा कर स्वयं राज्य किया ॥ ७१ ॥

प्रावर्तितातिविस्तीर्णसप्ततन्तुपरम्परः ।
पुराणकूर्मशेषं यश्चकाराम्भोनिधेः पयः ॥ ७२ ॥

उसने अत्यन्त विस्तीर्ण अपनी वंशपरम्परा का सातगुना प्रवर्तन किया। तथा समुद्रजल को मथकर उसने समुद्र को ऐसा बना दिया कि उसमें तो केवल प्राचीन कूर्म भगवान ही बचे रहे ॥ ७२ ॥

स्थापितैर्मणिपीठेषु मुक्ताप्रालम्बमालिभिः ।
भूरियं यज्वना येन हेमयूपैरपूर्यत ॥ ७३ ॥

यज्ञ करनेवाले उसने मणिमण्डित पीठों पर स्थापित तथा जिन पर मोतियों की झालरें लटकती थीं, ऐसे सुवर्णनिर्मित यज्ञ के खम्भों से सारी धरती को भर सा दिया

विमर्श—अर्थात् उसने अनगिनत यज्ञ किये, उस समय जो यज्ञस्तम्भ लगाये गये, उनसे सारी धरती व्याप्त हो गयी ॥ ७३ ॥

प्रशान्तचिन्तासन्ताने चिरेण नमुचिद्विपि ।
अमोच्यतास्तदैत्येन येनेर्ष्याकलहं शची ॥ ७४ ॥

चिरकाल से प्रभूत चिन्तासमूह के नष्ट हो जाने पर आनन्दित इन्द्र को उससे मुक्त कराकर इन्द्राणी का जो इन्द्र के प्रति ईर्ष्या और कलह था, उसे दूर कर दिया। अर्थात् दैत्यों के मारे जाने पर इन्द्र और इन्द्राणी आनन्द से रहने लगे ॥ ७४ ॥

वंशः प्रववृते तस्मादादिराजान्मनोरिव ।
नीतः सुवृत्तैर्गुरुतां नृपैर्मुक्ताफलैरिव ॥ ७५ ॥

उस राजा से एक बड़ा भारी वंश उसी तरह बढ़ा, जिस भाँति आदि राजा मनु से। फिर उस वंश के सदाचारी राजाओं ने अपने मोतियों के समान स्वच्छ आचरण से उस वंश को गौरवशाली बनाया ॥ ७५ ॥

तस्मिन्न पृथुप्रतापोऽपि निर्वापितमहीतलः ।
उपेन्द्र इति सञ्जज्ञे राजा सूर्येन्दुसन्निभः ॥ ७६ ॥

उस वंश में बहुत बड़ा प्रतापी, धरती को अपने पराक्रम से तृप्त करने-वाला, सूर्य-चन्द्र के समान देदीप्यमान उपेन्द्र नाम का राजा उत्पन्न हुआ।

विमर्श—इस श्लोक में विरोधाभास है। प्रथुप्रताप अर्थात् प्रखर घामवाला, और निर्वापितमहीतल अर्थात् पृथ्वी को शान्त शीतल करने वाला। जो प्रखर घामवाला है, वह शान्त करने वाला कैसे हो सकता है। पर बाद में सूर्येन्दु पद का प्रयोग कर इस विरोध का परिहार किया गया है। अर्थात् सूर्य के समान प्रखर प्रताप अर्थात् यश वाला और चन्द्र के समान पृथ्वी को शान्त करने वाला ॥ ७६ ॥

सदागतिप्रवृत्तेन सीतोच्छ्वसितहेतुना।
हनूमतेव यशसा यस्याऽलङ्घ्यत सागरः ॥ ७७ ॥

वायु के द्वारा प्रवृत्त अथवा वायु के समान प्रवृत्ति वाले, सीता को राहत दिलाने के कारण यश स्वरूप श्री हनुमान् की तरह उस राजा के यश ने भी समुद्र पार किया, अर्थात् सागरपर्यन्त उसका यश फैला ॥७७॥

शङ्कितेन्द्रेण दधता पूतामवभृथैस्तनुम्।
अकारि यज्वना येन हेमयूपाङ्किता मही ॥ ७८ ॥

अनेक यज्ञ करके जिसने इन्द्र के मन में भी भय उत्पन्न कर दिया था तथा अनेक अवभृथस्नानों से पवित्र शरीर वाले उस यज्ञकर्ता राजा ने सोने के यज्ञस्तम्भों से धरती को सजा दिया। अर्थात् उसने इतने यज्ञ किये कि सारी पृथ्वी में यज्ञस्तम्भ छा गये ॥ ७८ ॥

अत्यच्छदशनोद्गच्छदंशुलेखातरङ्गिभिः।
दीर्घैर्यस्यारिनारीणां निःश्वासैश्चामरायितम् ॥ ७९ ॥

अत्यन्त स्वच्छ दाँतों से निकलती हुई श्वेत रेखाओं की दीर्घ तरङ्गों वाले शत्रुनारियों के गहरे श्वासों ने उसके श्वेत चामरों का काम किया।

विमर्श—उसने तमाम शत्रुओं को जीत लिया था। मृत शत्रुओं की पत्नियों का दुःखावेग के कारण निःश्वास उसके लिए चामर का काम करने लगा—यह उत्प्रेक्षा है ॥ ७९ ॥

तस्मिन् गते नरेन्द्रेषु तदन्येषु गतेषु च।
तत्र वाक्पतिराजाख्यः पार्थिवेन्दुरजायत ॥ ८० ॥

उस राजा की मृत्यु के पश्चात् तथा उसके बाद के अनेक राजाओं के बाद राजाओं में श्रेष्ठ वाक्पतिराज नामक एक राजा उस वंश में उत्पन्न हुआ ॥ ८० ॥

दीर्घेण चक्षुषा लक्ष्मीं भेजे कुवलयस्य यः।
नारीणां दिशताऽऽनन्दं दोष्णा सत्तारकेण च ॥ ८१ ॥

वह कुवलय (नीलकमल) की शोभा को अपने दीर्घ नयनों में धारण करता था। अर्थात् उसके नेत्र कमल जैसे थे। और सज्जनों को तारनेवाली अपनी भुजा से नारियों को वह आनन्द देता था ॥ ८१ ॥

शिथिलीकृतजीवाशाः यस्मिन् कोपान्नतभ्रुवि।
निन्युःशिरांसि स्तब्धानि न धनूंषि नतिं नृपाः ॥ ८२ ॥

क्रोध से जब वह भौंहें चढ़ा लेता था, तब अपने जीवन की आशा त्यागनेवाले राजा लोग शीघ्र ही उसके सामने अपने सिर झुका देते, पर अपने धनुष न झुकाते, अर्थात् धनुष पर बाण न चढ़ाते ॥ ८२ ॥

वैरिसिंह इति प्रापज्जन्म तस्माज्जनाधिपः।
कीर्तिभिर्यस्य कुन्देन्दुविशदाभिः सदायितम् ॥ ८३ ॥

उस राजा से वैरिसिंह नाम के राजा ने जन्म लिया, जिसकी कुन्द-पुष्प और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश की चाँदनी का चारों ओर विस्तार हुआ ॥ ८३ ॥

पौलोमीरमणस्येव यस्य चापे विलोकिते।
चकितैः सरसीव क्ष्माराजहंसैरमुच्यत ॥ ८४ ॥

उस राजा के धनुष को देखते ही चकित राजा लोग जहाँ-तहाँ धरती को छोड़कर उसी भाँति भागते थे, जैसे शरद्‌काल में इन्द्रधनुष को देखकर राजहंस तड़ागों को छोड़ने लगते हैं ॥ ८४ ॥

श्री सीयक इति क्षेत्रं यशसामुदभूत्ततः।
दिलीपप्रतिमः पृथ्वीशुक्तिमुक्ताफलं नृपः ॥ ८५ ॥

उस राजा से यश का मानो क्षेत्रभूत श्री सीयक नामक राजा हुआ। वह दिलीप के समान अत्यन्त प्रतापी तथा धरतीरूपी सीप का अमूल्य मोती था ॥ ८५ ॥

लक्ष्मीरधोक्षजस्येव शशिमौलेरिवाम्बिका।
वडजेत्यभवद्देवी कलत्रं यस्य भूरिव ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार विष्णु भगवान् की स्त्री लक्ष्मी थी, जिस प्रकार शंकर की स्त्री पार्वती थी, उस राजा की भी "वडजा" नाम की स्त्री थी, जो उसे धरती के समान ही प्यारी थी ॥ ८६ ॥

अखण्डमण्डलेनाथ प्रजापुण्यैर्महोदयम्।
कलिसन्तमसं येन व्यनीयत नृपेन्दुना ॥ ८७ ॥

पूर्ण चन्द्रमा की भाँति अपने अखण्ड राजमण्डल से पूर्ण होकर जिसने

प्रजा को पुण्यमार्ग पर लगाकर अत्यधिक बढे हुए कलिकाल के पापान्धकार को दूर कर दिया ॥ ८७ ॥

वशी कृताक्षमालो थ क्षमामत्यायता दधन् ।
राज्याश्रममलञ्चक्रे राजर्षि कुशाचीवर ॥ ८८ ॥

अत्यन्त विस्तृत धरती पर राज्य करते हुए उस राजर्षि ने भगवान् शंकर को प्रसन्न किया और वल्कल वस्त्र धारण करके ही राजकार्य देखने लगा ॥ ८८ ॥

स्मितज्योत्स्नादरिद्रेण बाष्पस्नानिमुखेन्दुना ।
शशामुविजय यस्य रुद्रपाटीपतिस्त्रिय ॥ ८६ ॥

रुद्रपाटी के राजा की स्त्रियों ने भी हास्यकान्ति से रहित तथा अश्रुप्रवाह से युक्त मुखेन्दु से उसके विजय के गीत गाये ॥ ८९ ॥

अकङ्कणमकेयूरमनूपुरममेखलम् ।
हूणावरोधनैधव्यदीक्षादान व्यधत्त य ॥ ६० ॥

बिना कङ्कण वाली, बिना बाजूबन्द वाली, बिना नूपुर वाली, बिना मेखला वाली हूणराजा की स्त्रियों को मानो उसने विधवा बनाने की दीक्षा (मन्त्र) दी । अर्थात् हूणों को मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना दिया ॥ ६० ॥

नायकवर्णनम्

अयं नेत्रोत्सवस्तस्मात् जज्ञे देव पितृप्रिय ।
जगत्तमोपहो नेत्रादत्रेरिव निशाकर ॥ ६१ ॥

नायक का वर्णन

उस राजा से फिर सबके नेत्रों को आनन्द देनेवाला, पिता का प्यारा हमारा राजा (सिन्धुराज) उसी प्रकार उत्पन्न हुआ, जिस प्रकार जगत् के अन्धकार को दूर करनेवाला चन्द्रमा अत्रिऋषि के नेत्रों से उत्पन्न हुआ था ॥ ६१ ॥

श्रीमद्वाक्पतिराजोभूदग्रजोऽस्याग्रणी सताम् ।
सगरापत्यदत्ताब्धिपरिखाया पतिर्भुव ॥ ६२ ॥

हमारे इन नायक के बड़े भाई, सज्जनों में अग्रगण्य वाक्पतिराज नाम से हुए । सगर के पुत्रों के द्वारा निर्मित समुद्र रूपी खाइयों वाली इस धरती के जो एकमात्र शासक हुए ॥ ६२ ॥

अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्त सातवाहने ।
कविमित्रे विशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती ॥ ६३ ॥

जब विक्रमादित्य समाप्त हो चुके और सातवाहन भी अस्त हो गये अर्थात्

मर गये, तब इस कवियों के मित्र इसी राजा का ही आश्रय देवी सरस्वती ने भी लिया। अर्थात् विक्रमादित्य और सातवाहन के बाद यही एक राजा परमप्रतापी विद्वान् हुआ ॥ ६३ ॥

चक्रिरे वेधसा नूनं निर्व्याजौदार्यशालिनः।
ते चिन्तामणयो यस्य निर्माणे परमाणवः ॥ ६४ ॥

विधाता ने जिस निष्कपट और उदारता से सुशोभित राजा के निर्माण में मानो चिन्तामणियों को परमाणु रूप में उपयोग में लाया ॥ ६४ ॥

यशोभिरिन्दुशुचिभिर्यस्याच्छतरवारिजैः।
अपूर्यतेयं ब्रह्माण्डशुक्तिर्मुक्ताफलैरिव ॥ ६५ ॥

जिसके चन्द्रमा के समान उज्ज्वल स्वच्छ कमलों के समान यश रूपी मणियों से यह ब्रह्माण्ड रूपी सीप उसी प्रकार भरी थी, जिस प्रकार समुद्र की सीप मोतियों से भरी रहती है ॥ ६५ ॥

श्रियं नीलाब्जकान्त्या यः प्रणयिभ्यो ददौ दृशा।
अरातिभ्यश्च सहसा जह्रे निस्त्रिंशलेखया ॥ ६६ ॥

जिसने अपनी नीलकमल की कान्ति वाली दृष्टि से अपने प्रेमियों को लक्ष्मी दी अर्थात् उसकी तरफ देखकर उसके बन्धु-बान्धव प्रसन्न होते और शत्रुओं की लक्ष्मी को तलवार की धार से अकस्मात् छीन लिया ॥ ६६ ॥

अंसः सवल्कलग्रन्थिः सजटापल्लवं शिरः।
चक्रे येनाहितस्त्रीणामक्षसूत्राङ्कितः करः ॥ ६७ ॥

जिसने शत्रुस्त्रियों के कंधे को वल्कल वस्त्र की गाँठ से तथा सिर जटा-पल्लव से युक्त कर दिया तथा हाथ को रुद्राक्ष की माला से अंकित बना दिया। अर्थात् अपने तमाम शत्रुओं को मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना दिया ॥ ६७ ॥

पुरं कालक्रमात्तेन प्रस्थितेनाम्बिकापतेः।
मौर्वीकिणाङ्कवत्यस्य पृथ्वी दोष्णि निवेशिता ॥ ६८ ॥

कुछ काल पश्चात् अम्बिकापति भगवान् शंकर के नगर की ओर प्रस्थान करने वाले उसने धरती का भार धनुष की डोरी से चिह्नित इस सिन्धुराज की भुजाओं पर रखा ॥ ६८ ॥

प्रशास्ति परितो विश्वमुज्जयिन्यां पुरि स्थितः।
अयं ययाति-मान्धातृ-दुष्यन्त-भरतोपमः ॥ ६६ ॥

तब से ययाति, मान्धाता, दुष्यन्त और भरत के समान प्रतापी यह राजा उज्जयिनी नगरी में ही रहकर समस्त विश्व के राज्य का संचालन कर रहा है ॥ ६६ ॥

अनेनास्त कपोलेषु पाण्डिमा रिपुयोषिताम् ।
समाहृत्येव तद्भर्तृयशांसि बाहुशालिना ॥ १०० ॥

बलवान् बाहुवाले इस राजा ने शत्रुओं को मार कर उनका यश हरण करके उनकी नारियों के कपोलों को पीला (फीका) बना दिया ॥ १०० ॥

सदा समकरस्यास्य लक्ष्मीकुलगृहस्य च ।
सिन्धुराज इति व्यक्तं नाम दुग्धोदधेरिव ॥ १०१ ॥

सदा समान रहने वाले, लक्ष्मी को अपने कुल में स्थिर रखने वाले, इस राजा का स्वच्छ एवं उज्ज्वल दूध के समुद्र के समान "सिन्धुराज" यह नाम है ॥ १०१ ॥

अनेन विहितान्यत्र यत् साहसशतान्यतः ।
नवीनसाहसाङ्कोऽयं वीरगोष्ठीषु गीयते ॥ १०२ ॥

इसने साहस के सैकड़ों काम पृथ्वी पर किये, इसलिये वीर गोष्ठियों में (सभाओं में) इसे नवसाहसाङ्क नाम से पुकारा जाता है ॥ १०२ ॥

विन्ध्यान्तश्चरतानेन मृगयासक्तचेतसा ।
कन्या शशिप्रभा नाम नागसूतिरदृश्यत ॥ १०३ ॥

शिकार खेलने में लगे हुए, विन्ध्याचल के वनों में विचरण करते हुए इस राजा ने शशिप्रभा नाम की नागपुत्री को देखा ॥ १०३ ॥

अदृश्यैरथ सा नागैरस्य पार्श्वादनीयत ।
तामन्वेष्टुं प्रविष्टेन कुतूहलवशादिह ॥ १०४ ॥

अदृश्य रूप में इसके पास से ही उस नागकन्या को नाग लोग हरण करके ले गये। तब कुतूहल से उसे ढूँढने के लिए वन में प्रविष्ट हुए इस राजा ने ॥ १०४ ॥

समणिस्तम्भमग्रेऽथ दृष्टं धाम हिरण्मयम् ।
तत्र मूर्ता ततः सिन्धुरिन्दुसूतिर्विलोकिता ॥ १०५ ॥

कुछ ही आगे मणि के खम्भों से बना हुआ एक सोने का भवन देखा, और उसमें चन्द्रमा की पुत्री नर्मदा नदी को स्त्रीरूप में देखा ॥ १०५ ॥

अकृतातिथ्यमेतस्य भक्तिनम्रस्य सा ततः ।
नीता पृष्टेन चैतेन स्ववार्तायामभिज्ञताम् ॥ १०६ ॥

तब भक्ति से नम्र इस नृपति का अतिथिसत्कार नर्मदा नदी ने किया। फिर इसने उसके पूछने पर उसे अपना सारा हाल कहा ॥ १०६ ॥

ततो वज्राङ्कुशोद्यानहेमाब्जाहृतिसाहसम् ।
हेतुं शशिप्रभावाप्तेर्विवृत्या वेदितस्तया ॥ १०७ ॥

तब भगवती नर्मदा ने वज्राङ्कुश दैत्य के बगीचे मे स्वर्णकमल को साहसपूर्वक लाने से शशिप्रभा की प्राप्ति होगी, इस बात को समुचित ढंग से इसे समझाया ॥ १०७ ॥

असूचयत् प्रसंगेन त्रिविष्टपरिपोरथ ।
उदग्रमसुरेन्द्रस्य वीर्यं वज्राङ्कुशस्य सा ॥ १०८ ॥

फिर प्रसंग ही प्रसंग में देवताओं के शत्रु भयानक उस दैत्य वज्राङ्कुश के प्रखर पराक्रम के विषय में भी कुछ सूचना दी ॥ १०८ ॥

*ततस्तम्प्रत्यमर्षोऽस्य झटित्यङ्कुरितो हृदि ।
अन्यत्र वीरवृत्तेर्यदयमेकान्तमत्सरी ॥ १०९ ॥

उसी क्षण इस सिन्धुराज के हृदय में उस वज्राङ्कुश के प्रति कोप अंकुरित हो गया। क्योंकि यह किसी अन्य जगह किसी वीर के होने का अत्यन्त मत्सरी ही है ।

विमर्श—अर्थात् अमुक एक जगह पर अमुक वीर है, इस बात को यह किसी तरह सहन कर ही नहीं सकता ॥ १०९ ॥

पन्थाः पुरोऽसुरस्याथ प्राञ्जलेः शंसितस्तया ।
असूच्यताग्रतश्चेतदमोघं दर्शनं तव ॥ ११० ॥

हाथ जोड़े हुए राजा से नर्मदा ने कहा कि सामने ही उस दैत्य की नगरी का रास्ता है। (जाओ) और यह भी बता दिया कि रास्ते में आपका (मुनि का) सफल दर्शन भी होगा ॥ ११० ॥

अथेदं रत्नवलयं दत्त्वास्यै सममाशिषा ।
कान्ता तिरोहिता सा च पुरुकुत्सस्य भूपतेः ॥ १११ ॥

तब आशीर्वाद के साथ-साथ नृपति को एक रत्न-कंकण देकर पुरुकुत्स भूपति की कान्ता नर्मदा देखते ही देखते तिरोहित हो गई ॥ १११ ॥

अथैतेन गृहीतेयं यात्रा वज्राङ्कुशम्प्रति ।
एषा च सुकृतैर्दृष्टा पादपद्मद्वयी तव ॥ ११२ ॥

इस प्रकार हे श्रीमन् ! इस नृपति ने वज्रांकुश के प्रति यात्रा प्रारम्भ कर दी है। और अत्यन्त पुण्यों के कारण ही आपके इन चरण-कमलों का दर्शन हुआ है ॥ ११२ ॥

वङ्कमुनिवाक्यम्

इत्युक्त्वा सूक्तिचतुरो विरराम रमाङ्गदः ।
आददे मुनिरप्युचद्दन्तांशुशवलं वचः ॥ ११३ ॥

---

* ताराङ्कित श्लोक कुछ संस्करणों में नहीं है ।

वङ्कमुनि के वचन

यह कहकर सुन्दर वाणी बोलने में चतुर रमाङ्गद चुप हो गया। फिर मन्द मन्द हँसते हुए वङ्कमुनि ने ये वचन कहे। उस समय उनके दाँतों की कान्ति से उनके वचन सने मालूम पड़ रहे थे॥ ११३॥

अहो पुराणराजर्षिसन्तानकथयैतया।
पुण्ययाहृतमात्मानमधुना मन्महे वयम्॥ ११४॥

अहो, पुराने राजर्षि के वंश की इस पवित्र कथा को सुनकर हम अपने आपको धन्य समझ रहे हैं॥ ११४॥

अवश्यंभाविनी तत्र सिद्धिः साहसिकस्य ते।
शल्यं त्रिविष्टपस्यास्य हृदयादुद्धरिष्यसि॥ ११५॥

तुम जैसे साहसपूर्ण व्यक्तियों को सिद्धि अवश्य मिलेगी। अर्थात् तुम अपने कार्य में अवश्य सफल होओगे। और निश्चित ही तुम देवलोक के हृदय से उस दैत्य रूपी काँटे को निकाल फेंकोगे। अर्थात् वज्राङ्कुश को मार कर स्वर्ग को निर्भय कर दोगे॥ ११५॥

एष वज्राङ्कुशाम्याजौ नाऽकृत्वाऽन्त्यं निवर्तिता।
भुजो भुवनभर्तुस्ते दिङ्नागकरपीवर॥ ११६॥

दिग्गज की सूंड के समान पुष्ट, जगत् के स्वामी तुम्हारी भुजा वज्राङ्कुश को मारे बिना न रहेगी, उसको मारे बिना तुम लौटोगे नहीं॥११६॥

वधूस्तवाचिरेणात्र भविष्यति शशिप्रभा।
यथा कुवलयाश्वस्य दिवः कन्या मदालसा॥ ११७॥

शीघ्र ही शशिप्रभा तुम्हारी स्त्री हो जायगी, जैसे कि देवकन्या मदालसा कुवलयाश्व की स्त्री हो गई थी॥ ११७॥

स्थिरो भव मितं कालं स्थित्वाऽस्मिन् नस्तपोवने।
त्वया विनीयतामेष दीर्घाध्वजनितः श्रमः॥ ११८॥

तुम कुछ समय तक शान्त रहो, और इस तपोवन में रहकर लम्बे-चौड़े रास्ते में चलने से उत्पन्न थकान को दूर करो॥ ११८॥

सिन्धुराजवाक्यम्

इत्युक्ते मुनिना सोऽथ राजेन्द्रैरिदमब्रवीत्।
आज्ञा विलङ्घ्यते तात तव केन जगद्गुरो॥ ११९॥

सिन्धुराज के वचन

मुनि के इस प्रकार कहने पर उस राजचन्द्र ने कहा कि श्रीमान्! आप जैसे जगद्गुरु की आज्ञा कौन टाल सकता है अर्थात् मुझे आपकी आज्ञा स्वीकृत है॥ ११९॥

अथ क्रमोन्मीलितसौहृदासु कथास्वनेकासु मिथः कृतासु ।
विश्रम्यतामित्यवदन्महर्षिः पतिं पृथिव्याः प्रथितप्रभावः ॥ १२० ॥

फिर बहुत समय तक आपस में मैत्रीपूर्ण अनेक कथावार्ता चलती रहीं, अन्त में प्रसिद्ध प्रभाववाले महर्षि ने राजा से कहा कि अब आप विश्राम करें ॥

देवस्ततः स मुनिकल्पितमिन्द्रनीलपर्यङ्कवत् कनकवेदिसनाथमध्यम् ।
अध्यास्त रत्नसदनं परितो वितानव्यालम्बिमौक्तिकलतं नवसाहसाङ्कः॥१२१॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये वङ्कुमहर्षिदर्शनं नाम एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

तब राजा नवसाहसाङ्क सिन्धुराज ने मुनि की बनाई हुई इन्द्रनील-मणियों जैसी सोने की वेदी से सुसज्जित, जिसके चारों ओर मोती के गुच्छों की तरह लतापुष्प लटक रहे थे, उस रत्नभवन में विश्राम किया ॥ १२१ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्कचरित का ११ वां सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः सर्गः

अथ मानवमीनलक्ष्मणो मणिपर्यङ्कगतस्य तस्य सा ।
अपतन् फणिराजकन्यका जगदेकाभरणं स्मृते पथि ॥ १ ॥

बारहवाँ सर्ग

इसके पश्चात् मणिजटित पलङ्ग पर लेटे हुए मनुष्यों में कामदेवस्वरूप उस राजा नवसाहसाङ्क के स्वप्न में जगत् की एकमात्र सर्वश्रेष्ठ आभरण-भूत नागराजपुत्री शशिप्रभा आई ॥ १ ॥

व्यधितप्रणय दृशां पुर कमनीयेषु य येषु वस्तुषु ।
जनितोत्कलिकाशतं स तैररतेरायतन व्यनीयत ॥ २ ॥

आँखों के सामने ही जिन जिन सुन्दर वस्तुओं को देखकर उसके शरीर के सामने सैकड़ों रोमाञ्चित हो आते थे, आज शशिप्रभा के सामने वे सब वस्तुएँ अरुचि का घर बन गयीं ।

विमर्श—अर्थात् पहले जिन जिन वस्तुओं को देखकर वह फूला नहीं समाता था, आज शशिप्रभा के सौन्दर्य के सामने वे सभी चीजें उसे तुच्छ लग रही हैं ॥ २ ॥

मुहुरङ्गलताविवर्तनै श्वसितै शून्यविलोकनेन च ।
क्षितिभर्तुरुपान्तवर्तिना मदनार्त्तकमन्वमीयत ॥ ३ ॥

बार-बार करवट बदलने के कारण, गहरी श्वाँस लेने के कारण, शून्य आकाश की ओर देखने के कारण राजा के समीप में स्थित रमाङ्गद ने समझ लिया कि इसे कामपीडा सता रही है ॥ ३ ॥

कदलीदलदत्तमारुतो हृदयन्यस्तमृणालकन्दल ।
अथ तस्य बभूव यत्नवान् उपचारे शिशिरे रमाङ्गद ॥ ४ ॥

केले के पत्तों से हवा करके, और हृदय पर कमल की कोमल डण्डियों को धर कर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कार्यों द्वारा रमाङ्गद राजा के लिए ठण्डे ठण्डे उपाय करने लगा ॥ ४ ॥

अभवद्द्वयमेव भूपते स्मरतप्तस्य मनोविनोदनम् ।
मुदृश स करातिथि शर स च हार स्तनच दनाङ्कित ॥ ५ ॥

कामपीडा से व्याकुल उस राजा के मन को आराम देनेवाली केवल दो ही वस्तुयें थीं । एक तो उस सुन्दर नेत्रों वाली शशिप्रभा के स्तनों पर लगे

चन्दन से सना हुआ हार, और दूसरा वह बाण, जो कितने ही समय तक उस रमणी के हाथों में रहा ॥ ५ ॥

मदनान्तरितोऽपि लङ्घितः पथि जातेन परिश्रमेण सः ।
स्तिमितः क्षणमास्त कौमुदीविशदक्षौमतिरोहिताननः ॥ ६ ॥

कामभावना से पीड़ित होने पर भी रास्ते की थकावट ने उस पर अपना कब्जा कर लिया। वह चाँदनी सी श्वेत रेशमी चादर से अपने मुख को ढँक कर थोड़ी देर तक (निद्रादेवी की आराधना करने के लिये) चुपचाप पड़ा रहा ॥ ६ ॥

अथ पार्श्वचरेण सादरं मृदुसंवाहितपादपल्लवः ।
स कुरङ्गदृशेव निद्रया चतुरं लोचनयोरचुम्ब्यत ॥ ७ ॥

जब समीपवर्ती रमाङ्गद ने अच्छी तरह से आदरपूर्वक राजा के पैर दबाये, तब मृगी के समान नेत्र वाली स्त्री की भाँति ही नींद ने राजा के नेत्रों को चूम लिया, अर्थात् राजा को नींद आ गयी ॥ ७ ॥

स्वपुरोपवने समुत्सुकः सुमुखीं स्वप्नपथेन पार्थिवः ।
अवतंसितहेमपङ्कजाम् अथ तामङ्कगतां व्यलोकयत् ॥ ८ ॥

तब उस राजा ने स्वप्न में देखा कि स्वर्ण(पीत)कमल के आभरणों को सारे शरीर में पहनी हुई सुन्दर मुख वाली वह शशिप्रभा राजा के ही नगर के बगीचे में उसकी ही गोद में है ॥ ८ ॥

अभिकान्तमपाङ्गपातिना जितनीलाब्जदलेन चक्षुषा ।
दधतीमपवर्तितं ह्रिया मुखमापाण्डुकपोलमण्डलम् ॥ ९ ॥

नील-कमल के पत्तों से भी अधिक सुन्दर, तीखे कटाक्षपात करनेवाले नेत्र से अभिमण्डित, तथा लज्जा के कारण दूसरी ओर घुमाया हुआ एवं गालों का रंग सुर्ख हो जाने से अत्यन्त रमणीय उसका मुख था ॥ ९ ॥

शरदिन्दुमरीचिनिर्मलं विगलद्वेपथुना स्तनांशुकम् ।
मुहुराक्षिपतीमलक्षितं श्लथमुक्तावलयेन पाणिना ॥ १० ॥

वह ढीले कंकण वाले काँपते हुए हाथ से शरदकालीन चन्द्रमा की भाँति निर्मल स्तनों पर स्थित आँचल को चुपके-चुपके धीरे-धीरे हटाती थी ॥ १० ॥

नवपल्लवकान्तिना किमप्यचिरावासितपुष्पकेतुना ।
ललितामधरेण बिभ्रतीं मुखचन्द्रांशुसटां स्मितच्छटाम् ॥११॥

वह नये लाल पल्लव की भाँति लाल और काम ने जिसे तत्क्षण सुगन्धित कर दिया था, ऐसे सुन्दर होठों पर मुख रूपी चन्द्रमा मानो किरणावली हो, ऐसी सुन्दर हँसी को धारण किये हुए थी ।

विमर्श—स्मितच्छटा मुखरूपी चन्द्रमा की किरण पंक्ति हो—यह रूपक अलङ्कार सुन्दर बन पड़ा है ॥ ११ ॥

जगदेकविलोकनोत्सवे वपुषि स्वेदकणैरलङ्कृताम् ।
उदितामिव मन्दराहतात् उदधेर्लग्नसुधालवां श्रियम् ॥ १२ ॥

उसके समस्त संसार में देखने में सुन्दर शरीर की शोभा पर पसीने की बूँदें झलकी थीं, जिससे उसका शरीर ऐसा दिखाई दे रहा था, मानो मन्दराचल के मथने से समुद्र में से अमृत बिन्दुओं से सनी लक्ष्मी आई हो ॥१२॥

वलिताङ्गुलि सङ्कुचाङ्गुलिम्बकराश्लेषविशेषकम्पिनी ।
पुलकिन्यधिकं विमुक्तवों चकितं वामकुचे विलोचने ॥ १३ ॥

अपने हाथ की अँगुलियों को वह मुट्ठी की तरह बाँधने के लिए घुमाकर धीरे से अपने स्तनों पर रख देती थी, जिससे उसके स्तन और भी काँपने लगते। तब वह रोमाञ्चित होकर विस्मय के साथ अपने टेढ़े स्तन को देखने लगती ॥ १३ ॥

अतिभासुररत्नकुण्डलाम् अतिकान्तायतहारमण्डलाम् ।
जघनस्थलहेममेखलाम् असमेषोरधिदेवतामिव ॥ १४ ॥

वह अत्यन्त चमकते हुए कुण्डलों तथा, अति मनोहर और लम्बा हार पहने थी। जघनस्थल तक लटकती हुई करधनी तो ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो कामदेव की अधिष्ठात्री देवता हो ॥ १४ ॥

नायकोक्तिः

अथ सस्मितमात्तवेपथु पतिते मन्मथपत्रिणां पथि ।
इति तां प्रणयाद्रया गिरा स किलाम्भोजमुखीमवोचत ॥ १५ ॥

नायक का कथन

कामबाणों से व्याकुल, हँसते और कुछ काँपते हुए उस राजा ने कमल के समान मुख वाली उस सुन्दरी से यों प्रेमपगी वाणी कही ॥ १५ ॥

वलितं न विभाति पृष्ठतः कबरीकान्तमिदं तवाननम् ।
अपि नीलपयोदलेखया सपरिष्वक्तमिवेन्दुमण्डलम् ॥ १६ ॥

पीछे से सुन्दर वेणी धारण करने वाला तुम्हारा यह मुख जो तुमने दूसरी ओर घुमा रखा है, यह ठीक नहीं लग रहा है, जैसे चाँद को काले बादल का टुकड़ा ढँक ले, तब वह शोभा नहीं पाता है। अर्थात् अब इस तरह मुख मोड़कर बैठना ठीक नहीं ॥ १६ ॥

इदमङ्कवर्तिना करेर्मणिना रुद्धमिवेरितं ह्रिया ।
न समर्थमितोपवर्तितुं वदनं ते ललिताङ्गि का गतिः ॥ १७ ॥

हे सुन्दर शरीर वाली ! क्या बताऊँ, हाथों पर स्थित बाजूबन्द पर लगे मणि को सम्मुख कर लज्जा के कारण झुके तुम्हारे मुख को मैं इधर मोड़ भी नहीं सकता ॥ १७ ॥

इदमर्धविलोकिताधरं मधुरापांगतरङ्गितेक्षणम् ।
श्रियमातनुते सितासितं सुतनु त्र्यश्रुविलोकितं तव ॥ १८ ॥

नायिका किस प्रकार देखती है, इसका वर्णन करते हैं। 'हे सुतनु, अधरोष्ठ का आधा भाग जिसमें दिखाई पड़ रहा है, तथा कटाक्ष से नेत्रों को बार-बार तरङ्गित करने वाला अतएव श्वेत तथा कृष्ण वर्ण का तुम्हारा 'देखना' अजीब शोभा धारण कर रहा है ॥ १८ ॥

मिलितस्तव गण्डलेखया सुदति स्वेदलवार्द्रपत्त्रया ।
किमपि स्पृहणीय एष मे मरुदासन्नदिनान्तशीतलम् ॥ १६ ॥

हे सुन्दर दाँतों वाली ! पसीने की बूँदों से आर्द्र चन्दनादि की पत्रलेखा वाले कपोल से मिला हुआ यह सायंकालीन शीतल पवन मेरे लिए अत्यन्त स्पृहणीय हो गया है ॥ १६ ॥

अयमुत्पलपत्त्रलोचने तव बिम्बाधरपाटलच्छविः ।
अवलोकय कर्तुमीहते पदमस्ताचलचूलके रविः ॥ २० ॥

हे कमल की पंखुड़ियों के समान नेत्रोंवाली। तुम्हारे रक्तवर्ण वाले अधर की कान्ति के समान कान्ति वाला यह रक्त वर्ण का सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ रहा है, देखो ॥ २० ॥

दुरितघ्नमिदं सुदर्शनं दधता बिम्बमनूरुसारथेः ।
स्मरलक्ष्मि विहायसाऽमुना तव कृष्णेन हृते विलोचने ॥ २१ ॥

हे कामदेव की शोभास्वरूप शशिप्रभे ! अन्धकार का नाश करने वाले, सुन्दर दिखाई देनेवाले सूर्यमण्डल को धारण करने वाले इस काले आकाश ने तुम्हारे नेत्रों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है।

विमर्श—अर्थात् आकाश की शोभा अत्यन्त मनोहर दिखाई पड़ रही है, जिससे सुन्दरी नायिका उसकी ओर देखने लगी है ॥ २१ ॥

अरविन्दकरेण लोहितं कमलिन्या धृतमातपांशुकम् ।
इदमुष्णकरेण कृष्यते वलितेनापरदिग्वधूम्प्रति ॥ २२ ॥

सूर्यास्त के कुछ समय पहले लगभग सांयकाल में, जब कि सूर्य मध्य आकाश से पश्चिम दिशा की ओर ढलने लगता है, उस समय उसका घाम भी उसके साथ-साथ कम होता जाता है। इसी पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि उत्तर दिशारूपी नायिका की ओर मुड़ा हुआ यह सूर्य अपने कमलरूपी हाथों से कमलिनी के आतपरूपी वस्त्र को पकड़कर खींचे ले जा रहा है ॥ २२ ॥

करुणार्पितलोचनं मिथः क्रमविश्लेषगलद्बिसाङ्कुरम् ।
इदमार्द्रयतीव मे मनो मिथुनं मानिनि चक्रवाकयोः ॥ २३ ॥

हे मानवती प्रिये ! परस्पर वियोग के दुःख से कमल के टुकड़ों को खाना भी जिन्होंने छोड़ दिया है, और अत्यन्त करुण नेत्रों से जो एक दूसरे की ओर देख रहे हैं, उन चकवा चकवी के जोड़े को देखकर मेरा मन पसीज रहा है ॥२३॥

अवलोकय भीरु सम्प्रति त्रितयेन त्रितयं वियुज्यते ।
द्युमणिः प्रभया श्रियाम्बुजं प्रियया साश्रुरयं विहङ्गमः ॥ २४ ॥

हे भीरो ! इस समय ज़रा देखो तो कि तीन चीजें तीन चीजों से विलग हो रही हैं, सूर्य अपनी प्रभा से अलग हो रहा है, कमल मुरझाने से अपनी शोभा से मुक्त हो रहा है और रोता हुआ यह पक्षी (चकवा) अपनी प्रियतमा से वियुक्त हो रहा है ॥ २४ ॥

इदमम्बरपल्वलोदरात् अतिताम्रद्युतिकालदन्तिना ।
रविवारिरुहं निरस्यते कनकस्निग्धमयूखकेसरम् ॥ २५ ॥

यह देखो, आकाश रूपी बावलि में स्थित अत्यन्त लाल किरणों वाले, तथा सुनहली किरणरूपी केसर वाले सूर्य रूपी कमल को यह काला अन्धकार रूपी हाथी उखाड़ कर दूर फेंक रहा है।

विमर्श—सूर्यास्त के दृश्य पर यह अत्यन्त श्रेष्ठ उत्प्रेक्षा कवि ने की है ।२५।

परिचुम्बति वारुणीं दिशं पुरतो रागहृते विवस्वति ।
दिगियं शतमन्युलाञ्छिता भवति श्याममुखी मितोदरि ॥२६॥

हे कृश पेट वाली ! सूर्य के लालिमा रहित हो जाने पर, वह स्वयं वारुणी (पश्चिम) दिशा का चुम्बन कर रहा है। अर्थात् पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है। और इधर इन्द्र की यह दिशा (पूर्व दिशा) काली पड़ती जा रही है।

विमर्श—प्रिय को किसी अन्य नायिका के पास जाकर उसका चुम्बन करते अगर कोई नायिका देख ले, तो ईर्ष्या तथा दुःख के कारण काली पड़ जाती है, यहाँ भी कवि ने इसी के आधार पर उत्प्रेक्षा की उड़ान भरी है ॥ २६ ॥

इह भात्यविलोहितातपस्तनिका पश्य वनान्तभूमयः ।
तपनानुगमोत्सुकाङ्किता दिनलक्ष्म्येव पदैः सयावकैः ॥ २७ ॥

यह देखो, यहाँ लाल रंग का अस्तकालीन घाम जहाँ-तहाँ छिटका हुआ है, इसीसे भूमियाँ कैसी सुन्दर लग रही हैं। मानो अलता से पैरों को रंगकर सूर्यरूपी नायक के पीछे-पीछे जाने वाली दिशा रूपी लक्ष्मी अर्थात् नायिका हो ॥ २७ ॥

मदिराक्षि पुरोऽवलोक्यताम् अपरस्यामयमानतो दिशि।
स्तिमितामवगाहते गतिं गुरुगोत्रस्खलिताकुलो रविः॥ २८॥

हे मदभरे नयनों वाली ! इधर पश्चिम दिशा की ओर देखो, इस पर यह सूर्य कैसे झुका हुआ है और मन्द-मन्द गति से आगे बढ़ता जा रहा है, मानो कोई नायक अपनी नायिका के सामने किसी दूसरी स्त्री का नाम और गोत्र का उच्चारण करके मानो लज्जित हो कर झुका हो॥ २८॥

अमुना शतपत्त्रबन्धुना सहसा सुन्दरि यद्यदुज्झितम्।
सममद्रिगुहामुखस्थितैस्तिमिरैस्तत्तदितः कटाक्षितम्॥ २९॥

हे सुन्दरी। यह कमल का मित्र सूर्य अस्त होते समय जो-जो चीजें छोड़ता गया है, पर्वत की गुफा में स्थित अन्धकार ने जान-बूझकर ठीक उसी समय उन वस्तुओं को अपना लिया है अर्थात् सर्वत्र अन्धकार छा गया है। अन्धकार फैलने लगा, यह भाव है॥ २९॥

विरमन्नयि पल्लवाधरे सुरवीथीपथिको विरोचनः।
अयमस्तगिरेर्निषीदति स्वकरामृष्टशिलातले तले॥ ३०॥

हे रक्त वर्ण के कोमल पत्तों के समान लाल तथा कोमल अधर वाली ! आकाश-मार्ग का पथिक यह सूर्य अस्ताचल पर विराम करता हुआ अपने हाथों से साफ किये हुए शिलाखण्डों पर विश्राम करने लगा है॥ ३०॥

इयमश्रुतरङ्गितां दृशं द्वितये चक्रवधूर्विमुञ्चति।
नवकुङ्कुमलोहिते रवौ दयिते चान्द्रवियोगविक्लवे॥ ३१॥

हे प्रिये ! यह चक्रवाकवधू (चकवी) दो वस्तुओं पर अपनी अश्रु से परिपूर्ण दृष्टि लगा रही है, एक तो चन्द्रोदय पर आँसू बहाते हुए वियोग से व्याकुल अपने प्रियतम पर और दूसरे नवीन कुङ्कुम के समान रक्त वर्ण के बने सूर्य पर॥ ३१॥

चलितोऽसि वद क्व मां विना विरहं सोढुमहं न ते क्षमा।
कृतपङ्कजकुड्मलाञ्जलिर्नलिनी कान्तमितीव याचते॥ ३२॥

कमलिनी, कलिकारूपी हाथ जोड़ कर मानो सूर्य से प्रार्थना कर रही है कि हे प्रिय ! तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले। मैं तुम्हारा वियोग सहन न कर सकूँगी !॥ ३२॥

अनुत्पुञ्जितपिङ्गदीधिति द्रुतलाक्षारुणदर्पणोपमम्।
परतोऽस्तगिरेरिदं गलत्यनवद्याङ्गि पतंगमण्डलम्॥ ३३॥

हे सुन्दरी ! अपना समस्त पीली किरणों को समेटने वाला (अब एकदम अस्ताचल पर पहुँच जाने से सूर्य-किरणें लाल से पीली हो गयी हैं) शीघ्र ही लाक्षारस से रंगे दर्पण के समान लाल यह सूर्यमण्डल अस्ताचल के उस पार देखो, अब छिप गया है॥ ३३॥

सरले सह वारिजश्रिया निभृतं क्वापि गतः स भास्करः ।
इह तेन विनाऽब्जिनी कथं क्षणदामद्य नताङ्गि नेष्यति ॥ ३४ ॥

हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! हे सरल स्वभाव वाली ! कमल-शोभा के साथ ही वह सूर्य भी चुपचाप न जाने कहाँ चला गया। बोलो, अब उसके बिना यह कमलिनी रात भर के समय को कैसे काटेगी ? ॥ ३४ ॥

स्फुटविद्रुमराजिनैकतः सदृशं जातमुदञ्चता नभः ।
सुदति त्वदपाङ्गपाटले पटु सान्ध्ये महसि प्रसर्पति ॥ ३५ ॥

हे सुन्दर दाँतों वाली ! यह आकाश एक तरफ तो विकसित मूँगों की पंक्ति के समान लालिमा को धारण किए हुए है। तुम्हारे नयनों के कोरों के समान रक्त सन्ध्याकालीन प्रकाश फैलने पर ॥ ३५ ॥

परिपिञ्जरिताऽसिताम्बरैर्निबिडैः क न हरन्ति हारिभिः ।
अपि सायमिमाः पयोधरैर्धृतसन्ध्यातपकुङ्कुमैर्दिशः ॥ ३६ ॥

चारों तरफ धूसर आकाश को और श्रीकृष्ण वर्ण का बनाने वाले, मनोहारी घने बादलों से ये सायंकालीन आतपरूपी कुङ्कुम को धारण करने वाली दिशायें किसका मन हरण नहीं कर रही हैं ? अर्थात् सभी रसिक इन्हें देखकर आनन्दमग्न हैं ॥ ३६ ॥

क्षणदाभिमुखेन खण्डिता ननु सन्ध्या तमसा मनस्विनी ।
कुपितेव निवर्तते जवात् अतिवाचालविहङ्गनूपुरम् ॥ ३७ ॥

सूर्य रात्रिरूपी अपरा नायिका के पास जा रहा है तो यह सन्ध्या नायिका मानवती खण्डिता नायिका की भाँति क्रोध से काली बनी हुई अत्यन्त वाचाल पक्षिरूपी नूपुर को झनकाकर मानो गुस्से में अति तेजी से भागी चली जा रही है ॥ ३७ ॥

तव चण्डि विडम्बयत्ययं तनुसन्ध्यातपलिप्तमम्बुजम् ।
मणिकुण्डलकान्तिसङ्करात् इहमाताम्रकपोलमाननम् ॥ ३८ ॥

हे कुपित होनेवाली ! सन्ध्याकालीन आतप की लालिमा से युक्त शरीर वाला यह कमल मणिकुण्डलों की कान्ति से युक्त लाल कपोलों वाले तुम्हारे मुख की समता कर रहा है ॥ ३८ ॥

उदितानि तमांसि सा च ते दयिता दैन्यमुपैति पद्मिनी ।
दिनभर्तुरितीव शंसितुं सहसा सुन्दरि सन्ध्यया गतम् ॥ ३९ ॥

हे सुन्दरी ! अँधेरा घिर आया है, और तुम्हारी प्रियतमा पद्मिनी दुखी हो गई है। इस प्रकार सूर्य से यह कहने के लिए मानो नायिका की सखी सन्ध्यासुन्दरी भी सूर्य के साथ ही चली गई ॥ ३९ ॥

निहितं बलिदीपकेषु तत् तपनेनाऽशु महः कृशोदरि ।
स्वशरस्फुरितं मनोभुवा तव सव्रीडविलोकितेष्विव ॥ ४० ॥

हे क्षीण कटिवाली ! वलिदीपकों में मानों सूर्य ने अपना वह प्रचण्ड प्रकाश भर दिया है। और इधर तुम्हारे लजीले कटाक्षों को देख कर प्रतीत होता है मानो कामदेव ने अपने अपने बाण की लीला का आधान उन्हीं में कर रखा हो ॥ ४० ॥

अतसीकुसुमोपमं मुखे तदनु त्वत्कुचचूचुकद्युति।
अथ बालतमालमांसलम् प्रसृतं सम्प्रति सर्वतस्तमः ॥ ४१ ॥

प्रारम्भ में, अलसी के पुष्प के समान होने से तुम्हारे स्तनाग्र-भाग के समान कृष्ण नील कान्ति वाला तथा बाद में छोटे-छोटे तमाल वृक्षों के समान बृहद्काय यह अन्धकार अब चारों तरफ फैल रहा है ॥ ४१ ॥

तरुकोटरमूकसारिकं निजनीडाङ्कनिलीनकोकिलम्।
करभोरु सनिद्रबर्हिणम् प्रमदोद्यानमिदं निमीलति ॥ ४२ ॥

हे करभोरु, पेड़ के खोखलों में बैठी हुई मैनावाला, अपने-अपने घोंसलों में छिपी हुई कोकिलोंवाला, सोये हुए मोरों वाला यह नजरबाग भी अब मौन सा हो रहा है अर्थात् सायंकाल के बाद अब सभी पक्षी अपने-अपने घोंसलों में लौटकर आराम कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

प्रसृतैर्गिरिकन्दरोदरात् इदमिन्दीवरदामकान्तिभिः।
अधुना तिमिरैर्विगाह्यते भुवनं पद्मसरश्च दन्तिभिः ॥ ४३ ॥

अब पहाड़ की गुफाओं से निकले हुये हाथी तथा उन गुफाओं में तेजी से फैला हुआ अन्धकार जिनकी कान्ति नीले कमल की तरह है—ऐसे दोनों ही अब व्याप्त हो रहे हैं। अर्थात् अन्धकार संसार में प्रवेश कर रहा है और हाथी कमल के तालाबों में क्रीडार्थ विहार करने लगे हैं ॥ ४३ ॥

तिमिराञ्जनभक्तिशोभिना धवलेनायतपक्ष्मपङ्क्तिना।
अमुना भवतीव चक्षुषा कुमुदेनैति रुचं कुमुद्वती ॥ ४४ ॥

अन्धकार रूपी अञ्जन के लगने से सुशोभित लम्बी-चौड़ी पलकों (परागों) की पंक्ति से सुशोभित कुमुद्वती ने कुमुद से अपनी कान्ति उसी भाँति मिला दी, जिस भाँति अञ्जन लगने से सुशोभित सुन्दर लम्बी-चौड़ी पलकों से सुशोभित तुम्हारे नेत्र की कान्ति मेरी नेत्र-कांति से मिल गई है ॥४४॥

उदरस्थितयोः कुतूहलात् अलिनोः श्रोतुमिवास्फुटं वचः।
कमलस्य निलीय निश्चलं दलसन्धिष्ववतिष्ठते तमः ॥ ४५ ॥

कमल के कोश के अन्दर बैठे हुए भ्रमर-दम्पति के प्रेमभरे अटपटे वचनों को सुनने के लिए ही मानो उत्सुकता से छिप-छिपकर अन्धेरा कमल की पंखुड़ियों के जोड़-जोड़ (सन्धिभाग) में बैठ गया है अर्थात् भ्रमर-दम्पति के

प्रेमालाप को सुनने के लिए मानो अन्धकार रूपी लम्पट कमल-कलियों के जोड़ जोड़ पर बैठा है ॥ ४५ ॥

तरलऽविसिताऽसितद्युतौ इह दोलायितमीक्षणद्वये ।
लिखितागरुपत्र लेखयोस्तिमिर मूर्च्छति ते कपोलयो ॥ ४६ ॥

तुम्हारे चञ्चल श्वेत और कृष्ण कान्ति वाले इधर उधर दौड़ती हुई दृष्टि वाले दोनों नेत्रों पर तथा अगरु से चित्रित पत्रलेखावाले तुम्हारे कपोलों पर भी अब अन्धेरा फैलने लगा ॥ ४६ ॥

उडुभि स्रमितम्नत क्षणात् उदितैर्भङ्गुरनेत्रि भात्यद ।
अतिगाढदिनोष्णजन्मभि परित स्वेदलवैरिवाङ्कितम् ॥ ४७ ॥

हे घुंघराले बालों वाली ! उदित हुए तारों से यह सारा आसमान उसी प्रकार सुशोभित है, मानो दिनभर अत्यधिक धूप रहने के कारण गर्मी से पसीने की बूँदें उसमें उभर आयी हैं ॥ ४७ ॥

शवल शशलाञ्छनत्विषा सतम पश्य महेन्द्रदिङ्मुखम् ।
अचलेन्द्रसुतास्मितच्छविच्छुरित कण्ठमुमापतेरिव ॥ ४८ ॥

चन्द्रमा की कान्ति से मिश्रित अन्धकारपूर्ण पूर्वदिशा की ओर तो देखो वह ऐसी प्रतीत हो रही है, मानो पर्वतराजपुत्री पार्वती के हास्य की कान्ति से मिश्रित शिवशङ्कर का कण्ठ हो ॥ ४८ ॥

अहिराजसुते विलोकयताम् इयमिन्दो प्रथमोद्गता कला ।
अयि भाति ययेन्द्रदिङ्मुखे प्रमदेवाद्रिनखाङ्कलेखया ॥ ४६ ॥

हे नागराजपुत्री ! पूर्वदिशा में तुरन्त निकली हुई चन्द्रकला को देखो। इससे पूर्वदिशा ऐसी मालूम पड रही है, मानो प्रियकृत नाखून की खरोंच से युक्त होकर कोई स्त्री शोभा पा रही हो ॥ ४६ ॥

यदि कौतुकमायतेक्षणे न चिरादेव सुधार्द्रयाऽनया ।
अरविन्ददलद्युतौ करे मृदुलीलावलय करोमि ते ॥ ५० ॥

हे विशालनेत्रे प्रिये, अगर तुम्हारा कौतुक हो अर्थात् अगर तुम चाहो तो अमृत से भरी इस चन्द्रकला को शीघ्र ही लाकर मैं कमल की पखुडियों के समान कान्ति वाले तुम्हारे इस कोमल हाथ का कंगन बना दूँ ॥ ५० ॥

अनवद्यमित पुर स्थित विदित किं शशिना वराननम् ।
नभस सहसाङ्कमेष यन् न कलङ्कत्रपयाधिरोहति ॥ ५१ ॥

इस चन्द्रमा ने सामने हो स्थित तुम्हारे इस सुन्दर मुख के विषय में जान लिया है क्या ? अर्थात् अवश्य ही इसने तुम्हारे मुख को यहाँ देख लिया है, तभी तो यह नभ का चन्द्रमा अपने कलङ्क की लज्जा के कारण आकाश से नीचे नहीं उतर पाता ॥ ५१ ॥

इदमुद्गतमिन्दुमण्डलम् दिगियं पश्य बिभर्ति लक्ष्मवत् ।
त्वमिवाच्छकपोलमण्डल-स्फुटकालागरुपत्रमाननम् ॥ ५२ ॥

देखो, यह पूर्व दिशा इस काले चिह्न वाले उदित चन्द्रमण्डल को धारण किये हुए ऐसी लग रही है, जैसे तुम अगरु से सुशोभित स्वच्छ कपोल वाले मुख को धारण किये हुए हो ॥ ५२ ॥

विगलत्तिमिरांशुके शनैः स्पृशति व्यक्तिमधीरतारके ।
इह पश्य निशावधूमुखे स्फुरति श्वेतमरीचिकुण्डलम् ॥ ५३ ॥

अन्धकाररूपी वस्त्र के खिसकते रहने से धीरे-धीरे स्पष्ट रूप से दिखाई पड़नेवाले तथा तारा रूपी पुतली जिस पर चंचल दिखाई दे रही है, ऐसे इस निशा के मुखपर देखो, यह स्वच्छ किरणों का कुण्डल शोभायमान हो रहा है ॥ ५३ ॥

अयमुल्लिखति ध्रुवं करैर्विधुरिन्दीवरलोचने तमः ।
कुमुदेषु तथाहि दृश्यतां निपतन्त्यस्य लवा इवालयः ॥ ५४ ॥

यह देखो, चन्द्रमा मानो अपने किरण रूपी करों से कमल रूपी नेत्र में अन्धकार रूपी काजल भर रहा है। और इधर कुमुदों पर ये अनेक भौंरे टूट पड़ रहे हैं, तो ऐसा लग रहा है कि उस अन्धकार के कण के कण ही टूट रहे हैं ॥ ५४ ॥

इदमञ्जननीलमाहतम् पिहिताशं तुहिनांशुना करैः ।
अचलेन्द्रगुहासु लीयते शनकैः संकुचितं पुनस्तमः ॥ ५५ ॥

चन्द्रमा ने अपनी किरणों से कज्जलवत् कृष्ण अन्धकार को दूर कर दिया है, जिससे निराश होकर अब यह धीरे-धीरे फिर से अर्बुदाचल की उन्हीं गुफाओं में छिपता जा रहा है, जहाँ से वह निकला था।

विमर्श—सूर्यास्त के बाद जब तक चन्द्रोदय नहीं हुआ था, तब तक तो अन्धकार का साम्राज्य था, परन्तु चन्द्र के उदित होते ही सब अन्धकार छट गया, पर पर्वत की गुफाओं में, जहाँ चन्द्रप्रकाश पहुँच नहीं पा रहा था, अभी अन्धकार था ॥ ५५ ॥

मसृणोल्लसदंशुमण्डलच्छलतः पश्य दिवः कृतेऽनया ।
इयमिन्दुसमुद्ग[1]कादितो निशया हारलतेव कृष्यते ॥ ५६ ॥

अब इधर देखो, यह रात्रि रूपी नायिका मानो आसमान के लिये चिकने और चमकते हुए किरण-मण्डल के बहाने चन्द्ररूपी पेटी में से हारलता निकाल रही है ॥ ५६ ॥

---

१. समुद्गकः सम्पुटकः—अमरकोश ।

यदभूत्तमसा जगत्तथा पिहितं पुष्करपत्रलोचने ।
तदिदं परतः प्रकाशितं शशिना कुङ्कुमकन्दपाण्डुना ॥ ५७ ॥

हे कमल पत्र के समान नयनों वाली अन्धकार के कारण जो जगत् पहले एकदम छिप सा गया था, कुङ्कुमकन्द वर्ण के किरणों वाले चन्द्रमा ने उसे पुनः अपनी प्रभा से प्रकाशित कर दिया है ॥ ५७ ॥

प्रसृतेव विलोचनोदरे तिलके सङ्कुचितेव चान्दने ।
कलितेव नताङ्गि लक्ष्यते तव मुक्तावलयेषु चन्द्रिका ॥ ५८ ॥

चन्द्रमा की ज्योत्स्ना परम सुन्दरी शशिप्रभा के अंगों पर पड़ रही थी, उस पर कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि यह चन्द्रिका तुम्हारे दोनों नेत्रों के बीच तक फैल गयी है, और चन्दन के तिलक पर लग गयी है, और तुम्हारी मुक्ता की चूड़ियों के अन्दर मानो उसे किसी ने मढ़ दिया है ॥ ५८ ॥

कुचयोः प्रतिबिम्बितः सम विधुरेकोऽपि भवत्ययं द्विधा ।
विधिनेव विभिन्नसम्पुटस्तव लावण्यसुधासमुद्गकः ॥ ५९ ॥

तुम्हारे दोनों कुचों पर प्रतिबिम्ब (परछाई) डालने वाला यह चन्द्रमा एक होते हुए भी उसी वक्त दो भागों में बँट गया जान पड़ता है। मानो विधाता ने ही तुम्हारे सौन्दर्य-सुधा की पेटी को दो भागों में विभक्त कर दिया हो ॥ ५९ ॥

हृतमुग्धमधूकशोभयोरनयोः पन्नगलोककौमुदि ।
तव चन्द्रकला कपोलयोः पतिता स्पर्शसुखहृतादिव ॥ ६० ॥

हे नागलोक की चाँदनी ! महुये की शोभा को चुराने वाले तुम्हारे इन कपोलों पर यह चाँदनी मानो उनका स्पर्श करने के लिए ही पड़ रही है ॥६०॥

अयमिन्दुमुखि त्वया यथा समुपैति स्पृहणीयतां जनः ।
अनयैव समागतस्तथा निशया पश्य कुरङ्गलाञ्छनः ॥ ६१ ॥

हे चन्द्रमुखी, तुम्हारे साथ मिलकर मैं जैसे सुन्दर लग रहा हूँ, उसी प्रकार रात्रि से मिलकर यह चन्द्रमा भी अत्यन्त शोभित हो रहा है ॥ ६१ ॥

धनुषि म्रियतेऽधिरोहणं स्मरमौर्वीलतया तनूदरि ।
शशिनेरितया समुच्छ्रिते पुलिनाद्रौ च पयोधिवेलया ॥ ६२ ॥

हे तनूदरि, कामदेव के धनुष की डोर अब धनुष पर चढ़ रही है तथा चन्द्रमा को देखकर बढ़ने वाली समुद्र की मर्यादा तटवना पर्वतप्रान्त की ओर जा रही है। अर्थात् अब कामदेव का प्रताप नजर आ रहा है ॥ ६२ ॥

कृतचाटुशतैः परस्परं मकरन्दार्द्ररजःसुगन्धिषु ।
स्थितमन्तरमीषु साम्प्रतं भ्रमरैः पुष्करवासवेश्मसु ॥ ६३ ॥

आपस में सैकड़ों प्रकार से चाटुकारी करने वाले ये भ्रमर इन पुष्परस से आर्द्र पराग वाले तथा सुगन्धित इन कमल-कोषों के अन्दर मस्ती से बैठ गये हैं ॥ ६३ ॥

मरुता सुहृदेव वीजितम् कुमुदामोदमुचा शनैरितः ।
स्वपिति प्रणयार्द्रयोरिदं मिथुनं मानिनि राजहंसयोः ॥ ६४ ॥

हे मानिनि ! कामोन्मत्त अनुरागी हंसों का यह जोड़ा भी यहाँ शयन कर रहा है; आस-पास कुमुदों की सुगन्ध को उड़ाती हुई यह मन्द हवा जो वह रही है, वह मानो मैत्रीभाव से हंसमिथुन पर पंखा झलने का काम कर रही हो ॥ ६४ ॥

अपि चक्रवधूरियं पुरः करुणं कूजति हा तपस्विनी ।
इह साक्षितयाऽलमावयोरुचितं गन्तुमतः कृपावति ॥ ६५ ॥

देखो, यह चकवे की स्त्री वेचारी अपने प्रिय के वियोग मे करुणध्वनि से रो रही है। यह हम दोनों के साक्षिरूप में (परस्पर समर्पण के लिए) रहेगी। अतः अब हम परस्पर अभिसरण कर सकते हैं अथवा अब हमें यहाँ से हटकर अन्यत्र चले जाना चाहिए ॥ ६५ ॥

इति भूतलवासवः स ताम् अभिधाय प्रमदां प्रियंवदः ।
प्रविवेश तया समं किल प्रमनाः केलिनगेन्द्रकन्दरम् ॥ ६६ ॥

मधुर भाषण करने वाला धरती का इन्द्र सिन्धुराज इस प्रकार उस रमणी को कहकर प्रसन्न मन से उसके साथ एक पर्वत की गुफा में प्रविष्ट हो गया ॥ ६६ ॥

झटिति स्फुटभावसङ्करां मधुरामंगलतां दधानया ।
शशिकान्तशिलातलं ततः स किलाध्यास्त तया युवाऽन्वितः ॥

इसके बाद नायिका ने अपने अंगों से जो चेष्टा की, उससे उसका यह भाव स्पष्ट हो गया कि वह भी अभिसरण करना चाहती है, ऐसी उस अंग-लता को धारण करने वाली उस कामिनी के साथ वह युवा राजा चन्द्रकान्त मणि के शिलातल पर बैठ गया ॥ ६७ ॥

तदनु त्रपया पराङ्मुखीं पुलकालंकृतपीवरस्तनीम् ।
स किलाञ्चितचाटुरानयन् सुमुखीं तामनुकूलवृत्तिताम् ॥६८॥

तब लज्जा से झुके हुए और दूसरे तरफ मुड़े हुए मुख वाली तथा रोमाञ्चित स्तनों वाली उस शशिप्रभा को फुसला कर उसने अनुकूल अर्थात् सम्भोग योग्य बना लिया ॥ ६८ ॥

अथ मन्थरलोचनं ह्रिया विनमत्स्मेरमुखः स्मिताञ्चितम ।
स ददर्श किल प्रजेश्वरः सुदृशः स्विन्नकपोलमाननम ॥ ६९ ॥

तब लज्जा के कारण अलसायी आँखों वाले मन्दस्मित से युक्त उस सुनयना शशिप्रभा के पसीने से भीगे हुए मुख को उस नम्र तथा विकसित मुखवाले राजा ने देखा ॥ ६६ ॥

यदल किल मानवत्यभूत् ऋजवन्नेन्दुमुखी किलेक्षत ।
लिखितेव किलास्त यत् परं नृपतेस्तेन मन किलाहृतत् ॥ ७० ॥

इसके अनन्तर नायिका पर्याप्त रूप से मानवती हो गयी, राजा की तरफ सीधे न देखकर कटाक्षों से देखने लगी, और उसके बाद एकाएक चित्रलिखित सी स्तब्ध हो गयी (अर्थात् उसने अपने आपको मान छोड़कर राजा को अर्पण कर दिया)—यह सब देखकर राजा का चित्त उसकी तरफ और भी आकृष्ट हुआ ॥ ७० ॥

परिमृज्य मुखं विलासिना श्रवणेन्दीवररेणुरूषितम् ।
मुदृशा श्रमवारिपङ्किलान् अलकान्तस्तिलकादपास्यत ॥ ७१ ॥

उस विलासी राजा ने बतौर कनफूल के कान म धारण किये हुए उस सुन्दर नेत्रवाले शशिप्रभा के कमल की धूल स सने मुख को पोंछकर पसीने से सने तिलक पर से उसके बालों को हटाया ॥ ७१ ॥

अथ तां शिथिलीकृतत्रपाम् असमप्रेमहृत किलेश्वरः ।
स्मरकेलिरसारसज्ञताम् अनयद्यूथपतिर्वशामिव ॥ ७२ ॥

अत्यधिक प्रेम से हृत चित्त वाले उस नृपति ने उसकी लज्जा को दूर कर उसे कामक्रीडा की कला के रसास्वादन में अनुकूल उसी भांति बना दिया, जिस प्रकार गजराज किसी हथिनी को अपने अनुकूल बना लेता है ॥ ७२ ॥

शिथिलाकुलकेशपाशया परिमृष्टार्द्रकपोलपत्त्रया ।
विरलाधररत्नरागया मुखभस्वेदमुखेन्दुबिम्बया ॥ ७३ ॥

खुले हुए अतएव फैले हुए जूड़े वाली, मसले गये गालों पर की पत्र-लेखा वाली, मिटी हुई ओठों की लाली वाला, पसीने की बूँदों से सने हुए मुख-बिम्ब वाली ॥ ७३ ॥

त्रुटितोज्झितहारलेखया निबिडाश्लेषकृशाङ्गरागया ।
असमामनगाङ्कमण्डितस्तनविन्यस्तससम्पहस्तया ॥ ७४ ॥

टूटे हुए अतएव हार को फेंकनेवाली, अच्छी तरह आलिङ्गन करने के कारण अगराग जिसका मिट गया था ऐसी, स्तनों पर कहीं रहा नाखूनों के निशान हो जाने के कारण उन्हें काँपते हुए हाथ से ढँकने वाली ॥७४॥

---

१ करेणुर्धेनुका वशा—अमरकोश ।

कुलकम्

अधिकाधिकजातलज्जया मृदुमीलन्नयनत्रिभागया ।
अथ कामपि निर्वृतिं तया स किलापत् फणिराजकन्यया ॥ ७५ ॥

कुलक

अत्यन्त लज्जा से युक्त आँख मींच कर एक कोने से देखने वाली उस नागराजकन्या से उस नृपति सिन्धुराज को अवर्णनीय लोकोत्तर सुख हुआ ॥ ७५ ॥

ददता नलिनीदलानिलं विकसत्स्वेदकणे कुचद्वये ।
चतुरं किल दीर्घचक्षुषस्तदनु क्लान्तिरनेन चिच्छिदे ॥ ७६ ॥

इसके बाद उस राजा ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक, स्वेदकण जिनपर चमक रहे थे, ऐसे उस दीर्घनेत्रा रमणी के दोनों स्तनों पर कमलिनी के पत्ते से हवा करके उसकी थकान को भी मिटा दिया ॥ ७६ ॥

अथ स त्रपया धृतांशुकाम् जघनस्रस्तविसूत्रमेखलाम् ।
अवतंसितलोचनोत्पलां निजमङ्कं ललनां निनाय च ॥ ७७ ॥

इसके बाद लज्जा से उसने जैसे तैसे अपना वस्त्र धारण किया । कमर की करधनी गांठ टूट जाने के कारण जघनस्थल तक लटक आयी थी, ऐसी उस कमल के समान नेत्रवाली सुन्दरी शशिप्रभा को राजा ने अपनी गोद में बैठाया ॥ ७७ ॥

सुदृशः स किलान्यतश्च्युतं स्वपदे मौलिमणिं न्यवेशयत् ।
अकरोच्च किलारुणाङ्गुलिर्ललितावर्तनकुञ्चितान् कचान् ॥ ७८ ॥

फिर उस राजा ने उस सुन्दरी के इधर-उधर गिरे हुए माथे के मणियों को यथास्थान लगाया और अपने लाल अंगुलियों वाले हाथ से उसके घुँघराले बालों को भी सुन्दर ढंग से सँवारा ॥ ७८ ॥

पश्यात्र दर्पणतले लिखिता मयेयं पत्रावली तरुणि ते वलिताननेति ।
स्वप्नान्तरप्रणयजल्पितमात्मभर्तुरश्रूयत स्मितमुखेन रमाङ्गदेन ॥ ७६ ॥

"हे तरुणि, इधर इस ऐने में देखो, तुम्हारे इस गोल मुख पर मैंने कैसी सुन्दर पत्रावलि चित्रित की है" इस तरह वह राजा सपने में ही एकाएक बोल पड़ा । अपने स्वामी के इस स्वप्नगत प्रणयवचन को रमांगद ने हँसते हुए सुना ॥ ७६ ॥

अथ शुचि पठता शुकेन साम स्फुटमुटजांगणपादपस्थितेन ।
विरचितदयितासमागमस्य प्रसभमभज्यत पार्थिवस्य निद्रा ॥८०॥

इसके बाद सामवेद का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करने वाले कुटियों के आंगन में स्थित पेड़ पर बैठे हुए तोते ने स्वप्न में समागम करनेवाले राजा की निद्रा

को सहसा भग कर दिया अर्थात् तोते के साम-गायन से राजा की निद्रा टूटी ॥ ८० ॥

झटिति विगते स्वप्नायातप्रियानवसंगमे
पुनरपि तथा तत्प्रत्याशानिमीलितलोचन ।
लिखित इव स क्ष्मापालोऽभून् क्षणं ननु तादृशाम्
अपि मनसिजो धैर्यं लुम्पत्यहो बत साहसम् ॥ ८१ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नव साहसाङ्कचरिते महाकाव्ये फणिराजसुतास्वप्नसमागमो नाम द्वादश सर्ग ॥ १२ ॥

तत्काल निद्रा खुलते ही स्वप्न में होनेवाला प्रिया का नवमिलन नष्ट हो गया, तब फिर राजा उस मिलन की आशा में आँखें बन्द किए हुए लेटा रहा । थोडी देर तो वह राजा चित्रलिखा सा रह गया । ठीक ही है, ऐसे महान् लोगों के धैर्य को भी कामदेव नष्ट कर देता है, कितना साहस है ! ॥८१॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्कचरित महाकाव्य में नागपुत्री के साथ राजा का मिलन नामक बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशः सर्गः

स्वप्नविजृम्भितम्

ततस्तथा पञ्चशरप्रतारितः सजृम्भमुन्मीलयति स्म लोचने ।
कृताञ्जलिश्लेषविवर्तितोल्लसत्भुजांससम्पीडितकुण्डलो नृपः ॥ १ ॥

तेरहवाँ सर्ग

स्वप्नभङ्ग

कामदेव के द्वारा इस तरह प्रतारणा पाकर राजा ने फिर जैसे-तैसे आँखें खोलीं और जम्हाई लेने लगा। उसने अपने दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर बाँधकर हाथ और कंधों को तान दिया, जिससे उसके कर्ण-कुण्डल हाथ और कंधे के बीच आने के कारण दब गये। अर्थात् जम्हाई के साथ-साथ उसने शरीर सीधा किया ॥ १ ॥

स सङ्गतं यन्मृगशावचक्षुषः श्रमाप्तनिद्रः स्फुटमन्वभूदिव ।
झटित्यभूज्जाग्रदवस्थयाऽस्य तन् पुरातनालेख्यमिवास्फुटं हृदि ॥२॥

उस नृपति ने परिश्रम के कारण लगी घोर निद्रा में उस हरिणी के बच्चे के समान नेत्रवाली शशिप्रभा के साथ जिस रतिसुख की अनुभूति की थी, अब जागने के कारण वह सुख किसी पुराने चित्र की भाँति उसके हृदय पर धुँधले रूप में अङ्कित हो गया।

विमर्श—अर्थात् उस प्रसंग की धुंधली स्मृति चित्र के समान उसके हृदय में रह गयी ॥ २ ॥

कुचाङ्गरागः कृशमध्यया तया मयि ध्रुवं सङ्क्रमितो भवेदिति ।
शनैः स निद्राकलुषेण चक्षुषा परामसर्शाङ्गमनङ्गमोहितः ॥ ३ ॥

उस क्षीण कटिवाली के कुचों पर लगा हुआ अंगराग मेरे अङ्गों पर लग गया होगा, यह सोचकर नींद की खुमारी से परिपूर्ण आँखों को मलते हुए काममोहित उस राजा ने अपने अंगों को भली भाँति देखा।

विमर्श—अर्थात् 'उसके कुचों का अंगराग कहीं मेरे तन में तो नहीं लग गया', ऐसा सोचकर उसने अपने अंगों को भली भाँति देखा ॥ ३ ॥

अपास्य वामेतरकर्णभूषणं तथा शनैरेनमवाकिरन् स्मरः ।
यथास्य धैर्यं गलति स्म मानसात् सविक्रियं शुक्तिपुटादिवोदकम् ॥४॥

ज्यों ही उसने बायें कान का आभूषण उतार कर रख दिया, त्यों ही धीरे-

धीरे उसे कामदेव ने सताना प्रारम्भ कर दिया। जिससे उसका धैर्य मन से उसी प्रकार दूर होने लगा, जैसे फूटी हुई सीप से पानी बहने लगता है ॥ ४ ॥

इति विषादस्तिमितामुपागते निवेश्य तेनाथ निशश्वसे तथा।
यथा मुहुः श्यामलता जगाहिरे वितानमुक्ताफलजालकस्रजः ॥ ५ ॥

इसके बाद वह अत्यन्त खिन्न मन से सचिव रमाङ्गद की ओर देखकर इतने ज़ोर ज़ोर से गहरी साँसें भरने लगा कि उनसे उसके मोतियों के पुञ्ज से बने हार मानो बार बार कालिमा धारण करने लगे ॥ ५ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

कया नु सारङ्गदृशाऽसि कारितः कपोलपत्रावलिकल्पनश्रमम्।
तमित्यवोचत्परिहासवानथो रमाङ्गदः किञ्चिदिव श्लथाङ्गदम् ॥ ६ ॥

रमाङ्गद के वचन

जिसका बाजूबन्द कुछ ढीला हो गया था, ऐसे उस राजा से हँसी करने में चतुर रमाङ्गद ने कहा कि कहिए जनाब, किस हरिणाक्षी के कपोलों पर पत्ररचना अङ्कित करने का आपने कष्ट किया है? ॥ ६ ॥

ततः स मुक्तासितमादधत्स्मितं जितप्रवालत्विषि दन्तवाससि।
शशंस तस्मै भुजगेन्द्रकन्यकासमागमं स्वप्नजमब्जलोचनः ॥ ७ ॥

तब मूँगे के समान लाल ओठों पर मोतियों जैसी सुन्दर हँसी बिखेरते हुए उस कमल के समान नेत्र वाले राजा ने रमाङ्गद से शशिप्रभा के साथ अपने स्वप्न समागम की बात कही ॥ ७ ॥

तदाश्रयैवानुचरेण वर्धिता कथा सुधेवास्य ततो विलासिनः।
अभूत् परं मन्मथतापशान्तये न पद्मिनीपत्रमरुन्न चन्दनम् ॥ ८ ॥

उस शशिप्रभा से सम्बन्धित अमृततुल्य कथाप्रसंग को रमाङ्गद ने भी जारी रखा, तब वह कथा ही राजा के कामदाह को शान्त करने में समर्थ हुई, न कि कमलिनी की सुगन्धयुक्त हवा और न चन्दन ही ॥ ८ ॥

अजायतान्तःकरणेन ताम्यता न हेमपद्माहरणाय सत्वरम्।
भुजः सदा रक्षणदीक्षितः क्षितेरमन्दमस्पन्दत चास्य दक्षिणः ॥९॥

हृदय से पीड़ित वह नृपति स्वर्ण-कमल लाने के लिए भी शीघ्रता न कर सका। फिर हमेशा धरती की रक्षा करने में निपुण उसका दाहिना हाथ बार बार फड़कने लगा ॥ ९ ॥

वङ्कुमुनेरागमनम्

ततः पिनद्धोज्ज्वलहेमवल्कलः वहन्नंसार्धविलम्बिनीर्जटाः।
सनाथवामेतरपाणिपङ्कजम् परिस्फुरन्त्या स्फटिकाक्षमालया ॥१०॥

वङ्कमुनि का आना

तब पीतवर्ण के वल्कल वस्त्र को लपेटे हुए और कन्धों के आधे भाग तक लटकती जटाओं से शोभित तथा चमकती हुई स्फटिक रुद्राक्ष की माला को दाहिने हस्त-कमल में लिये हुए ॥ १० ॥

विशालनेत्राभरणैरनुद्रुतं सदैव दर्भाङ्कुरलालितैर्मृगैः ।
सशिष्यमभ्यागतमङ्गणान्तिके विशाम्पतिर्वङ्कमहर्षिमैक्षत ॥ ११ ॥

विशाल नेत्र ही हैं आभरण जिनके ऐसे तथा सदा कुशा खिलाकर पाले-पोसे मृग जिनके साथ-साथ दौड़ रहे थे ऐसे, अपने शिष्यों के साथ आये हुए वङ्कुमुनि को राजा ने आंगन में देखा ॥ ११ ॥

वियुक्तपर्यङ्कतलः ससम्भ्रमं निरीक्ष्य सद्यो मणिमन्दिराद्बहिः ।
किरीटिरत्नद्युतिदीप्तभूतलं प्रणाममस्मै स चकार सादरम् ॥१२॥

उस मणिमय भवन के बाहर वङ्कुमहर्षि को आया देखकर राजा ने एकाएक अपना पलङ्ग छोडकर मुकुट-रत्नों की प्रभा से भूतल को प्रकाशित करते हुए मुनि को प्रणाम किया ॥ १२ ॥

ततः कृताशीर्मणिवेदिकास्तृते मुनिर्न्यषीदत् स कुरङ्गचर्मणि ।
स चासनत्वं तदनुज्ञयाऽनयत् नृचन्द्रमाश्चन्द्रमणेः शिलातलम् ॥१३॥

राजा को आशीर्वाद देकर वह मुनि मणिमय चबूतरे पर बिछे मृगचर्म के आसन पर बैठ गये। फिर मुनि की आज्ञा पाकर उस राजचन्द्र ने भी चन्द्रमणिवाली शिला का आसन बनाया अर्थात् उस पर बैठ गया ॥ १३ ॥

मुनिप्रश्नः

अपि श्रमेणायतमार्गजन्मना तनुर्महाराज तवेयमुज्झिता ।
मुनिः प्रहर्षेण कृतार्हणस्तदा स राजचूडामणिमित्यपृच्छत् ॥ १४ ॥

मुनि का प्रश्न

'महाराज ! बहुत दूर चलने से मार्ग की जो थकान आपको हो गई थी, क्या वह थकान अब दूर हो गई है ?' राजा के द्वारा स्वागत किये हुए मुनि ने प्रसन्नता से राजाओं में श्रेष्ठ उस राजा से यह प्रश्न किया ॥ १४ ॥

भूपतिवाक्यम्

अथादधद्वक्त्र इवांशुकाञ्चलं तुषारपाण्डुप्रसृतैर्द्विजांशुभिः ।
अकृत्रिमप्रश्रयपेशलं वचः स भूपतिर्वक्तुमिति प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

राजा का कथन

हिमकण की भांति श्वेत एवं फैलने वाली दाँतों की श्वेत कान्ति से मुख पर किरण-समूह सा डालते हुए राजा ने मुनि से स्वाभाविक प्रेम से सने मधुर वचन कहना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

अमी सहन्ते मम ताव न श्रमम् प्रणामलग्नास्तव पादपांसव ।
कियच्चिरं चन्द्रमरीचिचुम्बिते पदं निधत्ते कुमुदे दिनक्लमः ॥१६॥

हे भगवन् ! प्रणाम करते समय मेरे शरीर पर लगी हुई आपके चरणों की धूल मेरी थकान को सहन नहीं कर सकती है, अर्थात् आपकी रज को छूकर मेरी थकान दूर हो गई है। चन्द्रमा की किरणों से छू जाने पर भला कुमुदों की म्लानता कितनी देर टिक सकती है!

विमर्श—जैसे चन्द्र किरणों के छूने से कुमुदों की मुरझाहट शीघ्र दूर हो जाती है, उसी भाँति आपकी चरण रज छूकर मेरी थकान भी शीघ्र दूर हो गई ॥ १६ ॥

कपिदर्शनम्

नृलोकपातालतलाश्रये मिथः कथानुबन्धे शिथिलीभवत्यथ ।
प्रयाणपर्युत्सुकमानसो मुनिः स यावदापृच्छति पार्थिवं ॥ १७ ॥

बन्दर को देखना

इसके बाद भूलोक और पाताललोक सम्बन्धी कई बातें उनमें हुईं, जब वह बातें समाप्त होने को आयीं और अब जाने के लिए उत्सुक बने हुए मुनि ने राजा से विदा होने के लिए प्रयास किया ॥ १७ ॥

अनेन तावद्ददृशे पुरः स्थितो विशाललाङ्गूललतो वलीमुखः ।
अधस्थलीनिर्गतजह्नुकन्यको हिमोज्ज्वलः पादः इवाम्बिकागुरोः ॥ १८ ॥

कि इतने में उसने सामने खड़े हुए भारी लम्बी पूंछ रूपी लता वाले हृष्ट पुष्ट एक बन्दर को देखा, वह ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो जिसकी गुफाओं से जाह्नवी बह रही हो, ऐसा हिमालय का एक प्रत्यन्तभाग हो ॥ १८ ॥

करेण बिभ्रन्मधुमत्तकेरलीकपोलवत्पाटलकान्ति दाडिमम् ।
अहर्मुखाकृष्टपतङ्गमण्डलं फलाशया बाल इवाञ्जनीसुतः ॥ १६ ॥

मद्यपान करने के कारण रक्तवर्ण के केरलवासिनी स्त्री के कपोल के समान कान्ति वाले अनार को हाथ में धारण किया हुआ वह वानर ऐसा दिखाई दे रहा था, मानो प्रभातकालीन रक्तवर्ण के सूर्यमण्डल को फल समझ कर हनुमान ने अपने हाथ में लिया हो ॥ १६ ॥

फलार्पणम्

द्वयोरिवार्थे खलु धर्मकामयोस्तयोस्त्रिलोकस्पृहणीययोः कपिः ।
मुनीन्द्रभूचन्द्रमसोः स्थितोऽन्तरे तपस्विभिः स्मेरमुखैरदृश्यत २० ॥

१. पादाः प्रत्यन्तपर्वताः —अमरकोश

फल देना

धर्म और काम के मध्य जैसे अर्थ शोभा पाता है, उसी भाँति तीनों लोकों के प्रिय वङ्कुमुनि और सिन्धुराज के बीच वह वानर शोभा पा रहा था। इस दृश्य को हँसते हुए सभी तपस्वियों ने देखा ॥ २० ॥

अथार्पितं तेन फलं तदाददे स विस्मितो मध्यमलोकवासवः ।
जपारुणं मारुतिनेव मैथिली-शिखण्डरत्नं दशकण्ठशासनः[1] ॥ २१ ॥

विस्मय से युक्त धरती के इन्द्र उस राजा ने वानर के दिये हुए फल को उसी भाँति स्वीकार किया, जिस प्रकार जवाकुसुम के समान रक्तवर्णवाले सीतादेवी के चूड़ामणि को राम ने ग्रहण किया था ॥ २१ ॥

अकृत्रिमश्रीनिलयेन रागिणा नरेन्द्रचिह्नाङ्कितहस्तशोभिना ।
सुवृत्ततामुद्वहता स्वभावतः स तेन रेजे भृशमात्मना यथा ॥ २२ ॥

स्वाभाविक शोभा का निधान, राज-लक्षणों से युक्त राजा के हाथ पर शोभा पानेवाले स्वभाव से ही गोलाई धारण करने वाले उस फल से राजा उसी प्रकार सुशोभित हुआ, जैसे सुवृत्त तथा सदाचारसम्पन्न आत्मा से मनुष्य शोभा पाता है ॥ २२ ॥

अजातपाकस्य नवातपाधिकां पुनः पुनस्तस्य विलोक्य शोणताम् ।
नवप्रवालोपममेणचक्षुषः स्मरन् स बिम्बोष्ठमवाप शून्यताम् ॥२३॥

जो ठीक से पका नहीं था, अतएव प्रभातकालीन लालिमा से युक्त था, ऐसे उस फल की लाली को देखकर नवीन मूंगे की लाली वाले, उस हरिणी की-सी आँखों वाली शशिप्रभा के अधर (ओष्ठ) का स्मरण करता हुआ सिन्धुराज शून्य-सा हो गया ॥ २३ ॥

अथास्य सीदन्मणिबन्धनात् करात् अवाञ्चतः कम्पिविसूत्रिताङ्गुलेः ।
पपात पश्चादिव हेमकुट्टिमे तदस्फुटद्रागिव दाडिमीफलम् ॥ २४ ॥

जिसकी हथेली काँप रही थी, तथा कांपती हुई असमान अङ्गुलियों वाले उस राजा के हाथ से वह अनार का फल शीघ्र ही स्वर्णमय जमीन पर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

तदन्तरात् किंशुककान्तितस्करः स्फुरन्मणीनां निकरोऽथ निर्ययौ ।
उदर्चिषः पुष्पशरासनक्रुधा कणोत्करस्त्र्यम्बकलोचनादिव ॥ २५ ॥

उसके गिरने पर उसमें पलाश की कान्ति को चुरानेवाला अर्थात् तत्सदृश दैदीप्यमान मणि-किरणों का समूह मानो निकल पड़ा। अर्थात् उसके अन्दर के लाल दाने बिखर गये। ऐसा मालूम पड़ा, जैसे कामदेव पर क्रोध के कारण

---

१. कहीं-कहीं 'शातनः' ऐसा भी पाठ मिलता है।

शिव के आग की लपट से युक्त नेत्रों से भयकर अग्निकण निकल रहे हों ॥ २५ ॥

अथ ह्रयेनावनिपाकशासन स विस्मयस्याग्रमहीमनीयत ।
वनौकसा तेन विनीतवृत्तिना विकर्षमासा मणिदाडिमेन च ॥ २६ ॥

तब विनम्र भाव वाले उस वानर ने और उज्ज्वल आभा फैलाने वाले उस अनार के फल ने—दोनों ने ही उस धरती के इन्द्र (राजा) का आश्चर्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया अर्थात् उन दोनों को देखकर राजा को अत्यन्त विस्मय हुआ ॥ २६ ॥

स चाद्भुतप्राभृततोषित करे चकार रेवामणिकङ्कण कपे ।
घनात्ययतो निजमिन्दुपाण्डुरे पयोदखण्डे हरिवाहनायुधम् ॥ २७ ॥

वानर के द्वारा दी हुई उस भेंट से अत्यन्त सन्तुष्ट राजा ने नर्मदा के दिये हुए मणिकङ्कण को उस वानर के हाथ में पहना दिया। वह उसे धारण कर ऐसा लग रहा था, जैसे शरत्काल में चन्द्र के समान श्वेत बादल के टुकड़े में इन्द्र अपने धनुष को पहना देता है ॥ २७ ॥

तत सुधासूतिमिवोज्झिताकृतिर्नवाञ्जनश्यामलयाङ्गलेखया ।
नृप क्षणादेव विचित्रभूषणम् पुमांसमग्रे न हरिं तमैक्षत ॥ २८ ॥

तब कृष्णपक्ष के बाद अपनी कृष्णाकृति का त्याग करनेवाले, नवीन अञ्जन के समान कृष्णवर्ण रूप के बदले हुए विचित्र भूषणों से युक्त एक पुरुष को राजा ने सामने खड़ा देखा, कि वानर को, अर्थात् वानर ने मनुष्य आकृति धारण कर ली ॥ २८ ॥

कृतानतिविस्मितमानसे मुनौ रमाङ्गदे सादरमुत्सलोचन ।
व्यधात प्रणाम स कृताञ्जलिर्नृपे कपोलरेल्लत्कलधौतकुण्डल ॥२९॥

आश्चर्य से चकित मुनि को प्रणाम करके और रमाङ्गद की ओर भी सादर दृष्टि डालकर, गालों पर स्वर्णकुण्डलों को चमकाते हुए उसने राजा को हाथ जोड़ कर प्रणाम किया ॥ २९ ॥

मुनिकृत प्रश्न.

अलङ्कृत कस्य यदान्वयस्त्वया पदं क्व ते किञ्च कपिर्भवानभूत् ।
तमेवमाह स्म सविस्मयोर्मिणा नृपेण साकूतविलोकितो मुनि ॥३०॥

मुनि का प्रश्न

इसके बाद जब राजा ने विस्मय तरग से युक्त दृष्टि से मुनि की ओर देखा, मुनि ने उस पुरुष से प्रश्न किया कि कहो, तुमने अपने जन्म से किस वंश को विभूषित किया है? तुम कौन हो? और वानर कैसे बन गये?' ॥ ३० ॥

---

१ प्राभृत तु प्रदेशनम्—अमरकोष ।

शशिखण्डवाक्यम्

ततः स मुग्धेन्दुमयूखबन्धुभिः प्रसादयन् दन्तमरीचिभिर्दिशः ।
नवाम्बुभारालसनीरदावलीनिनादधीरामिति वाचमाददे ॥ ३१ ॥

तब वह सुन्दर चन्द्र-किरणों के समान दाँतों की चमक से दिशाओं को जगमगाता हुआ, नवीन तथा जलपूर्ण अतएव अलसाये हुए मेघों की पंक्ति की ध्वनि के समान गम्भीर वाणी में बोला ॥ ३१ ॥

शिखण्डकेतोः शशिखण्ड इत्यहं मुनीन्द्र विद्याधरशासितुः सुतः ।
सुराङ्गनाध्यासितरत्नकन्धरे ममाधिवासः शशिकान्तपर्वते ॥ ३२ ॥

हे मुनीन्द्र ! मैं विद्याधरों के राजा शिखण्डकेतु का शशिखण्ड नामक पुत्र हूँ। देवस्त्रियाँ जिस रत्नमय गुफाओं वाले शशिकान्त पर्वत पर रहती हैं, वही मेरा निवास-स्थान है ॥ ३२ ॥

रथाङ्गपाणेः प्रतिमा समुद्रतः स्वयं महानीलमयी विनिर्गता ।
इति प्रवादः परमीक्षितुं च तां गता मणिद्वीपमितः पुरस्त्रियः ॥ ३३ ॥

"अति नीलवर्ण की भगवान् विष्णु की मूर्ति स्वयं ही समुद्र से निकली है" यह प्रवाद जब चारों ओर फैला तो उसे देखने के लिए नगर की सभी स्त्रियाँ मणिद्वीप की ओर चली गयीं ॥ ३३ ॥

ममापि तस्यामधिकं कुतूहलं तदेहि यावः कृत एष तेऽञ्जलिः ।
कदाचिदेवं सहसोपसृत्य मां प्रिया ययाचे प्रणिपत्य मालती ॥ ३४ ॥

तब एकबार मेरी पत्नी मालती ने भी सहसा मेरे पास आकर हाथ जोड़कर प्रार्थना की 'हे प्रिय, मेरी भी उस मूर्ति को देखने की प्रबल इच्छा हो रही है, हाथ जोड़ती हूँ, चलो, हम भी उसे देखने चलें' ॥ ३४ ॥

ततः खमिन्दीवरनीलमेकतस्तया सहोत्पत्य जवेन गच्छतः ।
स तात शैलेन्द्रभरक्षमः क्षणान् पपात मे लोचनगोचरेऽर्णवः ॥ ३५ ॥

महाराज ! तब कमल के समान नीले आसमान में जब मैं एक ओर से तेजी के साथ शीघ्रता से जा रहा था तो थोड़ी ही देर में पर्वतों के भार को उठाने में समर्थ समुद्र की ओर मेरी दृष्टि गई ॥ ३५ ॥

उपोढनानामणिमौक्तिकोत्करैः करैरिवोर्ध्वं प्रसरद्भिरूर्मिभिः ।
अनर्घ्यमर्घ्यं जगदेकचक्षुषे समुद्यतं दातुमिवांशुमालिने ॥ ३६ ॥

नाना प्रकार के अनगिनत मणि एवं मोतियों के ढेर को लिये हुए ऊपर उठनेवाली तरंगरूपी हाथों से जगत को प्रकाश देनेवाले सूर्य को अर्घ्य देने के लिए समुद्यत ॥ ३६ ॥

नवप्रवालद्युतिपाटलोदरः करो मुरारेरिव शार्ङ्गलाञ्छितः ।
अलङ्कृतो जह्नुमहर्षिकन्यया पृथुर्जटाजूट इवान्धकद्विषः ॥ ३७ ॥

नवीन मूँगा की कान्ति के कारण जिसका अन्तर भाग अरुण हो रहा था, ऐसा समुद्र शार्ङ्ग धनुष लिये हुए भगवान विष्णु के हाथ के समान तथा जाह्नवी गंगा से सने भगवान् शंकर के विशाल जटाभार की तरह मालूम पड़ रहा था ॥ ३७ ॥

उदग्रकल्लोलमृदथितमहैरगाधपातालतलावगाहिभिः ।
दिशो निरुन्धन् नवमेघनादिभिर्निमग्नदिङ्नागमदाविलैर्जलैः ॥३८॥

वह समुद्र ऐसा था, जिसमें बड़ी-बड़ी लहरें घड़ियालों को पीड़ित कर रही थीं जिसमें जल अगाध पाताल तक व्याप्त था, नवीन मेघों की गर्जना की भाँति नादवाला तथा दिग्गजों के अवगाहन करने के कारण जो गँदला बन गया था, ऐसा उस समुद्र का वह जल दिशाओं को व्याप्त कर रहा था ॥ ३८ ॥

समेधितश्रीरभितस्तलोत्थितैः स्फुरन्मणिस्तोममयूखदामभिः ।
युगान्तनामृतशतोद्यार्पितैः पुलोमजायावतिकार्मुकैरिव ॥ ३९ ॥

वह समुद्र चारों ओर से नीचे तल से उठने वाली तथा सैकड़ों प्रलयकालीन मेघों के द्वारा अर्पित इन्द्राणी के पति (इन्द्र) के धनुष की सी शोभावाली दैदीप्यमान मणियों के समूह की किरणरूपी डोरियों से अत्यन्त शोभाशाली था ॥ ३९ ॥

उपान्तविश्रान्तपयोदमण्डलैर्जलद्विपस्तुमप्रकेलिभिः ।
चिरोल्लसद्द्वीपधिया समीक्षितैर्विशालनेत्रैर्मितमिभिः कृताद्भुतः ॥४०॥

समीप में ही विश्राम करने के लिए बैठे हुए अनेक बादलों में जहाँ जलहस्ती वप्रक्रीड़ा कर रहे थे, तथा विशाल नेत्रों वाले जलमत्स्य उन्हें बड़े-बड़े द्वीप समझकर देख रहे थे, जिससे वह समुद्र अद्भुत मालूम पड़ रहा था ॥ ४० ॥

सुजातकाठिन्यपयोधराः स्पृहाम् उपाहरन्तीः पथि वारिदाः पथि ।
क्वचिद्दधानः शरदिन्दुपेशला शिलासु शुक्तीर्जलमानुषीरिव ॥ ४१ ॥

कड़े स्तनोंवाली (शुक्तिपक्ष में-बादलों ने जिनमें काठिन्य उत्पन्न कर दिया था) तथा मार्ग में इधर उधर घूमने की इच्छावाली (शुक्तिपक्ष में-रास्ते में इधर उधर बिखरी हुई) शरद्कालीन चन्द्र की भाँति कोमल शुक्तियों की जलसुन्दरियों की तरह वह समुद्र धारण कर रहा था ॥ ४१ ॥

निजौघसीमन्तितसानुकर्दमैर्बृहद्दरीपुञ्जितरत्नराशिभिः ।
अधः प्रविष्टोद्धतकच्छपोद्धतैर्महाचलैरुल्लिखिताम्बरः क्वचित् ॥४२॥

अपने वेग से पानी का बहाव रोकने के कारण जिनके कई भागों में कीचड़ एकत्र हो गया था तथा जिनकी बड़ी बड़ी गुफाओं में अनगिनत रत्न-माणिक्य भी इकट्ठा हो गये थे, ऐसे बड़े-बड़े विशाल पर्वत उस समुद्र में नीचे तल तक

धँसे हुए थे, उन्हें कच्छपावतार भगवान् धारण किये हुए थे, जिससे वे ऊपर उठ आये थे और गगनचुम्बी हो गये थे ॥ ४२ ॥

सवेगवेलानिलवेल्लिताः क्वचित् नवोद्गता विद्रुमकन्दलीर्दधन् ।
शिखा इवोर्ध्वं तरुणार्कलोहिताः विनिर्गता वाडवजातवेदसः ॥ ४३ ॥

कहीं-कहीं पर तीर के वेगवायु से हिलाये गये नये-नये मूँगों के अङ्कुर को धारण करने वाला वह समुद्र ऐसा दिखाई दे रहा था, मानो प्रभातकालीन सूर्य की भाँति रक्तवर्ण की ऊपर उठती हुई वडवाग्नि की लपटें हों ॥ ४३ ॥

क्वचित् सुधापाण्डुनि फेनमण्डले निलीनदूर्वादलनीलनीरदः ।
सनाथतां नीत इवोपरि स्फुटम् फणीन्द्रपर्यङ्कशयेन शार्ङ्गिणा ॥ ४४ ॥

कहीं-कहीं पर अमृत की भाँति श्वेत फेन के समूह के ऊपर आसमान से लटके हुए दूब को भाँति नीले बादल ऐसे लग रहे थे, मानो शेषनाग की शैया पर सोने वाले भगवान् विष्णु ने उसको सनाथ कर दिया हो ।

विमर्श—भगवान् विष्णु नीलवर्ण, शेषनाग श्वेत, इसी तरह फेन-मण्डल श्वेत और मेघमण्डल नील—इसी तरह यह उपमानोपमेयभाव है ॥ ४४ ॥

क्वचित् मणीनां कुमुदोदरत्विषः सितेतरेन्दीवरमेचकाः क्वचित् ।
क्वचिद्दधानः शुकचञ्चुपाटलास्तटेषु मुक्ताशबलोदराः शिलाः ॥ ४५ ॥

उस समुद्र के तटपर कहीं-कहीं कुमुद के अन्तर्भाग के समान श्वेत कान्तिवाली कहीं-कहीं नीलकमल की भाँति नीले रंग की तथा कहीं पर तोते की चोंच की भाँति रक्तवर्ण की मोतियों से भरी शिलायें थीं ॥ ४५ ॥

तथैव तस्योपरि गत्वरस्य मे तमालनीलेन पथा पयोमुचाम् ।
त्वराविशीर्णश्लथबन्धनाञ्चितः पपात सीमन्तमणिर्मृगीदृशः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार तमाल की भाँति नीले बादलों के मार्ग (आकाशमार्ग) से जब मैं उस समुद्र के ऊपर से सपत्नीक जा रहा था, तब जल्दी-जल्दी चलने के कारण ढीला होकर मेरी स्त्री का चूड़ामणि (शिरोभूषण) उस समुद्र में गिर पड़ा ॥ ४६ ॥

प्रधावमानेन मयान्तरान्तरा नखाग्रनिर्लुण्ठनमयूखपल्लवः ।
स चान्तरम् दीधितिमानिवोदधेर्विवेश कोशाम्रतरुच्छटारुपः ॥४७॥

दौड़ते हुए मैंने जब बीच-बीच में नाखूनों के अग्रभाग से उसकी किरणों को पकड़ना चाहा, तब वह कान्तिमान्, आम्रतरु के रक्त पत्तों की-सी कान्ति-वाला चूड़ामणि उस समुद्र के अन्दर उसी तरह चला गया, जिस तरह प्रकाश-मान सूर्य अस्त के समय समुद्र में समा जाता है ॥ ४७ ॥

निवर्तमानं तु हठात् विकृष्यता तुरङ्गहस्तेन निरुन्धता नभः ।
क्षणादिव क्वापि रसातलोदरे करीव चिक्षेप कृतारवोऽर्णवः ॥ ४८ ॥

उस चूडामणि को न पाकर जब मैं निराश होकर लौटने लगा कि इतने में अपने आकाश को व्याप्त करनेवाली उत्ताल तरङ्गरूपी हाथ से मुझे खींचकर समुद्र ने हाथी की तरह भयकर गर्जना कर क्षण भर में रसातल में जा पटका ॥ ४८ ॥

स्त्रीदर्शनम्

मयाऽथ तत्र भ्रमता सविस्मयम् तमुद्वहन्ती मणिमुत्प्रभ करे ।
अदृश्यतैका विशती तपोवने स्मरस्य मूर्ता ममतेव कन्यका ॥ ४९ ।

स्त्री का दर्शन

जब मैं नीचे गया तो वहाँ विस्मय के साथ घूमते हुए मैंने साक्षात् शरीर-धारिणी काम की ममता के समान एक सुन्दर कन्या को देखा, जो उस चमकीले मणि को हाथ में लेकर तपोवन में प्रविष्ट हो रही थी ॥ ४६ ॥

तत प्रियामौलिमणिर्न मेऽर्पित पुन पुन प्रार्थितयाऽपि यन् तया ।
अह तदस्या मकराङ्किते बलात् अपाहर मन्मथरत्नपादुके ॥ ५० ॥

जब बार बार प्रार्थना करने पर भी उसने मेरी प्रिया क उस चूडामणि (शिर के आभूषण को) नहीं लौटाया, तब मैंने भी जबर्दस्ती उसके मछली की आकृतिवाले कामरत्नजटित खड़ाऊ को छीन लिया ॥ ५० ॥

किमाश्रम शून्यमिद तपोधनैरनेन हा धिङ्मुषितास्मि दस्युना ।
अयेति बाष्पोद्गमगद्गदै पदैर्मुहुर्वदन्ती करुण रुरोद सा ॥ ५१ ॥

'हाय ! क्या यह आश्रम तपस्वियों से शून्य हो गया । अर्थात् यहाँ कोई तपस्वी नहीं रह गया, जो इस लुटेरे चोर ने मुझे लूट लिया !' आँसू निकल आने के कारण रुँधे हुए कण्ठ स इस प्रकार बार-बार चिल्लाती हुई वह अत्यन्त करुण स्वर में जोर-जोर से रोने लगी ॥ ५१ ॥

मुनिदर्शनम्

ततस्तदीये रुदितध्वनौ श्रुते ससम्भ्रम कोऽपि महातपा मुनि ।
विनिर्ययौ रत्नशिलागृहाद्बहिस्तमालभासस्तरणिर्घनादिव ॥ ५२ ॥

मुनि का दर्शन

तब उसके रोने धोने के शब्द को सुनकर कोई महातपस्वी मुनि तमाल के समान नीली रत्नशिलाओं के बने हुए घर से उसी प्रकार बाहर आये, जैसे नीले बादलों के बीच से सूर्य बाहर आता है ॥ ५२ ॥

अनेन केनापि तवाश्रमे बलात् इदं हि तातामरण हृत मम ।
इति क्रुधं तद्वचसा स आददे हविर्निषेकेण शिखामिवानल ॥ ५३ ॥

"हे महाराज ! जाने यह कौन है ? इसने आपके इस आश्रम में बरबस

मेरा आभूषण छीन लिया है" इस प्रकार उस स्त्री के वचनों को सुनकर उस मुनिजी का क्रोध उसी प्रकार बढ़ गया, जैसे हवन-सामग्री पाकर आग की ज्वाला बढ़ती है ॥ ५३ ॥

शापवर्णनम्

निबद्धभीमभ्रुकुटिर्विलोकयन् दृशा तदोल्काकपिशोग्रतारया ।
स तीव्रकोपस्फुरिताधरोऽवदत् वचो ममाक्षिप्य कृतान्ततेरिति ॥ ५४ ॥

शापवर्णन

तब वह उल्का की भांति जलती हुई लाल-पीली पुतलियों वाली दृष्टि से अपनी भयंकर भौंहें चढ़ाकर मुझे देखता हुआ, क्रोध के मारे कांपते हुए ओठों से विनम्र बने हुए मुझे बीच में कुछ न बोलने देकर बोला ॥ ५४ ॥

प्रसूनमप्यत्र न जातु वीरुधां हरत्ययं नः पवनस्तपोवने ।
त्वया तु सम्प्रत्यबलाविभूषणे शठात्मनाशाय करः प्रसारितः ॥ ५५ ॥

हे धूर्त ! हमारे इस आश्रम में तो वायु तक लताओं से एक पुष्प लेने का साहस नहीं करता, फिर तूने जो इस समय एक अबला के आभूषण को बरबस छीनने की चेष्टा की है, तो मानो तूने अपने नाश के लिए खुद आगे हाथ बढ़ाया है ॥ ५५ ॥

अकारि कापेयमिदं त्वयेदृशं यदद्य सद्यः कपिरेव तद्भव ।
ततः स मामित्यशपत् कमण्डलोरपः समादाय दवानलोपमः ॥५६॥

"आज जो तुमने इस प्रकार का बन्दर की भांति अनुचित कार्य किया है तो तुम शीघ्र ही बन्दर बन जाओ ।" इस तरह उस दावानल के समान मुनि ने कहकर कमण्डलु से पानी लेकर मुझे शाप दे दिया ॥ ५६ ॥

कोपशान्तिः

अथास्य कोपः प्रशशाम मानसे शनैः कृपासानुशये प्रसीदति ।
अपां कणस्तिष्ठति वीचिकम्पिते न पद्मिनीपत्रपुटोदरे चिरम् ॥ ५७ ॥

फिर दयार्द्र चित्त वाले उस मुनि के प्रसन्न होने पर उनका क्रोध शान्त हो गया । ठीक ही है, जलतरंगों से कम्पित कमलिनी के पत्ते पर भला चिरकाल तक कहीं पानी की बूँद टिक सकती है ? ॥ ५७ ॥

इहानुतापो भगवन् विमुच्यताम् इयं मदीया भवितव्यतेदृशी ।
तदुच्यतां शापनिशामुखोद्गतं कदा ममेदं तिमिरं व्यपैष्यति ॥ ५८ ॥

फिर मैंने प्रार्थना की कि "भगवन् अब इस क्रोध को दूर कीजिए । मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा था, जो ऐसा हुआ । अब यह बताइये, मेरी इस शाप रूपी रात्रि का यह अन्धकार कब मिटेगा, मेरा शाप कब छूटेगा ? ॥ ५८ ॥

मयैवमुक्तः स तदैवमूचिवान् यदा पुरो वङ्क्षुमुनेरिहागतः ।
करे तवाधास्यति वत्स कङ्कणं स नार्मदं सीयकराजनन्दनः ॥ ५६ ॥

मेरे ऐसा कहने पर उसने यह कहा—हे प्रिय, वङ्क्षु मुनि के यहाँ आकर उसके सामने जब सीयकराजा का पुत्र सिन्धुराज नर्मदा के दिये हुए कङ्कण को तुम्हारे हाथ में पहनायेगा, तब तेरा शाप समाप्त होगा ॥ ५६ ॥

ततः प्रभृत्येव वलीमुखाकृतेः समाः सहस्रं वसतो रसातले ।
अनेन मे सम्प्रति पार्थिवेन्दुना तवाश्रमे शापतमस्तिरस्कृतम् ॥ ६० ॥

हे महामुने! तबसे आज तक एक सहस्र वर्ष तक मैं वानरमुख धारण कर रसातल में रहता आया और आज इस राजचन्द्र ने आपके आश्रम में मुझे शाप से मुक्त कर दिया है ॥ ६० ॥

प्रत्युपकारकरणेच्छा

कृतं यदेतेन मुनीन्द्र लीलया प्रतिक्रिया तत्र न कर्तुमस्म्यलम् ।
हिमत्विषः प्रत्युपकारगोचरो मरीचिलीढक्षशिमा किमंशुमान् ॥६१॥

उपकार करने की इच्छा

हे मुनीन्द्र! इस राजा ने जो खेल-खेल में यह सब कर डाला है, मैं तो इस उपकार का बदला चुकाने में अपने को अत्यन्त असमर्थ पा रहा हूँ। अपनी प्रखर किरणों से जिसने चन्द्रमा की कृशता को पी लिया हो, ऐसे सूर्य का प्रत्युपकार चन्द्रमा क्या कर सकता है? ॥ ६१ ॥

तथाप्ययं देव निजप्रयोजने लघीयसि क्वापि नियोज्यतां जनः ।
अनूरुमुर्वीतलरत्नदीपकः किमर्यमा नाथित सूतकर्मणि ॥ ६२ ॥

फिर भी हे देव! किसी छोटे मोटे काम को करने के लिए मुझे भी नियुक्त कर लीजिए। सारी धरती का रत्नदीपक बना हुआ सूर्य बेचारे पङ्गु अरुण को सूतकार्य के लिए क्या अपने पास नहीं रखता? ॥ ६२ ॥

तेनैवमुक्तः प्रणयोन्मुखेन नृपस्त्रपानम्रमुखो बभूव ।
असादृशामा स्तुतय प्रकृत्या मदं यदुद्दीपयितुं यतन्ते ॥ ६३ ॥

राजा के प्रति प्रेम रखनेवाले उसके ऐसा कहने पर राजा लज्जा से कुछ नतमुख हो गया। क्योंकि बुरे लोगों की की गयी तारीफ उनके गर्व को स्वभावतः और बढ़ाने का कार्य करती है, परन्तु भले लोग तो अपनी स्तुति सुन कर और भी नम्र हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

निजवृत्तकथनम्

एवं सुधारससमृद्धिमनोहरेण श्लाघ्येन तेन शशिखण्डसमागमेन ।
नाम्यप्यवापदुमया घटितस्य लक्ष्मीं स क्ष्मापतिर्क्षटिति जूटइवाष्टमूर्तेः ॥६४॥

अपनी दशा का वर्णन

इस प्रकार अमृतरस की शोभा के समान मनोहर एवं प्रशंसनीय उस शशिखण्ड के साथ समागम से वह राजा उसी प्रकार सुशोभित हुआ, जैसे उमा के संसर्ग से भगवान शंकर का जटाजूट शोभित होता है ॥ ६४ ॥

तेनाथ सूनृतवचःश्रुतये स पृष्टः पृथ्वीतलागमनहेतुमजानतेव ।
आख्यातवान् स्मितसुधास्नपितोष्ठबिम्बस्तस्मै निजव्यतिकरं नरलोकपालः ॥

उस शशिखण्ड ने श्रुतिमधुर शब्दों को सुनने के लिए जब अज्ञानी की भाँति धरातल पर राजा के आगमन का कारण पूछा तो मधुर हंसीरूपी अमृत से ओठों को नहलाते हुए उस राजा ने उसको अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ६५ ॥

विद्याधरस्तदनु स प्रहितोऽपि राज्ञा नैव स्वधामगमनाभिमुखो बभूव ।
पूर्वोपकारिणि जनेऽनुपकृत्य किञ्चिन् यान्तो यदुन्नतधियः किमपि त्रपन्ते ॥६६॥

फिर सिन्धुराज के विदा करने पर भी वह विद्याधरपुत्र शशिखण्ड अपने घर जाने के लिए उत्सुक नहीं रहा, क्योंकि अपना उपकार करने वाले के प्रति बिना कुछ प्रत्युपकार किये यों ही चले जाने में उच्च कोटि के लोग कुछ हिचकिचाते हैं ॥ ६६ ॥

देव प्रसीद समितिः क्रियतामिदानीं भृत्यः स्वपादरजसामयमग्रयायी ।
तस्येति वल्गु वचनं वचसा महर्षेः सम्राट् ततः स कथमप्युररीचकार ॥६७॥

शशिखण्ड बोला—"हे राजन्, आप मुझ पर प्रसन्न होइये और कृपया हमेशा आपके आगे-आगे चलनेवाले मुझ दास को अपनी चरण-कमल की धूलि का साथी बना लीजिये' उसके इन यथार्थ वचनों को राजा ने महर्षि वंकु के कहने पर मान लिया ॥ ६७ ॥

आमन्द्रशङ्खपटहस्वनसूचितं प्राक् सैन्यं क्षणात् निजमथ स्मृतमात्रमेव ।
धौतासिपत्रबहुलांशुलतोपगूढं पातालसन्तमसमस्य पुरो बभूव ॥६८॥

इसके बाद शशिखण्ड के स्मरण करते ही उसका सारा विशाल विद्याधरों का सैन्य उसके सामने समुपस्थित हुआ। उसमे चमकीली तलवारों की किरणें लताओं के समान शोभायमान थीं और जो पाताल के अन्धकार की तरह मालूम पड़ रहा था ॥ ६८ ॥

प्रस्थानम्

तेनोपपादितमथो रथमुत्पताकम् अध्यास्य कार्मुकसनाथकरो नरेन्द्रः ।
वज्राङ्कुशम्प्रति स वङ्कमुनिप्रयुक्तः प्रस्थानमङ्गलविधिर्मस्तृणं प्रतस्थे ॥ ६९

सेना सहित प्रस्थान

शशिखण्ड के द्वारा सामने लाये हुए रथ पर जिस पर झण्डा फहरा

रहा था, धनुष को लेकर वह राजा बैठा। और जब विधि विधानपूर्वक वङ्कु-मुनि ने प्रस्थान योग्य सुन्दर मङ्गलपाठ इत्यादि कर दिया, तब वह वज्राङ्कुश पर आक्रमण करने के लिये चल पड़ा ॥ ६६ ॥

लग्नेनाङ्गे युगपदुटजद्वारदेशाददूरे
पश्यन्तीनां मुनिमृगदृशां लोचनांशूत्करेण ।
सद्यः प्राजिक्रतुभरमहादीक्षया स क्षितीशो
मेध्यामेणत्वचमिव दधन् सत्वरं लक्ष्यते स्म ॥ ७० ॥

कुटियों के दरवाजे के समीप ही चले जाते हुए उस राजा पर उसकी ओर देखती हुई मृग के समान नेत्रवाली मुनिस्त्रियों की दृष्टियों की जो किरणें पड़ रही थीं, उससे वह ऐसे सुशोभित हो रहा था, मानो भयकर युद्धरूपी यज्ञ के लिए दीक्षा ग्रहण करने वाले उसने पवित्र हरिण के लाल चर्म को धारण कर लिया हो ॥ ७० ॥

चलितयतिसमाधित्रस्तसारङ्गशावं
निभृतशुकमृतोच्चैर्नीडमुड्डीनबर्हि ।
हरिणमिथुनमुक्तान्योन्यकण्डूयनं तत्
मुनिवनमभितोऽभून् सैन्यकोलाहलेन ॥ ७१ ॥

तब समस्त मुनिवन में सेना का कोलाहल होने लगा, जिसके कारण यतियों की समाधि टूट गई, हिरन के बच्चे डर गये, तोते-मैना चकपका गये, मोर घोंसलों से उड़कर भागने लगे, हिरणों के जोड़े ने एक-दूसरे को सींग से खुजलाना बन्द कर दिया ॥ ७१ ॥

अथ पथि नवसाहसाङ्कः स विद्याधरैर्वन्दितः
प्रमुदितमुनिकन्यकामुक्तनीवारलाजाञ्जलिः ।
श्रियमधित रमाङ्गदेनान्वितस्तूर्यघोषोर्मिभिः
कुलगिरिकुहरप्रतिध्वानदीर्घैर्निरुन्धन् दिशः ॥ ७२ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये विद्याधराधिपसमागमो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

रास्ते में विद्याधर उसकी वन्दना कर रहे थे। प्रसन्न हुई मुनिकन्यायें उस सिन्धुराज के ऊपर धान की लाजाञ्जलि बिखेर रही थीं। शोभासम्पन्न, तुरही की ध्वनि द्वारा पर्वत-गुहाओं को प्रतिध्वनित करता हुआ और दसों दिशाओं को व्याप्त करता हुआ वह रमाङ्गद के साथ युद्ध के लिए चल पड़ा ॥ ७२ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्कचरित में विद्याधर से राजा का समागम नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः सर्गः

चौदहवाँ सर्ग

आकाशारोहणम्

अथाश्रमोपान्तमहीं विहाय नेमिस्वनोत्कण्ठितनीलकण्ठाम्।
रथोऽस्य विद्याधरमंत्रशक्त्या रथाङ्गपाणेः पदमारुरोह ॥ १ ॥

आकाश में आरोहण

चक्र की ध्वनि से मयूरों को उत्सुक बनानेवाली धरती के समीपवर्ती भागों को त्यागकर विद्याधरों की मंत्रशक्ति के बल पर सिन्धुराज का रथ आकाश में चढ़ गया ॥ १ ॥

स सम्भ्रमोत्तम्भितकर्णतालम् आकर्णितो दिक्करिभिः सकम्पैः।
आध्मातशङ्खस्वनमांसलोऽग्रे तस्योदगान्मङ्गलतूर्यघोषः ॥ २ ॥

सेना के आगे-आगे मङ्गलवाद्यों का घोष और जोर से बजाये हुए शङ्ख के गम्भीर शब्द को भय के साथ कान खड़े किये हुए काँपते हुए दिशाओं के हाथियों (दिग्गजों) ने सुना ॥ २ ॥

उदस्य वक्त्राणि नभस्थलेन यान्तं तमैक्षन्त तपस्विकन्याः।
आकर्णविस्तारितमुग्धनेत्राः पत्रान्तरैराश्रमपादपानाम् ॥ ३ ॥

कान तक फैली हुई बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों वाली तपस्विकन्याओं ने आश्रम के पेड़ों के पत्तों के बीच के झरोखों से मुख आगे बढ़ाकर आकाश-मार्ग से जाते हुए उसे देखा ॥ ३ ॥

व्रजन् स विद्याधरवाहिनीनां मध्ये बभौ मध्यमलोकपालः।
अनल्पसौन्दर्यसुधैकसूतिः शशीव नक्षत्रपरम्पराणाम् ॥ ४ ॥

विद्याधर की सेनाओं के मध्य में वह धरती का राजा उसी प्रकार सुशोभित हुआ, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच अत्यन्त सौन्दर्यशाली अमृत को एक-मात्र उत्पन्न करनेवाला चन्द्रमा ॥ ४ ॥

कुतूहलोल्लासितपक्ष्मलेखान्याकृष्टकर्णोत्पलविभ्रमाणि।
तस्मिन्नमुच्यन्त नितम्बिनीभिरपाङ्गवल्गीनि विलोचनानि ॥ ५ ॥

कुतूहल के कारण जिनकी पलकें उल्लसित हो गयी थीं, जिन्होंने अपने कर्णभूषण रूप कमलों को हटा लिया था, ऐसी उन नारियों के नेत्रों के मधुर कटाक्ष उस राजा पर पड़ने लगे ॥ ५ ॥

रमाङ्गदकृतवर्णनम्

अथान्तिकस्थेन स चाऽभ्यधायि रमाङ्गदेनेत्थमवन्तिनाथ ।
सहस्रशः खे चलितानि पश्यन् विद्याधराणा पुरतो बलानि ॥ ६ ॥

रमाङ्गदकृत वर्णन

हजारों की संख्या में आकाश में चलती हुई विद्याधरों की सेना को देख कर उस समीपवर्ती रमाङ्गद ने उस अवन्तिनाथ से इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

हैम नृप स्यन्दनमुत्पताकम् आकम्पिरत्नाङ्कितकेतुमेते ।
सहस्ररश्मेरिव वालखिल्याः विद्याधरास्ते परिवारयन्ति ॥ ७ ॥

हे राजन्! लहराते हुए झण्डेवाले एवं काँपती हुई रत्न पताकाओं वाले आपके स्वर्णमण्डित रथ को घेरे हुए ये विद्याधर लोग ऐसे लग रहे हैं, मानो घेरा बनाकर सूर्य को प्रणाम करनेवाले बालखिल्य मुनि हों ॥ ७ ॥

प्रजन्नमर्त्यप्रमदाविमुक्तमन्दारमालाजटिलांसकूट ।
कुन्दच्छदापाण्डुसटाकलाप कात्यायनीसिंह इवावभासि ॥ ८ ॥

आपकी इस यात्रा में विद्याधर एवं देवस्त्रियों द्वारा समर्पित मन्दार-(पारिजात)मालाओं से लदे हुए कन्धों वाले आप ऐसे दिखाई दे रहे हैं, जैसे कुन्द के पुष्पों की कान्तिवाली जटाओं (आयाल) से युक्त भगवती चण्डी का सिंह हो ॥ ८ ॥

प्रयाणतूर्यध्वनिरेष किं ते पातालकुक्षिप्रतिनादसान्द्र ।
रवः प्रसर्पत्युत भैरवोऽयम् अकालकल्पान्तपयोधराणाम् ॥ ९ ॥

जरा सुनिये तो, युद्ध के समय बजने वाली तुरही का शब्द पाताल तक पहुँच कर दूनी आवाज में सुनाई दे रहा है। क्या यह आपकी सेना का प्रयाणकालीन भेरी का शब्द है या अकाल में ही प्रलयकालीन मेघों की भयकर गर्जना है? ॥ ९ ॥

मूले भुवः कज्जलधूलिकल्पम् आलक्ष्यते पश्य निलीनमेतत् ।
नीरन्ध्रविद्याधरमौलिरत्नप्रभाङ्कुरशासितमन्धकारम् ॥ १० ॥

धरती के नीचे वाले भाग में काजल की धूलि के समान जो अन्धकार है, वह विद्याधर लोगों के घने मुकुटों की मणियों के प्रकाश से दूर हटाया जा रहा है और वह छिपता हुआ सा मालूम हो रहा है ॥ १० ॥

आयामिमालामणिकान्तिदण्डैरुत्सारयन्त परितस्तमांसि ।
अमी मरुन्नर्तितचामरास्ते समुल्लिखन्तीव खुरैस्तुरङ्गा ॥ ११ ॥

लम्बी-चौड़ी मालाओं में लगे मणियों की कान्ति रूपी दण्ड से चारों ओर के अन्धकार को हटाते हुए, हवा से जिनके ऊपर के चँवर नाच रहे हैं,

ऐसे आपके ये घोड़े तो मानो अपने खुरों से आसमान को ही कुरेदना चाहते हैं ॥ ११ ॥

विहस्य विद्याधरबालिकाभिः समं विमुक्ता नयनत्रिभागैः ।
प्रस्थानलाजाञ्जलयस्तवैते रथे पताकास्खलिता पतन्ति ॥ १२ ॥

विद्याधर-बालिकाओं ने हँसकर अपने नयन-कटाक्षों के साथ जो प्रस्थान के लिए शुभ लाजा बिखेरे हैं, वे रथ की पताकाओं से टकराकर आपके ऊपर गिर रहे हैं ॥ १२ ॥

नरेन्द्र विद्याधरपुङ्गवानाम् एते पुरः पश्य कृपाणपट्टाः ।
कालाञ्जनश्यामतयाऽऽश्रयन्ते तरङ्गतां व्योममहार्णवस्य ॥ १३ ॥

हे राजन् ! श्रेष्ठ-श्रेष्ठ विद्याधरों के ये कृपाणपट्ट सामने ही शोभायमान हैं, जो काले अञ्जन की भाँति श्याम रंग के रूप में ऐसे दिखाई दे रहे हैं, मानो आकाशरूपी महासमुद्र की लहरें लहरा रही हैं ॥ १३ ॥

वाचालयन्त्यः ककुभां मुखानि नादेन जाम्बूनदकिङ्किणीनाम् ।
इमाः विमानावलयः कथञ्चित् अन्योन्यरुद्धप्रसराः प्रयान्ति ॥ १४ ॥

दिशाओं को स्वर्णनिर्मित घण्टिकाओं की ध्वनि से मुखरित करती हुई, एक-दूसरे के मार्ग को रोकती हुई ये विमानों की पंक्तियाँ आगे बढ़ रहीं हैं ॥ १४॥

वातवर्णनम्

आधूतकार्तस्वरकेतुयष्टिरेतान्यशोकस्तवकारुणानि ।
आनतयत्येप पताकिनीनां वातः पताकांशुकपल्लवानि ॥ १५ ॥

वायु का वर्णन

झण्डों में लगे स्वर्णदण्डों को कँपाती हुई और इन अशोक वृक्षों पर लगे रक्तवर्ण के पुष्पगुच्छों के समान सेनाओं के ध्वजवस्त्रों को नचाती हुई यह हवा चल रही है ॥ १५ ॥

नभश्चराणां व्रजतामसीपाम् अन्योन्यपीनांसविघर्षणेन ।
उल्लासितः कुंकुमपांसुपूरः पिशङ्गयत्येप दिशां मुखानि ॥ १६ ॥

आकाशमार्ग में चलने वाले इन लोगों के एक-दूसरे के पुष्ट कंधों की रगड़ से उठी हुई कुंकुम-धूलि का पुंज दिशाओं के मुखों को भी मानो धूसर बना रही हैं ॥ १६ ॥

प्रेक्षकस्त्रीवर्णनम्

सरत्नकाञ्चीवलयैर्विलाससिंहासनैर्मन्मथपार्थिवस्य ।
इतो नितम्बैरसितेक्षणानां व्याप्तान्तरं व्योम समाप्तिमेति ॥ १७ ॥

प्रेक्षक स्त्रियों का वर्णन

कृष्ण वर्ण के नेत्रों वाली स्त्रियों की रत्नजटित मेखलाओं से सुसज्जित, कामदेव रूपी राजा के विलास की चौकियों जैसे नितम्बों से भरा हुआ सारा नभ ऐसा दिखाई दे रहा है, मानो उसकी लम्बाई-चौड़ाई समाप्त हो गई हो ॥ १७ ॥

अन्योन्यसंघट्टविसूत्रितानि कुमुद्वतीकान्तकरोपमाणि ।
एतानि पश्याम्बरतः पतन्ति विमानमुक्ताफलजालकानि ॥ १८ ॥

आपस में टकराने से विमानों के मोती टूट रहे थे, चन्द्रमा की किरणों के समान तेजस्वी ये मोती देखो, आकाश से नीचे गिरे जा रहे हैं ॥ १८ ॥

एता प्रयान्त्य पुरतो विमानैर्विवर्त्य बाला मदपङ्कजानि ।
अपाङ्गविश्रान्तविलोलतारैस्त्वा नाथ नेत्राञ्जलिभि पिबन्ति ॥ १९ ॥

ये विमानों पर आने वाली तरुणियाँ अपने मुखकमलों को इधर घुमाकर नेत्र के कोनों में चञ्चल पुतलियों को स्थिर कर अर्थात् कटाक्षपात करती हुई एक टक आपके रूप का पान कर रही हैं ॥ १९ ॥

आसामित सत्वरगामिनीना गतागताभ्या मणिकुण्डलानि ।
निन्दन्ति विद्याधरकामिनीना कपोलकालागरुपत्रकाणि ॥ २० ॥

यहाँ देखिये, जल्दी जल्दी चलनेवाली, इधर उधर आने जानेवाली विद्याधर-स्त्रियों के मणिकुण्डल उनके गालों पर बने हुए कालागरु की पत्ररचना (बनावट) को रगड़कर मिटा रहे हैं ॥ २० ॥

इतो मिथ पार्श्वनिघट्टितेषु जवाद् विमानेषु समापतत्सु ।
आसामित प्रेङ्खितमध्यरत्नविसूत्रिता हारलता स्फुटन्ति ॥ २१ ॥

इधर शीघ्रता से विमानों के आने-जाने के कारण आपस की टक्कर लगने से इन स्त्रियों के हिलते हुए हारों के रत्नजटित मध्यभाग भी टूट रहे हैं ॥ २१ ॥

एते गतिक्षोभवशान् वधूना पश्योन्मयूखा मणिकर्णपूरा ।
इतस्तले सञ्चरतामहीना निपत्य चूडामणिषु स्वनन्ति ॥ २२ ॥

इधर देखो, चलने से जो हचका लग रहा था, उसके कारण किरणें छिटका से निकल रही थीं, ऐसे इन स्त्रियों के मणिजटित कनफूल, तल पर इधर उधर विचरण करनेवाले सर्पों के मस्तकस्थित मणियों के ऊपर गिरकर शब्द कर रहे हैं ॥ २२ ॥

पातालमेतन्नयनोत्सवेन विचिन्त्य शून्यं शशलाञ्छनेन ।
इहाङ्गनाभि स्वमुखच्छलेन कृताम्बरे चन्द्रमयीव सृष्टि ॥ २३ ॥

नयनों को आनन्द देनेवाले चन्द्रमा से पाताललोक को रहित जान

कर ही मानो यहाँ पर इन स्त्रियों ने अपने मुखचन्द्रों के बहाने से सारे आकाश में चन्द्रमाओं की नई सृष्टि ही कर दी है ॥ २३ ॥

इतो रसं पल्लवयन्ति वीरं विद्याधराणां करवालवल्लयः ।
एताश्च शृङ्गारमितोऽङ्गनानां दृशो नवेन्दीवरदामदीर्घाः ॥ २४ ॥

एक ओर तो वीर विद्याधर लोगों की तलवारें वीररस को पुष्ट कर रही हैं और इधर दूसरी ओर नवकमल की पंखुड़ियों के समान दीर्घ नेत्रोंवाली स्त्रियों की दृष्टियाँ शृङ्गार-रस का आधान कर रही हैं ॥ २४ ॥

झटित्यवाप्तप्रतिबिम्बमेतत् सैन्यं विलोक्य स्फटिकाङ्गणेषु ।
स विस्मयं नागपुराङ्गनाभिरितो क्रियन्ते नयनोत्पलानि ॥ २५ ॥

शीघ्र ही स्फटिक-निर्मित अंगनों में विमानों की परछाईं और सेना की परछाईं देखकर आश्चर्य के साथ नागपुर (पातालपुर) की स्त्रियाँ अपने कमल नयनों को उठाकर इस ओर देखने लगी हैं ।

विमर्श—अर्थात् नीचे हमारे सैन्य की परछाईं देखकर कौतूहलवश सभी सुन्दरियों के नेत्र इस तरफ उठ गये हैं ॥ २५ ॥

नरेन्द्र तस्माद् गगनावगाहित्वद्दर्शनव्यग्रतपस्विपङ्क्तेः ।
दूरं हविर्धूमसुगन्धिसीम्नः स्थानात् वयं वङ्कुमुनेः प्रवृत्ताः ॥ २६ ॥

हे राजन् ! आकाशमार्ग से जाने वाले आपके दर्शनों के लिये उत्सुक तपस्वियों की पंक्तिवाली, तथा हवन की धूम की सुगन्धि वाली वङ्कुमुनि की आश्रम की सीमा से बाहर अब हम आगे चले आये हैं ॥ २६ ॥

वनवर्णनम्

यथाऽयमभ्येति पुरो नभस्वान् आकृष्टनानाविधपुष्पगन्धः ।
अग्रे तथाऽभ्रंलिहभूरुहं नः शङ्के वनं दृक्पथमेष्यतीति ॥ २७ ॥

वन का वर्णन

नाना प्रकार के फूलों की गन्ध को धारण करनेवाली यह हवा जैसे-जैसे हमारे पास आ रही है, और आगे गगनचुम्बी ऊँचे-ऊँचे पेड़ दिखाई पड़ रहे हैं, अतः इससे यही जान पड़ता है कि सामने ही वन आने वाला है ॥ २७ ॥

एभिर्महीपाल विमानरत्नैरग्रेसरैः सम्भ्रममुक्तमार्गः ।
निष्कम्पकेतुर्महताऽस्पदेन रथस्तवायं वियति प्रयाति ॥ २८ ॥

इन आगे चलते हुए श्रेष्ठ विमानों द्वारा मानो आप के रथ के लिए डरकर मार्ग खाली कर दिया गया है और तत्र खाली मार्ग पर जिसका झण्डा भी हिलता हुआ नहीं प्रतीत हो रहा है, ऐसा तुम्हारा यह रथ अतिशीघ्रता से आकाशमार्ग से चल रहा है ॥ २८ ॥

सितप्रसूनस्तबकैस्तरूणाम् एषा पुरस्तारकिता तरित्रा ।
झटित्यशेषैव निमेषमात्रादुन्मीलिता पश्य वनान्तलेखा ॥ २९ ॥

वृक्षों के श्वेत फूलों के गुच्छों से जिसने आकाश में मानो तारे लगा दिये हैं, ऐसी यह वनभाग की भूमि क्षण भर में ही साफ-साफ दिखाई देने लगी है, जरा आप भी उसे देखें ॥ २९ ॥

यदीश विद्याधरवाहिनीयम् आकाशतः किञ्चिदध प्रवृत्ता ।
अवैमि चित्ते निहितं तदस्या पदं वनालोकनकौतुकेन ॥ ३० ॥

हे स्वामी ! विद्याधर लोगों की यह सेना आकाश से कुछ नीचे की ओर आ रही है, इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वन देखने की उत्सुकता ने इसके चित्त में अपना घर बना लिया है ।

विमर्श—अर्थात् वनशोभा की नयनमनोहारिता को पास से देखने के लिए ही यह हमारी सेना अब कुछ नीचे से आ रही है ॥ ३० ॥

एषा तमालावलिनीलकान्तेस्त्रोढरामामुखहेमपद्मा ।
सेना वनस्याभिमुखं प्रयाति पश्याम्बुराशेरिव जह्नुकन्या ॥ ३१ ॥

सुन्दरी स्त्रियों के विकसित मुखों के समान पीत-कमल जिसमें खिले हुए हैं, ऐसी जाह्नवी गंगा जिस तरह समुद्र की ओर दौड़ती है, उसी तरह हमारी यह सेना तमाल वृक्षों की पंक्ति के कारण नील कान्ति वाले इस वन की ओर आ रही है ॥ ३१ ॥

अस्या. क्षमापाल वनान्तराजेविमानपङ्क्तिः पुरतः स्थितेयम् ।
आलम्बते रत्नकिरीटलक्ष्मीं मणिप्रभोद्गीर्णमहेन्द्रचापा ॥ ३२ ॥

हे पृथ्वीपाल ! इस वनपंक्ति के ऊपर विराजमान मणिप्रभा से स्फुट इन्द्रधनुष की-सी शोभा धारण करनेवाली यह विमानों की पंक्ति, रत्न-जटित मुकुटों का शोभा धारण कर रही है ।

विमर्श—अर्थात् वन के सिर पर स्थित ये विमान, जिनमें रत्नादि जड़े हुए हैं, उसके मुकुट का काम कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

एते खलीनक्षतशोणितावताः पश्य द्रागोपप्रियमुद्वहन्त ।
तुरङ्गलालाजलबिन्दवस्ते लुठन्ति हेमद्रुमपल्लवेषु ॥ ३३ ॥

लगाम के खींचने के कारण घाव से जिनके मुख रक्तरञ्जित हो रहे हैं, ऐसे उन घोड़ों की रक्तमिश्रित लार की बूँदें लालमणि की भाँति स्वर्ण सदृश वृक्षों के पत्तों के ऊपर पड़ रही हैं ॥ ३३ ॥

मन्दानिलान्दोलितपल्लवाग्रा समस्तपुष्पाहरणोद्यताभ्य ।
इतो लता पार्थिव सरभसं ते लावण्यमादातुमिवाङ्गनाभ्य ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! ये हवा के हलके झोंकों से हिलते हुए पत्तों वाली लताएँ अपने

पुष्पों को चुनने वाली इन स्त्रियों से उनका सौन्दर्य ग्रहण करने की इच्छा कर रही हैं।

विमर्श—सुन्दरियाँ सब पुष्पों को चुनती थीं, उसके बदले में लताएँ उनके सौन्दर्य को ग्रहण करना चाहती थीं ॥ ३४ ॥

अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम् आभान्ति लीनभ्रमरोदराणि ।
विद्याधरी-विभ्रमदर्शनार्थम् उत्तानितानीव विलोचनानि ॥ ३५ ॥

जिनके ऊपर भौंरे बैठे हुए हैं, ऐसे इन वृक्षों के पुष्प ऐसे मालूम होते हैं, मानो विद्याधर-सुन्दरियों के शृंगारी हाव-भावों को देखने के लिए वृक्षों ने अपनी आँखें खोली हों ॥ ३५ ॥

पश्याग्र वातायनमेतदेत्य लताग्रपुष्पाण्यवचिन्वतीनाम् ।
नृपातिभारेण नितम्बिनीनां विमानरत्नानि पुरो नमन्ति ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! आगे के झरोखों में आकर लताओं से फूल चुनने वाली स्त्रियों को तो देखो, जिनके नितम्ब के अत्यधिक भार से (वजन से) विमानों के अग्रभाग के मणि भी झुके जा रहे हैं ॥ ३६ ॥

शाखाग्रलग्नासु महीतरूणां विटङ्करत्नद्युतिशृङ्खलासु ।
विलम्बमानैरिव चुम्बितेयम् इतो विमानैर्मणिपञ्जरश्रीः ॥ ३७ ॥

विमानों के नीचे की चौखटों में लगी ये रत्नजटित जंजीरें पेड़ की शाखाओं का स्पर्श कर रही हैं और उन पर लटकते हुए ये विमान ऐसे लग रहे हैं, मानो मणिनिर्मित पिंजड़े हों ॥ ३७ ॥

इमाः समं प्राणसमैर्वनेऽस्मिन् सर्वर्तुलक्ष्मीनिबिडोपगूढे ।
नभःस्थिता एव नरेन्द्र पश्य पुष्पोच्चये लोलदृशः प्रवृत्ताः ॥ ३८ ॥

हे नरेन्द्र ! जरा इधर तो देखिये, सब ऋतुओं में एक सी शोभा धारण करने वाले इस वन में अपने प्राणों की बाजी लगाकर ये कोई चञ्चल नेत्रों वाली नारियाँ आकाश से ही फूल चुनना चाहती हैं ॥ ३८ ॥

एताः करैः काञ्चनपद्मगौरैर्विलासवत्यः सनिबन्धनानि ।
हरन्ति पुष्पाणि महीरुहाणां मृदूनि यूनामिव मानसानि ॥ ३९ ॥

इधर ये विलासिनी स्त्रियाँ पीतकमल के समान गौर वर्ण के हाथों से डण्ठल सहित पुष्पों का उसी तरह आहरण कर रही हैं, जैसे युवकों के कोमल प्रेमबद्ध मन को हरती हैं ॥ ३९ ॥

आसां लताग्रस्तबकोत्थितानि शिखण्डरत्नद्युतिचुम्बितानि ।
पश्योपरिष्टाद्दलिमण्डलानि नीलातपत्रभ्रममारभन्ते ॥ ४० ॥

इन लताओं के अग्रगुच्छों के साथ आगे उठा हुआ नीलरत्न की कान्ति

धारण करने वाला यह भ्रमरों का समूह ऊपर से देखने पर नीले छत्र का भ्रम उत्पन्न कर रहा है

विमर्श—अर्थात् इसे देखकर ऐसे लगता है, जैसे किसी ने नीला छाता लगा रखा हो ॥। ४० ॥

मुञ्चत्यलि पुष्पलतामितोऽयम् आघ्रातरामामुखपद्मगन्धः।
गुणप्रकर्षे हि सदा मनांसि गुणान्तरज्ञानवतां रमन्ते ॥ ४१ ॥

सुन्दर नारियों के मुखकमल की गन्ध को पाकर यह भ्रमर इस पुष्पलता को त्याग रहा है, ठीक ही है, विभिन्न गुणों के ज्ञानी लोगों के मन सदैव उत्कृष्ट गुणों पर रम जाते हैं ॥ ४१ ॥

लतैतया चूततरो सलीलम् आनीयमाना नतिमानताङ्ग्या।
पश्योत्पतत्पुष्पशिलीमुखेयम् आभाति कन्दर्पधनुर्लतेव ॥ ४२ ॥

इधर देखो, यह सुन्दरी इस आम्रवृक्ष की लता को खेल खेल में ही झुका रही है। झुकाने के कारण फूलों पर से उड़ते हुए भौरों वाली यह लता ऐसी मालूम पड़ रही है, मानो कामदेव के धनुष की डोरी हो ॥ ४२ ॥

भ्रमद्द्विरेफावलिलोलदृष्टिर्लीलावतंसक्रिययोन्मुखानि।
विचेतुमेषा कुसुमानि नालं तरो स्तनालिङ्गनदोहदस्य ॥ ४३ ॥

घूमनेवाले भ्रमरों की पंक्ति के कारण भयभीत दृष्टि वाली यह स्त्री देखो, उसके स्तनों के आलिंगन की छाया वाले वृक्ष इसके इन कर्णाभूषणों का काम करने के लिए सन्नद्ध फूलों को नहीं तोड पा रही है ॥ ४३ ॥

प्रियार्पित कान्तनिपीतमुक्तपूर्णाधरबिम्बाधरकान्तिचौरः।
अस्याः सरत्नत्विषि कर्णपाशे किमन्यशोकस्तबकश्चकास्ति ॥४४ ॥

प्रिया के द्वारा समर्पित और प्रिय के द्वारा पीकर छोड दिये गये रमणी के बिम्ब समान ओंठों की कान्ति को चुराने वाला (कान्ति वाला) यह अशोक के फूलों का गुच्छ इसके रत्न किरणों से चमकीले कान पर शोभा पा रहा है ॥ ४४ ॥

अस्याः लताक्षेपविसूत्रितस्य हारस्य लग्नस्तनकुङ्कुमस्य।
मुक्ताः क्षितौ दाडिमबीजमोहात् आक्षिप्य मुक्ता कपयः क्षिपन्ति ॥४५॥

लता म उलझने से टूटे हुए स्तनों के कुंकुम से सने इस सुन्दरी के हार के टूटे हुए और धरती पर बिखरे हुए मोतियों को अनार के दाने समझ कर बन्दर उठाते और फिर उन्हें दूर फेंक देते हैं ॥ ४५ ॥

निदाघलक्ष्मीहसितच्छदेयं पर्याप्तकृष्णागरुधूमगन्धे।
बध्ये कचानां नवमल्लिकाऽस्याः पश्यालिनीले परिभागमेति ॥ ४६ ॥

ग्रीष्मकालीन शोभा की भाँति श्वेत कान्ति वाली यह नवमल्लिका की माला पर्याप्त कृष्णागरु धूप से सुगन्धित इस स्त्री के काले बालों के जूड़े के चारों ओर बँधी है ॥ ४६ ॥

असावितः पार्थिव दन्तपत्रम् अपास्य हंसच्छदपाण्डु बाला ।
करोति कर्णे नवकर्णिकारम् उत्तापिताष्टापदरत्नशोभि ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! हंस के पंख के समान गौर वर्ण वाली यह सुन्दरी कर्णाभरण को हटाकर तपे हुए सोने में जड़े हुए रत्नों की सी शोभा को धारण करनेवाले इस नये कनेल के फूल को कान पर लगा रही है ॥ ४७ ॥

स्थितोयमन्तर्नवपल्लवानां प्रवालताम्राङ्गुलिरायताक्ष्याः ।
व्यक्ति शरच्चन्द्रकरोज्ज्वलाभिर्नखांशुरेखाभिरितः प्रयाति ॥ ४८ ॥

इस विशाल नेत्रवाली स्त्री की नये पत्तों के भीतर छिपी हुई, मूँगे के समान लाल रंग की अंगुलि अपने नाखून की किरणों को फैलाती हुई ऐसी जान पड़ रही है, जैसे (नीले आसमान में) शरद्कालीन चन्द्रमा की किरणें फैल रही हों ॥ ४८ ॥

धावत्कराकर्णशिरीषलोभात् इतस्ततः सम्पतति द्विरेफे ।
क्रीडामिव व्याकुलदृष्टिपाता बालेयमभ्यस्यति कन्दुकस्य ॥ ४९ ॥

कान पर लगे हुए शिरीष (हरसिङ्गार) के फूल पर मँडराते हुए भौंरे को हटाने के लिए इधर-उधर हाथ नचाती हुई यह व्याकुल दृष्टि वाली नारी ऐसी जान पड़ती है, मानो गेंद खेलने का अभ्यास कर रही हो ॥ ४९ ॥

प्रावृड्विलासस्मितमुद्वहन्ती कर्णे नवं केतकबर्हमेषा ।
प्रियावतंसीकृतचन्द्रलेखा चकास्ति कन्येव हिमाचलस्य ॥ ५० ॥

यह एक और स्त्री वर्षा के विलास की भाँति श्वेत हास्य वाली नवीन केवड़े के पत्ते को कान में लगाती हुई ऐसी दिखाई दे रही है, मानो शिव के द्वारा कान पर पहनायी हुई चन्द्रलेखा से विराजमान पार्वती हो ॥ ५० ॥

विलोकितालेख्यकपोलभागात् प्लवङ्गशावेऽधिगते विमानम् ।
इतः कदम्बादनिवृत्तहस्तम् अस्थात् भयादालिखितेव तन्वी ॥ ५१ ॥

कपोलभाग के समीप से ही उस पर चित्रकारी देख कर जब वानर का बच्चा भागकर विमान पर कूद आया तो एक रमणी बेचारी, जिसने फूल चुनने के लिए कदम्ब वृक्ष पर हाथ रखा था, उस हाथ को बिना हटाये ही चित्रलिखी सी डरी हुई खड़ी की खड़ी रह गई ॥ ५१ ॥

पुष्पाणि चिन्वत्यतिमुक्तकस्य पश्य श्लथं केशकलापमेषा ।
अंसे बिभर्तीव तमालनीलं विलासवालव्यजनं स्मरस्य ॥ ५२ ॥

अतिमुक्तक (वृक्ष) के पुष्पों को चुनते हुए इस स्त्री का खुला

हुआ तमाल के वर्ण का बेशुमार कधों पर लटकता हुआ ऐसा लग रहा है, *मानो कामदेव की विलासलीला के समय हिलाया जाता हुआ* उसका चँवर हो ॥ ५२ ॥

विमुञ्चती चक्षुषि पुष्पधूलिम् एषा गते सम्प्रति वल्लभस्य ।
चित्रं झटित्यश्रुलवावकीर्णे दृशौ सपत्न्याः कलुषीकरोति ॥ ५३ ॥

कितनी विचित्र बात है कि पति के पास जाने पर यह स्त्री पराग तो पति की आँखों पर डालती है, परन्तु रोते-रोते उसकी सौत की आँखें दुख जाती हैं ॥

विमर्श—अर्थात् सौत को उसके पतिप्रेम पर ईर्ष्या हो आती है, अतः वह रोने लगती है ॥ ५३ ॥

मध्यच्युते बिभ्रति किंशुकेऽस्मिन् अस्यारुणाम्याकृतिमङ्कुशस्य ।
अस्याः स्तनाभ्यामधुना धृतेयम् अनङ्गमत्तद्विपकुम्भलक्ष्मी ॥ ५४ ॥

मध्यभाग से तोड़े हुए इस पलाशपुष्प को अपने स्तनों के मध्य में इस नारी ने धारण कर लिया है। उससे यह ऐसी दिखाई दे रही है, मानो उसके दोनों स्तन कामदेव के मदोन्मत्त हाथी के गण्डस्थल हों और यह पुष्प उन पर धरा हुआ रक्तवर्ण का अङ्कुश हो ॥ ५४ ॥

अभ्यागतायाः सहसाऽमुनास्याः कन्दर्पसाम्राज्यधुरोद्वहेन ।
सुगन्धिभिः पाटलिपादपेन पुष्पैरिव कल्पितमातिथेयम् ॥ ५५ ॥

कामदेव के राज्य की धुरी धारण करनेवाले इस पाटलिवृक्ष ने (पल्ता का वृक्ष) सुगन्धित पुष्पों को बिखेर कर अपने घर में आयी हुई इस स्त्री का मानो अतिथि सत्कार किया हो ॥ ५५ ॥

आर्द्रागसेयं गमिता प्रसादं कृतप्रणामाञ्जलिना प्रियेण ।
प्रमृष्टबाष्पा सुमुखी नखाभ्यां चूताङ्कुरं मानमिवोच्छिनत्ति ॥ ५६ ॥

अभी अभी यह स्त्री जो क्रुद्ध हो गई थी, पति ने हाथ जोड़कर प्रणाम करके उसे मना लिया है, तो वह मान गई। और अब आँसू पोंछकर वह सुन्दरी नाखूनों से आम के बौरों को तोड़ कर उसी भाँति दूर फेंक रही है, जैसे वह हृदय से मान को निकाल कर फेंक रही हो ॥ ५६ ॥

अध्यासते कामपि कान्तिमासाम् एते सकुन्दाः कबरीकलापाः ।
कुमुद्वतीकान्तकरानुविद्धास्तमःप्रताना इव यामिनीनाम् ॥ ५७ ॥

कुन्द के फूलों से सजी हुई इन नारियों की वेणियाँ इस प्रकार की एक विचित्र कान्ति (शोभा) को धारण किये हुए हैं, मानो चन्द्रमा की किरणों से युक्त रात्रि के अन्धकार का समूह हो ॥ ५७ ॥

पुष्पाणि नानाविधवर्णभाञ्जि विमानवातायनतो विचित्य ।
युवायमिन्द्रायुधवर्णकान्तम् उत्तंसमस्याः सुदृशः करोति ॥ ५८ ॥

यह युवक विमान के झरोखे से ही नानावर्ण के पुष्पों को चुन-चुन कर उस सुन्दर नेत्र वाली रमणी को ऐसे सजा रहा है, मानो इन्द्रधनुष के सभी रंग उसमें भर रहा हो ॥ ५८ ॥

पश्येयमुद्बाहुलताऽहितश्रीर्मध्येन नश्यत्त्रिवली लतेव ।
विमानतः कोमलमुच्चिनोति वधूर्मधूकं स्वकपोलकान्ति ॥ ५९ ॥

जरा इधर देखिए ! हाथों को ऊपर उठाने से जिसके उदर पर त्रिवली भी नहीं दिखाई दे रही है, ऐसे कटिभाग वाली यह रमणी विमान पर से ही अपने गालों की सी कान्तिवाले महुओं को चुन रही है ॥ ५९ ॥

अदः सुगन्धीकुरु मत्प्रसूनं मुखाब्जसौगन्धकणार्पणेन ।
इत्यञ्चलासक्तलतो न याञ्चाम् अस्याः करोतीव स कर्णिकारः ॥ ६० ॥

'जरा अपने मुखकमल की सुगन्धि का एकाध कण मुझे देकर मेरे इस पुष्प को भी सुगन्धित कर दो न' इस प्रकार उस नारी के आँचल से सटा हुआ वह कनैल का वृक्ष क्या उससे प्रार्थना नहीं कर रहा है ?

विमर्श—सुन्दरियों के मुख की सुगन्धि से कनैल का पुष्प खिलता है, यह कविसमयप्रसिद्ध है ॥ ६० ॥

तथा न चूते नवमञ्जरीयम् अवाप्तवत्यात्मगुणप्रकर्षम् ।
अस्याः सकालागरुपत्रलेखे यथा कपोले कमलेक्षणायाः ॥ ६१ ॥

आम्र की यह नवीन मंजरी पेड़ पर अपने गुणों के उत्कर्ष को उतना नहीं प्राप्त कर रही थी, जितना इस सुन्दरी कमलनेत्रा के कालागरु से चित्रित कपोल पर प्राप्त कर रही है ।

विमर्श—अर्थात् सुन्दरी ने इस बौर को पेड़ से तोड़कर अपने गालों पर धारण कर लिया है, जिससे वह सार्थक हो गया है। पेड़ पर रहने से जितनी उसकी शोभा थी, अब वह कहीं अधिक है ॥ ६१ ॥

वहत्यशोकोऽयममर्त्यकान्तापादाहतः कान्तमलक्तकाङ्कम् ।
कृत्वा जगत्यस्खलितां निजाज्ञां स्कन्धेऽर्पितं तूणमिव स्मरेण ॥ ६२ ॥

विद्याधर सुन्दरियों के पैर के आघात से सुन्दर यह अशोकवृक्ष अलते का चिह्न धारण कर रहा है। मानो कामदेव ने सारी दुनिया में अपनी अलंघ्य आज्ञा फैलाकर अपने कन्धे पर तूणीर धारण कर लिया हो।

विमर्श—अर्थात् वह अशोक वृक्ष कामदेव के भाते का काम भली-भाँति कर रहा था ॥ ६२ ॥

चिरेण मन्ये बकुलद्रुमोऽयं अवाप्तपारं स्पृहणीयतायाः ।
अर्थी करोऽस्याः सुमनःसु यस्य जातो जितामर्त्यतरुप्रवालः ॥ ६३ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि मौलसरी के वृक्ष ने तो अतिविलम्ब से ही सही, पर सुन्दरता तथा स्पृहणीयता की परम सीमा गाँठ ली है। क्योंकि यह देववृक्षों के मूँगों के समान लाल कान्तिवाली इस सुन्दरी का हाथ उसके पुष्पों के लिए याचक जो बन गया है ! ॥ ६३ ॥

फलं शिरीषेण चिरादवाप्तम् अस्याः समग्रं सुकुमारतायाः ।
निरस्य गीर्वाणतरुप्रसूनम् यदेतदुत्तंसितमायताक्ष्या ॥ ६४ ॥

इसकी समस्त सुकुमारता का फल शिरीष ने भी मानो विलम्ब से पा लिया। क्योंकि इस विशाल नेत्रवाली ने देववृक्षों के पुष्प को बालों से निकाल कर इस शिरीषपुष्प को कर्णाभरण जो बनाया है ! ॥ ६४ ॥

अस्याः श्रुतौ चम्पकमादधत्याः करेण मुक्तावलयाङ्कितेन ।
एष द्विजः स्वस्त्ययनं विरावैर्नास्याः करोतीति न मञ्जुकण्ठः ॥ ६५ ॥

मोतियों से जड़े कंगन से सुशोभित हाथ से अपने कान पर चम्पा का पुष्प पहनाती हुई इस नारी के मंगल-गान के लिए यह पक्षी मधुरकण्ठ से मंगल-पाठ नहीं कर रहा है, ऐसी बात नहीं है ॥ ६५ ॥

विन्यस्तबन्धूकदलीं मुखेऽस्याः स्वेदार्द्रकालागरुपत्रवल्ली ।
चकास्ति सन्ध्यातपलेशशङ्किकलङ्कलेखा शशिलक्ष्मणीव ॥ ६६ ॥

मुख पर गुलदुपहरी की पखुड़ी को धारण करने वाली इस रमणी की स्वेद से आर्द्र कालागरु पत्ररचना ऐसी दिखाई दे रही है, मानो सन्ध्या-कालीन लालिमा की आशंका पैदा करनेवाला चन्द्रमा का कलंक हो ॥ ६६ ॥

एता मिथो रुद्धविमानमार्गा लताग्रजं पुष्पमनाप्नुवन्त्यः ।
भवन्ति भारानमिताङ्गकेषु बद्धाभ्यसूयाः स्तनमण्डलेषु ॥ ६७ ॥

विमानों के मार्गों के रुक जाने से लताओं के अग्रभाग में लगे पुष्पों को प्राप्त न कर सकने वाली ये रमणियाँ शरीर भार से अधिक झुके अपने ही स्तनों से ईर्ष्या कर रही हैं।

विमर्श—अर्थात् सोच रही हैं कि बीच में ये स्तन भी रुकावट न डालते तो शायद हम इन पुष्पों को प्राप्त कर लेतीं ॥ ६७ ॥

एतानि कान्तैः प्रमदाजनस्य नवप्रवालान्यवतंसितानि ।
पश्यन्ति पश्य स्वमिवाप्तकान्ति कपोलपालीमणिदर्पणेषु ॥ ६८ ॥

हे राजन्, देखो ! स्त्रियों के कानों में उनके प्रियतमों द्वारा सजाये हुए नये कोमल लाल पत्ते उन नारियों के कपोलों की किनारों पर लगे मणियों के दर्पणों में मानो अपनी ही जैसी कान्ति को देख रहे हैं ॥ ६८ ॥

यद्यद्वनेऽभूत् कुसुमं सुगन्धि वधूजनैस्तत्तदितो गृहीतम् ।
कृत्स्नत्रिलोकीविजयावतंसं निर्मातुमिष्वासमिव स्मरस्य ॥ ६९ ॥

इस वन में जो-जो पुष्प सुगन्धित थे, उन्हें इन विद्याधर-रमणियों ने ग्रहण कर लिया है, मानो तीनों लोकों की विजय करने के लिए आभूषणभूत कामदेव का धनुष बनाने के लिए उसे उन्होंने ग्रहण कर लिया हो ॥ ६९ ॥

कर्णावतंसीकृतपल्लवानां विचित्रपुष्पाभरणोज्ज्वलेषु ।
पश्याभितः पल्लवितेयमासाम् अङ्गेषु सारङ्गदृशामृतुश्रीः ॥ ७० ॥

विचित्र पुष्पों के अलंकारों से श्वेत बने हुए कानों में जिन्होंने नवीन पल्लव धारण कर लिये हैं, ऐसी नारियों के अङ्गों पर यह ऋतुशोभा देखो, कैसे छाई हुई है ! ॥ ७० ॥

स्वेदोदबिन्दुच्छलतः कपोले वितीर्णमुक्तार्घ इव स्मरस्य ।
एणीदृशां कान्त इव प्रवृत्तः श्रमोऽयमालिङ्गितुमङ्गलेखाम् ॥ ७१ ॥

उन हरिणी के से नेत्रों वाली नारियों के कपोलों पर निकली हुई पसीने की बूँदें ऐसी ज्ञात होती हैं, मानो काम की पूजा के निमित्त मोतियों का अर्घ्य चढ़ाया गया हो और मानो परिश्रम उन जल-बिन्दुओं के बहाने प्रियों की भाँति उनके शरीरों का आलिङ्गन करने के लिए उद्यत हो गया हो ॥ ७१ ॥

आसां पृथुस्वेदकणाङ्कितानि वक्त्राणि नेत्रोत्सवमर्पयन्ति ।
प्रत्युप्तमुक्ताफलदन्तुराणि हिरण्मयानीव सरोरुहाणि ॥ ७२ ॥

इनकी बड़ी-बड़ी पसीने की बूँदों से अंकित मुख देखते हुऐ नयनों को आनन्द दे रहे हैं । वे ऐसे मालूम पड़ रहे हैं, मानो मोतियों की किरण-कान्ति से युक्त स्वर्णकमल हों ॥ ७२ ॥

एतानि पश्य च्युतपुष्पधूलिव्यालुप्तपद्मावलिसौष्ठवानि ।
श्रमेण किञ्चिन्मुकुलीभवन्ति सीमन्तिनीनां नयनोत्पलानि ॥ ७३ ॥

इधर देखिये, पुष्पों के गिरे हुए पराग से ढकी हुई सुन्दर पलकों के कारण अधिक सुन्दर कमल की जैसी इन सुन्दरियों की आँखें बड़े परिश्रम के कारण जरा-जरा बन्द हो रही हैं ॥ ७३ ॥

एतासु सीदन्मणिबन्धमूलनिलीनलीलामणिकङ्कणासु ।
विलोक्यतां व्यक्तिमुपैति खेदो विद्याधरस्त्रीजनदोर्लतासु ॥ ७४ ॥

काँपती हुई हथेलियों के मूल भाग पर सुन्दर-सुन्दर मणियों से जटित चूड़ियों वाले इन रमणियों की भुजाओं में देखो, परिश्रम अर्थात् थकावट एक-दम साफ नजर आ रही है ॥ ७४ ॥

अनङ्गकल्पद्रुममञ्जरीणाम् अमोघमस्त्रं कुसुमायुधस्य ।
भृशं यथा पुष्पमयी विभूषा नाऽस्यां तथा रत्नमयी विभाति ॥ ७५ ॥

अमोघ काम के बाण जैसी, कामकल्पतरु की मञ्जरियों की बनी फूलों की वेश भूषा इतनी सुन्दर लग रही है कि उसके आगे रत्नों की सजावट भी फीकी पड़ गई है ॥ ७५ ॥

वनान्तमेता वनिता न मोक्तुम् अनेकपुष्पं नृप शक्नुवन्ति ।
विमुच्यते केन स नाम देशो यत्रास्ति सान्द्रः सुमन प्रचारः ॥ ७६ ॥

हे नृप ! नाना प्रकार के पुष्पों वाले इस वन को तो ये स्त्रियाँ छोड़ना ही नहीं चाहती हैं, भला उस देश को (स्थान को) कौन छोड़ना चाहेगा, जहाँ इस प्रकार अत्यधिक फूलों का विस्तार हो ।

विमर्श—अथवा सुन्दर हृदयवाले लोगों के स्थान को कोई छोड़ना चाहेगा ?॥ ७६ ॥

इत्युज्ज्वले तस्य वचःप्रसूने नीतेऽपि कर्णातिथितां विहस्य ।
नृपो बभूवास्तमना सचित्रः स्मृताहिराजेन्द्रसुताविलासः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार रमागद के सुन्दर वचन रूपी पुष्पों से अपने कानों को सजाकर भी अर्थात् हँसते हुए उस वचनों को सुन कर भी नागराजकन्या शशिप्रभा के शृङ्गार का स्मरण करने वाला वह राजा अनमना सा (उदास) होकर चित्रवत् रहा। ॥ ७७ ॥

पुष्पप्रवालाङ्कुरमण्डलं तत् क्वणद्विमानावलि हेमघण्टम् ।
वनं विहायाथ समस्तमेव चचाल विद्याधरराजसैन्यम् ॥ ७८ ॥

तब फूल पत्तों से भरे हुए तथा जिसमें स्वर्णघण्टियों वाले विमानों का शब्द हो रहा था, ऐसे उस समस्त वन को छोड़कर विद्याधरराज की सेना आगे चल पड़ी ॥ ७८ ॥

गङ्गावर्णनम्

अथ प्रवालाधरबिम्बचुम्बिपरिस्फुरत्फेनविलासहासा ।
वाचालहंसावलिकाञ्चिदामसनाथतीरोरुनितम्बबिम्बा ॥ ७९ ॥

गंगा का वर्णन

इसके बाद तटवर्ती प्रवालरूपी अधरोष्ठ का चुम्बन करने वाले तथा उछलते हुए फेन के रूप में जिसकी हँसी शोभायमान थी, ऐसी एवं शब्द करनेवाली हंसों की पंक्ति की करधनी पहनी हुई और तट पर स्थित बड़े-बड़े पेड़ रूपी नितम्ब वाली गंगा नदी को राजा ने देखा ॥ ७९ ॥

समीरवेल्लत्तटहेमवल्लिलोलप्रभाभिस्तरितोर्मिलेखा ।
विलासमज्जत्फणिराजकन्यास्तनान्तकान्तस्तनकुङ्कुमेव ॥ ८० ॥

हवा के झोंकों से टक्कर खाकर स्वर्णतारों की जैसी चञ्चल कान्ति से युक्त लहरोंवाली और विलासयुक्त नागराजकन्या के स्नान करने के कारण मानो उस नदी में उसके स्तनों पर लगा हुआ कुंकुम छूटकर फैल गया था ॥ ८० ॥

निमग्नदिङ्नागकपोलभित्तिसन्ताननिर्यन्मदवेणिकृष्णा ।
तृतीयनेत्रानलधूमवल्लिकलङ्कितेव त्रिपुरान्तकस्य ॥ ८१ ॥

जिसमें दिशाओं के हाथियों की कनपट्टियाँ डूबी हैं और उनसे निकलती हुई मद की धारा रूपी काली वेणी धारण करनेवाली, एवं शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि से निकली हुई धूमराशि से कलंकित सी ॥ ८१ ॥

भारानमद्भोगिफणास्थितायाः स्वलोच्छलद्वीचिचयच्छलेन ।
उत्तम्भयन्तीव तले सतर्कम् अर्कोत्पलस्तम्भशतानि भूमेः ॥ ८२ ॥

भार से झुकी नागों की फणाओं पर स्थित धरती के सूर्यकान्त मणि जैसे सैकड़ों खम्भों को बड़ी सतर्कता के साथ मानो वह नदी अपनी उछलती हुई लहरों के रूप में धारण किये हुए है।

विमर्श—पृथ्वी शेषनाग की फणाओं पर स्थित है। शेषनाग पाताल में है और पृथ्वी उससे बहुत ऊपर! अतः बीच में आधार के लिए कुछ होना चाहिए। तो गंगा नदी अपनी तरंगों के रूप में मानो बड़े-बड़े सूर्यकान्त की शिलाओं के खंभे पाताल तक ले जाकर गाड़ रही हो, उनका सम्बन्ध शेषनाग की फणाओं से कर देती हो ॥ ८२ ॥

तटोद्गतप्रांशुतमालराजिच्छाया घनश्यामलितार्धभागा ।
मूर्तिस्तुषाराचलतुल्यकान्तिरुमापतिश्रीधरयोरिवैका ॥ ८३ ॥

तट पर लगी तमाल-वृक्षों की पंक्ति की घनी छाया से एक भाग जिसका कृष्ण वर्ण का दिखाई दे रहा है, और स्वच्छ बालू या जल का दूसरा भाग जिसका हिमालय की भाँति श्वेत दिखाई दे रहा है—वह नदी ऐसी लग रही है, मानो उसने शिव और विष्णु की मूर्ति को एक साथ धारण कर रखा हो ॥ ८३ ॥

का[1]दम्बचञ्चूधृतचन्द्रवाकीपारिप्लवव्यक्तमृणालकाण्डा ।
चण्डीधवोऽबद्धजटाविटङ्कक्लिष्टेन्दुलेखाङ्कुरदन्तुरेव ॥ ८४ ॥

हंसों ने जहाँ-तहाँ चकवियों को अपनी चोंच में पकड़ लिया है, चंचलता के कारण जिसमें कमल के डण्ठल स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं, ऐसी वह नदी भगवान चण्डी-पति शंकर के जटाजूट पर फँसी हुई चन्द्रलेखा के कारण दन्तुर मालुम पड़ रही थी ॥ ८४ ॥

तरङ्गभङ्गोज्ज्वलचामरश्रीरुद्दण्डहेमाम्बुरुहातपत्रा ।
पुण्या पुरो दूरत एव तेन त्रिमार्गगाऽदृश्यत पार्थिवेन ॥ ८५ ॥

जिसकी उछलती हुई तरंगें उज्ज्वल चँवरों की भाँति दिखाई दे रही हैं

---

१. कादम्बः कलहंसः स्यात्—अमरकोश

और ऊँचे स्वर्णकमल जिस पर छाते का काम कर रहे हैं, अत्यंत पवित्र ऐसी उस गंगा को राजा ने दूर से ही देखा ॥ ८५ ॥

तस्यास्तटेऽथ कुसुमावचयश्रमार्त–
सीमन्तिनीनिवहसस्मितवीक्षिताया ।
विद्याधरेण विदधे धवलोर्मिधौत–
पर्यन्तहेमसिकते पृतनानिवेशः ॥ ८६ ॥

तब विद्याधरराज ने फूल चुनने से थके हुए स्त्रियों के समूह के द्वारा कौतूहलपूर्वक देखी जाती हुई उस गंगा नदी के श्वेत लहरों से धुले हुए सुनहले बालू वाले तट पर सेना समूह को ठहरा दिया अर्थात् वहाँ पड़ाव डाला ॥८६॥

तदनु पुलिने सद्यो विद्याधरैः परिकल्पितम्
नृपतिरविशल्लीलागारं स साहसलाञ्छनः ।
भ्रममजनयन्नेत्रोत्कीर्णा इति प्रतिबिम्बिता
सितमणिमये यस्मिन्नन्तर्बहिश्च मृगीदृशः ॥ ८७ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नव
साहसाङ्कचरिते महाकाव्ये पातालालोकननामा
चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

उसके बाद उस गंगा के किनारे शीघ्र ही विद्याधरों द्वारा बनाये गये लीलाभवन में साहसाङ्क सिन्धुराज ने प्रवेश किया। वह लीलाभवन ऐसा था, जिसके बाहर और भीतर, श्वेतमणियों पर बनी हुई हरिण नयनाओं के चित्र और उनके नेत्रों के प्रतिबिम्ब यथार्थ में भ्रम उत्पन्न कर रहे थे ॥ ८७ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तकृत नवसाहसाङ्क
चरित महाकाव्य में पातालदर्शन नामक चौदहवाँ
सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशः सर्गः

पन्द्रहवाँ सर्ग

जलक्रीडावर्णनम्

अथ सान्द्रघर्मजलबिन्दु-लुलिततिलकः प्रचक्रमे ।
हेमकमलसुभगे सरितः सलिले निमङ्क्तुमसितेक्षणाजनः ॥ १ ॥

जलक्रीडा का वर्णन

इसके पश्चात् कृष्ण वर्ण के नेत्रों वाली, कड़ी धूप से पसीना आ जाने के कारण जिन तिलक माथे पर बहे चले आ रहे थे, ऐसी स्त्रियों के उस समूह ने कमल की सुगन्ध से सुवासित गंगा के जल में स्नान करने की तैयारी की ॥१॥

श्रममेत्य मुञ्चत मदम्बु रभसपरिरम्भलीलया ।
एवमवददिव दीर्घदृशः कलहंसयूथनिनदेन जाह्नवी ॥ २ ॥

"आनन्दपूर्वक जल में वेगपूर्वक आलिङ्गनादि क्रीडा करके मेरे जल से अपनी थकान दूर करो" इस प्रकार की बात कलहंसो की कलकल-ध्वनि के रूप में जाह्नवी ने मानो उन दीर्घ नेत्रवाली स्त्रियों से कही ॥ २ ॥

मरुतावधूतकलधौतकमलमकरन्दगन्धिना ।
ऊर्मिदलनशिशिरेण बलात् अबलाजनस्य नुनुदे परिश्रमः ॥ ३ ॥

हवा के द्वारा कँपाये गये स्वर्ण-सदृश कमलपराग की सुगन्ध से सुगन्धित, लहरों में समाये हुए गंगा के शीतल जल ने उन नारियों की थकान को दूर किया ॥ ३ ॥

परिविद्धरेखमधितीरविरचितपदे वधूजने ।
कान्तिमुदवहदमर्त्यसरित् तटरूढकाञ्चनलतेव काञ्चन ॥ ४ ॥

समस्त नारियों के गमन से तट पर जो सुन्दर पदपंक्ति बन गई थी, उससे वह जाह्नवी तट पर उगी स्वर्णलता की जैसी एक विचित्र कान्ति से युक्त हो गई ॥ ४ ॥

सितचक्षुषामसितरत्नरुचिमुपि मृणालिनीदले ।
स्थूलजललवनिभेन दधे नवमौक्तिकार्घ इव जह्नुकन्यया ॥ ५ ॥

श्वेत नेत्र वाली स्त्रियों की नील पुतलियों की शोभा को चुराने वाले मृणालिनी के पत्ते पर जह्नुकन्या नदी ने बड़े-बड़े जलकणों के बहाने नवीन मोतियों के अर्घ को धारण किया ॥ ५ ॥

- उदितत्रपा इव विलासमसृणमसमेन सुभ्रुवाम् ।
जग्मुरमरसरित पुलिन सहसा विहाय कलहंसपङ्क्तय ॥ ६ ॥

उन सुन्दर भौंहों वाली नारियों की विलास भरी मस्त चाल को देखकर, (अपनी चाल से उनकी चाल को सुन्दर समझ कर) कुछ लजाकर कलहंसों की पंक्ति जाह्नवी का तीर छोड़कर चली गई ॥ ६ ॥

धवलाभ्रकच्छुरितभित्तिलिखितललिताङ्गनालिपिम् ।
अप्सु कुवलयदृशा प्रतिमा सित रत्नदर्पणनिभासु लेभिरे ॥ ७ ॥

कमल के समान नेत्र वाली रमणियों के शरीर का प्रतिबिम्ब (परछाई) श्वेतरत्न दर्पण के समान जाह्नवी के जल में पड़कर ऐसा दिखाई देता था, मानो श्वेत चूने से पुती हुई दीवालों पर उन सुन्दर स्त्रियों के चित्र बना दिये गये हों ॥ ७ ॥

अथ वल्लभापितकराग्रनिहितनिजपाणिपल्लवा ।
शारिरिकचकनकाञ्चरन कपिशोर्मिमालमबला जगहिरे ॥ ८ ॥

अपने प्रिय के आगे बढ़ाये हुए हाथ को अपने हाथ स पकड़ती हुई उन सुन्दरियों ने पानी में खिले स्वर्ण कमलों के पराग स युक्त पीत-वर्ण की जल की लहरें धारण की ॥ ८ ॥

सुदृशा निमज्ज्य सुरसिन्धुपयसि नियमस्थितैरिव ।
ऊर्मितरलितमयूखशिखैर्मणिनूपुरै सपदि मौनमाददे ९ ॥

जैसे नियम धारण करने वाले योगी स्नान करके पुन मौन धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार जाह्नवी-जल में स्नान करके, लहरों पर प्रतिबिम्बित होने वाली प्रभा से युक्त नारियों के मणिनूपुरों ने भी मौन धारण कर लिया ॥ ९ ॥

कुचलुप्तपत्ररचनयाथ निगलितविसूत्रहारया ।
प्रापि रतिरमणविलासतुला ललितभ्रुवा जलविहारलीलया ॥ १० ॥

कुचों पर मिटी हुई रचनावाली, अगों पर इधर उधर लटकने वाले हारों वाली उन सुन्दर नारियों की जल क्रीड़ा ने रति की रमण क्रीड़ा की तुलना प्राप्त की ॥ १० ॥

नवकुङ्कुमारुणपुरन्ध्रिकुचकलशताडितं पय ।
रागमभजत न कस्य भवेत् सुलभाङ्गखेलदचलस्य विक्रिया ॥ ११ ॥

नये कुङ्कुम से लाल नारियों के स्तन रूपी कलशों स टकराता हुआ जल रक्त वर्ण का हो गया । उन के सुन्दर अङ्गों के साथ खेलते हुए उस जल को देखकर किस दुर्बल हृदय वाले के मन में विकार पैदा न होगा ! ॥ ११ ॥

विकिरन् विहस्य मणिशृङ्गधृतमुदकमेत्य पृष्ठत ।
साचिमुकुलितदृशा ददृशे दयिता मुहुर्वलितकण्ठमेकया ॥ १२ ॥

कहीं पर पीछे से जाकर मणिशृङ्ग पर धरे हुए पानी को अपनी प्रिया पर फेंकते हुए किसी प्रिय को कोई नायिका मुख मोड़ कर अधमिची आँखों से देख रही है ॥ १२ ॥

परिणाहवत्कुचनिपिद्धकरणवलनोत्कदोर्लतम् ।
लोलमुखरमणिकङ्कणया विदधे जले मुरजवाद्यमन्यया ॥ १३ ॥

अपने सुडौल गोलाकार स्तनों को ढँकने के लिए उनके ऊपर रखी हुई भुजाओं को कुछ ऊपर उठाकर जब एक रमणी ने फिर अंगमर्दन के लिए कुचों को दबाया, तब उसके हाथों से मृदङ्ग की सी ध्वनि हुई ॥ १३ ॥

हरिणीदृशो हृतपुरन्ध्रिकुचकलशकुङ्कुमाङ्किता ।
क्षिप्रमधिजघनमूर्मिलता शिथिलेव हेमरशना विदिद्युते ॥ १४ ॥

स्नान करने में जिसका चित्त आकृष्ट हो गया था, ऐसी उस सुन्दरी की कुच-कलश के कुंकुम से युक्त ढीली करधनी जब उस नारी की जंघा पर से नीचे खिसकने लगी, उस समय ऐसा ज्ञात हुआ, मानो बिजली चमक रही हो ॥ १४ ॥

सलिलं किरन्तमवलोक्य रमणमपराङ्गनामुखे ।
चित्रमविरलधृताश्रुलवे निमिमील काचिदबला विलोचने ॥ १५ ॥

अपने पति को किसी दूसरी स्त्री के मुख पर पानी फेंकते हुए देखकर लगातार आँसू बहाने वाली वह स्त्री अपनी आँखों को देखो, बन्द कर रही है ॥ १५ ॥

द्रुतमत्रुटत् विबुधसिन्धुनिबिडलहरीकराहतम् ।
हारवलयमरविन्ददृशां कुशलं कुतोऽस्ति गुणिनां जडान्तरे ॥ १६ ॥

किन्हीं कमलनयनी रमणियों के हार-वलय को जाह्नवी की घनी लहरों ने मानो अपने हाथों से तोड़ दिया, ठीक ही है, जड़ों (मूर्खों) के बीच रहकर गुणियों की कुशल कहाँ ! अथवा जडान्तरे = अर्थात् पानी में रहकर गुण-वाले अर्थात् तागे वाले हारों की कुशल कहाँ ॥ १६ ॥

शुशुभे कयापि करयन्त्रनिहितशुचिवारिधारया ।
मुक्तसितकुसुमसायकया मकराङ्कचापलतयेव बालया ॥ १७ ॥

कामभावना से युक्त कोई रमणी हाथ की अञ्जलि में स्वच्छ पानी लेकर उसे धार के रूप में बहाती हुई मानो श्वेतपुष्प रूपी बाणों को छोड़नेवाली कामदेव के धनुष की मौर्वी हो ॥ १७ ॥

परिवेपविभ्रमनिवेशिमनसिजतुषारदीधितेः ।
कोऽपि करकिसलये कमिता विदधे मृणालवलयं मृगीदृशः ॥ १८ ॥

अपनी वेश-भूषा को शृङ्गारी रूप में सजाने वाली किन्हीं नारियों ने जब

अपने हाथ रूपी किसलयों में कमलनाल के कंगन पहने तो उन्होंने कामदेव रूपी चन्द्र के समान शोभा धारण की ॥ १८ ॥

हृदयशमुक्तजलधौतमलयजविलेपनैह्रिया ।
लक्ष्यनवनखपदाम्बरा नलिनीदलेन पिदधे पयोधरौ ॥ १९ ॥

अपने प्रियों के द्वारा फेंके गये जल से चन्दन लेप के धुल जाने से कुचों पर नाखूनों के नये चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे, अतः लजाते हुए उस स्त्री ने कमलिनी के पत्तों से अपने कुचों को ढँक लिया ॥ १९ ॥

अभितोऽङ्गनामुखमृगाङ्कमुडुनिकरकान्तिमाददे ।
केलितरलतरुणीनिबिडस्तनताडिते पयसि बुद्बुदोत्करः ॥ २० ॥

क्रीडारत उन तरुणियों के घने कुचों के आघात से पानी में जो बुलबुले उठे, वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो उन रमणियों के मुखचन्द्र के चारों ओर उदित होने वाले तारों का समूह अपनी कान्ति फैला रहा हो ॥ २० ॥

निदधे पयोनिजकराग्रगलितमणिकङ्कणाङ्किते ।
मेघशकल इव सेन्द्रधनुर्यलयोदरे नयनमब्जिनीदले ॥ २१ ॥

उन रमणियों के हाथ से छूटे हुए मणि कंकण जिन कमलिनियों के पत्तों पर पड़े थे, उन्हें वे देख रही थीं, उस समय वे ऐसी दिखाई दे रही थीं, मानो इन्द्रधनुष का घेरा जिसमें है, ऐसे मेघ के टुकड़े की ओर देख रही हों ॥ २१ ॥

असिताञ्जनाङ्कमसिजावकुवलयदृशां दृशोन्तरात् ।
नीरमहृत नहि शुद्धिमतां तदवृत्तिराश्रितकलङ्कमार्जने ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ कमलों के समान नेत्रों वाली उन नारियों की आँखों के काले अञ्जन को पानी ने धोकर समाप्त कर दिया। क्योंकि आश्रितों में विद्यमान सभी कलङ्कों को धो देने में शुद्धि करनेवालों की उदासीनता नहीं होती।

विमर्श—अर्थात् शुद्धि करने वाले अपने आश्रितों की सभी अशुद्धताओं को धो देते हैं। इसलिए पानी ने अपनी आश्रित उन स्त्रियों की आँखों में काजल को भी साफ कर दिया ॥ २२ ॥

तरलोर्मिलङ्घितनितम्बफलकलुलिताच्छवाससः ।
फेनपटलमसिताब्जदृशां क्षणमेकमशुकविलासमाददे ॥ २३ ॥

चञ्चल लहरों ने जिनके नितम्ब भागों पर से स्वच्छ वस्त्रों को हटा दिया था ऐसी उन नील नेत्रवाली स्त्रियों के नितम्ब भाग पर लगे हुए फेन ने ही थोड़ी देर के लिए वस्त्र का काम पूरा कर दिया ॥ २३ ॥

सुदृशः स्फुटं नवनखाङ्कमुरसि जलधौतकुङ्कुमे।
कान्तनिहितनयनं विदधे पृथुहारतारतरलांशुपल्लवैः ॥ २४ ॥

जल से कुंकुम धुल जाने के कारण जिस स्त्री की छाती पर नवीन नखों के चिह्नों को स्पष्ट रूप से उसका पति जब देख रहा था, तब हृदय पर पड़े चंचल लड़ियों वाले हार ने मानो अपनी चमक से उन चिह्नों को शीघ्र ही छिपा दिया ॥ २४ ॥

लुलिताञ्जनस्य नयनस्य सहभुवमिवेक्षितुं श्रियम्।
लग्नजलसरलितैरलकैर्लुलुठे ललाटतटसीम्नि सुभ्रुवः ॥ २५ ॥

उन सुन्दर भौंहों वाली नारियों के चञ्चल एवं सुन्दर अञ्जन रहित आँखों की एक साथ ही उत्पन्न होने वाली शोभा को देखने के लिए मानो उनकी जलार्द्र अतएव सीधी अलकें (जुल्फें) माथे की सीमा पर लोटने-सी लगीं ॥२५॥

दधतीव कापि रुचिमाप मनसिजविलासवल्लकीम्।
अंसविनिहितमृणाललतातलवर्त्यलाबु[1]परिवर्तुलस्तनी ॥ २६ ॥

कंधे पर कोमल कमलनाल की लता को धारण करने वाली और तल में चौड़े गोल तथा अग्रभाग से नुकीले तुम्बी जैसे गोल स्तनों को धारण करनेवाली कोई स्त्री ऐसी सुन्दर दिखाई दे रही थी, मानो वह कामदेव की वीणा बनी हो ॥ २६ ॥

सलिलाहतित्रुटितहारपरिगलितमौक्तिकभ्रमात्।
मुग्धयुवतिरपरा निदधे दृशमब्जिनीदलपुटोदबिन्दुषु ॥ २७ ॥

पानी के थपेड़ों से टूटे हुए हार के मोतियों के धोखे में एक भोली-भाली युवती, कमलिनी के पत्तों पर पड़ी पानी की बूंदों को ही मोती समझ कर उन पर आँखें गड़ाये हुए है ॥ २७ ॥

धवलोदरैर्भयवशेन तरलवलितैर्विलोचनैः।
नीलनलिनदलदामदृशां शफरैः समं सुचिरमप्सु बभ्रमे ॥ २८ ॥

भय के कारण चञ्चल और फड़फड़ाते नेत्रों वाली तथा सफेद उदरवाली मछलियों के साथ कुछ नील कमल के पत्तों की सी आकृति के नेत्रोंवाली स्त्रियाँ चिरकाल तक जल में घूमती रहीं।

विमर्श—अर्थात् जल में मछलियाँ भी इधर-उधर घूम रही थीं, और वे रमणियाँ भी जलक्रीडा कर रही थीं ॥ २८ ॥

गलिताङ्गदा गुरुतरङ्गदलितमणिकर्णपूरकाः।
स्रस्तकनकवलयाः सुदृशः श्लथबन्धरत्नरशनाश्चकाशिरे ॥ २९ ॥

गिरे हुए बाजूबन्दों वाली एवं भयंकर तरंगाघात से टूटे हुए कनफूलों

---

१. तुम्ब्यलाबूरुभे समे—अमरकोश।

वाली तथा ढीले अतएव निकलने वाले कंकणों वाली उन सुन्दर नेत्रवाली नारियों की ढीली ढाली रत्नजटित करधनियाँ भी पानी में चमकने लगीं ॥२६॥

अतिकम्पमूर्मिकुटिलभ्रुवदलनवकुङ्कुमारुणम् ।
स्त्रैणकरतलनिरस्तमभून् उपजातकोपमिव जाह्नवीजलम् ॥ ३० ॥

अधिक कँपाई गई लहर रूपी कुटिल (टेढ़ी) भौहों से युक्त, नवीन कुंकुम से रक्तवर्ण का जाह्नवी का जल उस स्त्री-समूह के हाथों से छूट कर मानो क्रोध में भरा हुआ सा दिखाई देने लगा ॥ ३० ॥

अकरोत् पदं पृथुनितम्बविलुलितजलार्द्रवेणिषु ।
नीरलवशबलगण्डतलास्वबलासु कुण्डलितकार्मुकं स्मरः ॥ ३१ ॥

जिनके बड़े बड़े नितम्बों पर जल से भींगी हुई वेणियाँ लटक रही थीं, ऐसी तथा पानी की बूँदों से सने हुए गालों वाली स्त्रियों पर अपने धनुष को तान कर काम ने अपना प्रभाव जमा दिया ॥ ३१ ॥

च्युतरत्नभूषणमरीचिरचितसुरचापमण्डलम् ।
केशकुसुमशबलं शुशुभे सुरधामनङ्गमददीपनं पयः ॥ ३२ ॥

जल में गिरे हुए रत्नाभरणों की किरणों से बनाये गये इन्द्रधनुषी घेरे वाला, बालों पर के फूलों के गिरने से चितकबरे रंग वाला जाह्नवी का जल उन स्त्रियों के काममद को उद्दीपित करने लगा ॥ ३२ ॥

अथ 'ताभिरेकतपनीयसरसिजसनाथपाणिभिः' ।
श्रीभिरिव समुदतारि ततः पुनरुक्तचाटुपटुभिः प्रियैः सह ॥ ३३ ॥

तब एकमात्र स्वर्णकमल को हाथ पर धारण किये हुए बातचीत करने और खुशामद करने में बड़े चतुर अपने प्रियों के साथ वे स्त्रियाँ आकर मिल गईं ॥ ३३ ॥

सजलांशुकान्तिविशदाङ्गजनितनिविडत्रपाकुलाः ।
व्यक्तनवनखपदाभरणाः प्रियलोचनान्यरमयन् मृगीदृशः ॥ ३४ ॥

पानी में भींगे कपड़ों से जिनके अंग स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, और इसी-लिए जो बहुत लज्जित सी हो रही थीं तथा जिनके शरीर पर नखक्षतरूपी आभरण स्पष्ट दीख रहे थे, ऐसी उन हरिण-नयनाओं ने अपने प्रियतमों की आँखों को सुखान्वित किया ।

विमर्श—अर्थात् उन सुन्दरियों के उस हावभाव से समावृत तथा साफ दिखाई पड़ने वाले सुन्दर अंगों को देखकर उनके प्रियकरों की आँखें आनन्द के कारण फूली न समाती थीं ॥ ३४ ॥

अथ ताः गृहीतशरदिन्दुधवलसिचयाः प्रसाधनाम् ।
चक्ररधिवपुरमर्त्यसरितपुलिनस्थलीकनकवल्लिधामसु ॥ ३५ ॥

जाह्नवी के तट पर स्वर्णलता जैसे शरीरों पर स्नान करने के उपरान्त उन शरदकालीन चन्द्रमा की कान्ति धारण करनेवाली स्त्रियों ने गंगातट पर स्थित पीत-लताओं से बने घरों में जाकर अपने-अपने अङ्गों को सजाना प्रारम्भ किया ॥ ३५ ॥

तिलकाङ्किताः प्रचुरपुष्पपरिमलमुचो मृगीदृशः ।
ऊढनवललितपत्रलता दधुरङ्गजोपवनराजिविभ्रमम् ॥ ३६ ॥

तिलकों से अलंकृत अनेक पुष्पों की सुगन्ध को फैलाने वाली, हरिण के समान नेत्रवाली, नई पत्रलता धारण करने वाली उन नारियों के शरीर की सजावट को देखकर ऐसा लग रहा था, मानो वहाँ अनेक उपवन तो नहीं हैं ! ॥ ३६ ॥

न चिरादलङ्कृतिविशेषविहितरुचयोऽतिपेशलाः ।
लक्ष्यनवनवरसाः शुचयः कविपुङ्गवोक्तय इवाङ्गना बभुः ॥ ३७ ॥

शीघ्र ही अनेक अलंकरणों से जिनमें विशेष शोभा आ गयी थी, ऐसी, जिनमें अतिकोमल नये-नये प्रेमरस लक्ष्यमाण थे, ऐसी पवित्र वे स्त्रियाँ श्रेष्ठ कवियों की अनेक अलंकारों से विशेष सुन्दर, कोमल वर्णवाली, नौ-नौ रसों से समृद्ध कविता की भाँति जान पड़ने लगीं ॥ ३७ ॥

वहति स्म निर्मलकपोललिखितमृगनाभिपत्रकम् ।
कापि निभृतमधुपावलिमत् कलधौतकोकनदकान्तमाननम् ॥ ३८ ॥

स्वच्छ कपोलों पर बनाई गई कस्तूरी की पत्ररचना (बेलबूटे) वाले, स्वर्णकमल की भाँति चमकते हुए उनके मुख ऐसे दिखाई दे रहे थे, मानो स्वर्णकमलों पर शान्त भौरों की टोली बैठी हो ॥ ३८ ॥

अधिकर्णमुद्गतमयूखमरकतमनोहरोदरम् ।
बालमिव मदनकल्पतरोर्दलमेकया कनकपत्रमाददे ॥ ३९ ॥

जिससे किरणें निकल रही थीं, एवं जिसका भीतरी भाग मरकत मणि की भाँति चमक रहा था, ऐसे सोने के कनफूल (लोलक) को जब एक नारी ने अपने कान पर लगाया, तब ऐसा ज्ञात हुआ, मानो उसने कामदेव के छोटे से कल्पतरु के पत्ते से उसे सजाया हो ॥ ३९ ॥

धृतयावकाङ्कमणिकान्तवदनपरिचुम्बनोचिते ।
रागमधररुचके निदधे दयिते च काचन चकोरलोचना ॥ ४० ॥

अलते से युक्त तथा मणिकान्त के समान मुख को चूमने में उचित ओष्ठ-बिम्ब पर एक चकोरनेत्री स्त्री ने अलता (लाली) लगाया तो ओंठ भी और उसका प्रिय भी—दोनों रागमय हो गये—लालिमा से युक्त और प्रेम पूर्ण हो गये ॥ ४० ॥

हरिणाङ्कसुन्दरमनेकविशदगुणगुम्फिताकृतिम् ।
हारमवहदपरा न परं हृदि कान्तमप्यसमबाणदीपनम् ॥ ४१ ॥

चन्द्रमा भी भांति सुन्दर अनेक गुणों से (सूतों से) गुँथी हुई आकृति वाला हार (चन्द्रहार) जब एक स्त्री ने पहना तो उसने वह हृदयहारी हार क्या पहना, मानो प्रिय के हृदय में काम-भावना को उद्दीप्त कर दिया ॥ ४१ ॥

विमर्श—अर्थात् उसकी सुन्दरता से आकृष्ट प्रिय कामासक्त हो गया ॥४१॥

इतरा पदाङ्कमिव मत्तमदनकरिणोलिकोदरे ।
सान्द्रमृगमदमयोरचितं तिलकं कुरङ्गतिलकानना दधे ॥ ४२ ॥

घनी कस्तूरी की स्याही से बनाये हुए तिलक को जब मुख पर तिल वाली स्त्री ने अपने भाल पर लगाया तो ऐसा ज्ञात हुआ, मानो मदोन्मत्त कामदेव के हाथी के भाल पर अंकुश रख दिया गया हो ॥ ४२ ॥

हृतसुप्तहेमशतपत्ररुचिमुकुलिताङ्गुलीदले ।
काचिदितरकरसङ्घटितं निदधे विलासमणिकङ्कणं करे ॥ ४३ ॥

किसी स्त्री ने तोड़े गये अविकसित स्वर्णकमल की सी कान्ति को धारण करने वाली अंगुलियों वाले अपने एक हाथ पर दूसरे हाथ से मणिकंकण पहनाया ॥ ४३ ॥

उदितासु काञ्चिगुणमध्यमरकतमरीचिसूचिषु ।
व्यक्तिमलभत न रोमलता स्मरदीपकज्जलशिखा मृगीदृशाम् ॥ ४४ ॥

करधनी की डोरी में लगे मरकत मणि की ऊपर उठती हुई किरणों से मिलकर उन नारियों की कामदेव रूपी दीपक की मानो कज्जल रेखाएँ—ऐसी रोमपंक्तियाँ स्पष्ट दिखाई नहीं दीं ॥ ४४ ॥

सरसागसेव रमणेन चरणनलिनानुपङ्गिणा ।
मुग्धशरतरलिता दधिरे मणिनूपुरेण मृगलोचना रुचिम् ॥ ४५ ॥

काम-बाणों से व्यथित किसी स्त्री को, कुछ मानवती सी हो गई थी, उसे अभी अभी अपराध करनेवाले अतएव चरणों पर पड़े पति ने और पैर में पहने गये नुपुर मणि ने शृंगार के अनुकूल बना दिया ॥ ४५ ॥

दधतीभिरिन्दुकरजालशबलतिमिराभिविभ्रमम् ।
ऊढधवलकुसुमाभिरलं वनरीलताभिरलकाश्चकाशिरे ॥ ४६ ॥

चन्द्रकिरणों से संयुक्त अतएव चितकबरे अन्धकार की लहरों का भ्रम उत्पन्न करने वाली धवल पुष्पों से सुसज्जित वणि-लताओं से वे स्त्रियाँ शोभा पाने लगीं ॥ ४६ ॥

प्रियपाणिपङ्कजघृतेषु सकलशशिबिम्बचारुषु ।
वक्त्रकमलमविलोलदृशो मणिदर्पणेषु ददृशुः पुरन्ध्रयः ॥ ४७ ॥

अपने प्रियतमों के हाथों रूपी कमलों में पकड़े हुए, पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल और उज्ज्वल मणि दर्पणों में रमणियां अपने-अपने मुखकमलों को एकटक देखने लगीं ॥ ४७ ॥

प्रकटं दधज्झटिति रागमलघुमथ वारुणीं प्रति ।
कान्तिनिकर इव तिग्मरुचेर्वनिताजनोऽभिमुखतां समादधे ॥ ४८ ॥

स्पष्ट ही जो शीघ्र लालिमा को धारण करवा देती है, उस अधिक मात्रा वाली वारुणी (मदिरा) के प्रति सूर्य-किरणों के समान दैदीप्यमान वह नारीसमूह भी आकृष्ट हुआ ।

अथवा—जिस प्रकार सूर्य-किरणे शीघ्र ही लालिमा धारण कर वारुणी (पश्चिम दिशा) की ओर जाने को उद्यत होती हैं, उसी प्रकार वह स्त्रीजन भी शीघ्र लालिमा देने वाली वारुणी (मदिरा) की ओर उसे पीने के लिए बढ़ीं ॥ ४८ ॥

उदियायमानतिमिरौघविघटनपटुर्मनोम्बरे ।
बालकुवलयदृशां विशदे शनकैर्मनोभवकुरङ्गलांछनः ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार अंधकार-समूह का नाश करने वाला चन्द्रमा धीरे-धीरे आसमान में उदित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मान रूपी अन्धकार के समूह को नाश करने में चतुर, कामरूपी चन्द्रमा धीरे-धीरे उन कोमल कमल के समान नयनों वाली स्त्रियों के हृदय-आकाश में उदित होने लगा ॥ ४९ ॥

अरुणाङ्गुलीदलनिरुद्धनवकनककोशकर्णिकैः ।
सान्द्रमधुपरिमलैः रुरुचे करपङ्कजैरथ चकोरचक्षुषाम् ॥ ५० ॥

जिनकी लाल-लाल अंगुलि रूपी पत्तों से नवीन कोश के कर्णाभरण ढक गये थे ऐसे तथा घनी मदिरा की सुगन्ध से सने उन स्त्रियों के करकमल अधिक शोभायमान हो गये ॥ ५० ॥

मणिशुक्तिषु क्षणमुपोढकुवलयसुगन्धिसीधुषु ।
न्यस्यदसमशर यंत्रमिव भ्रमति स्म भृङ्गकुलमुत्सुकोत्सुकम् ॥ ५१ ॥

जिनके अन्दर मणि थे ऐसी तथा जिन में कमल जैसी सुगन्धित मदिरा थी, ऐसी सीपियों पर बड़ी उत्सुकता से भौंरे ऐसे घूम रहे थे, मानो कामदेव का यंत्र घूम रहा हो ॥ ५१ ॥

रुरुचेऽलिमण्डलमुदंशुकनकचषकोपरि स्थितम् ।
एकमिव रतिपतेरुदितं तपनीयदण्डमसितातपत्रवारणम् ॥ ५२ ॥

स्वर्णनिर्मित प्यालों के ऊपर बैठे हुए और उनकी किरणों से युक्त भ्रमरों

का समूह ऐसा जान पड़ रहा था, मानो स्वर्णदण्डों से विभूषित कामदेव का कृष्णवर्ण का छत्र हो ॥ ५२ ॥

विधृता करे प्रियतमेन कतिपयशिलीमुखान्विता ।
चित्तमहृत विवश सुदृशा कुसुमेषुकार्मुकलतेव वारुणी ॥ ५३ ॥

काम के धनुष की डोरी के समान मदिरा को जब प्रियतमों ने हाथ पर लिया तो उसे देखकर उन सुन्दर नेत्रवालियों के मन विवश हो गये ॥ ५३ ॥

अविरागिणी प्रणयिनीव मधुनि परिचुम्बितानने ।
व्यक्तिमलभत मदो हृदये पुलक कपोलफलके च मुभ्रवाम् ॥ ५४ ॥

भ्रमर के सहित ही जब वे स्त्रियाँ मदिरा पीने लगीं तो भ्रमर ने अत्यन्त प्रणयी तथा प्रेमी की भाँति उनके मुख का चुम्बन किया तो स्वरूप से ही मद ने उन मानिनियों के हृदय में और रोमाञ्च ने गालों को अपना स्थान बना लिया ।

विमर्श—अर्थात् शराब हृदय के अन्तर उतर गयी और शरीर पर रोमाञ्च हो आया ॥ ५४ ॥

प्रतिमागतेन्दुकरजालधवलितमिव श्रियं दधे ।
पाननमितमुखमुग्धवधूविगलद्विलासहसितच्छट मधु ॥ ५५ ॥

मदिरा पान करने के लिए मुख नीचे की हुई मस्त नारियों की शृङ्गार भावना से शुक्र हँसी की छटा से श्वेत बनी मदिरा ऐसी लग रही थी, मानो किसी प्रतिमा पर पड़ने वाले चन्द्र किरणों की श्वेत शोभा को धारण किये हुए हो ॥ ५५ ॥

मधु कापि पाटलकपोलतरलकलधौतकुण्डला ।
लोलनिजमुखतुषारकरप्रतिबिम्बगर्भमधिकापिते पपौ ॥ ५६ ॥

लाल गालों पर चञ्चल स्वर्ण कुण्डलों को धारण करनेवाली किसी नारी ने अपने चन्द्रमुख में धारण की हुई मदिरा को अधिक मात्रा में पिया ॥ ५६ ॥

अविरक्तमायततरेण विलसदसितोत्पलश्रिया ।
काममपिबदपरेन्दुमुखी चषकेण सीधु नयनेन वल्लभम् ॥ ५७ ॥

नील कमल की कान्ति वाले बड़े बड़े नेत्रों से और प्यालों से किसी सुन्दरी ने एक साथ ही (नेत्रों से) प्रेमी प्रिय के रूप का और (प्याले से) रक्तवर्ण की मदिरा का पान किया ॥ ५७ ॥

अगमन् त्रयस्य सममेव परिमलरसज्ञतामलि ।
कल्पविटपिमधुन प्रमदामुखमारुतस्य विचकोत्पलस्य च ॥ ५८ ॥

एक–कल्पवृक्ष की मदिरा की, दूसरे–स्त्रियों के मुख की, और तीसरे–

विकसित कमल के पराग की सुगन्ध का रसास्वाद भौंरों ने एक साथ ही किया ॥ ५८ ॥

अधराग्रचुम्बनमवाप्य कमलदलदीर्घचक्षुषाम् ।
श्वासतरलमजनिष्ट मुदा मुहुरात्तलास्यमिव कापिशायनम् ॥ ५६ ॥

कमल की पंखुड़ियों के समान दीर्घ नेत्र वाली नारियों के अधरों का चुम्बन पाकर वे (भ्रमर भी और पुरुष भी) मस्ती से नृत्य करते हुए गहरी कसैली श्वासें भरने लगे ॥ ५६ ॥

मदमासवेन रमणेन नखपदमिवार्पितं हृदि ।
अतिविशदपदबन्धमथो नवसाहसाङ्कचरितं जगुस्त्रियः ॥ ६० ॥

प्रियतमों ने अपनी-अपनी स्त्रियों के हृदयों में नाखूनों के चिह्न बना दिये और हृदय के भीतर शराब ने मस्ती भर दी । तब मस्त होकर वे स्त्रियाँ बड़े-बड़े पदों की रचनावाले नवसाहसाङ्क के (सिन्धुराज) चरित का गान करने लगीं ॥ ६० ॥

मदिरार्पिताधरदलेन युवतिरमृतच्छटोपमा ।
प्रेमरसमृदुषु दीर्घदृशां हृदयेषु पल्लवयति स्म मन्मथम् ॥ ६१ ॥

अमृत की छटा धारण करने वाली कोई युवति मदिरा की सुगन्ध से युक्त अधरों के प्रेमरस से कोमल हृदय वाले उन दीर्घ नेत्रधारी पुरुषों के हृदयों में भी काम-भावना को जागृत कर रही थी ॥ ६१ ॥

दयिताहृते युवजनेन विलसदतिपाटलद्युतौ ।
कामसुहृदि विदितः प्रणयः प्रथमं मधुन्यधरपल्लवे ततः ॥ ६२ ॥

युवकों ने अपनी प्रियतमाओं के द्वारा दिये गये लाल वर्ण की कामोद्दीपक मदिरा से प्रथम प्रेम किया और तब लाल वर्ण वाले प्रियतमा के अधरों से प्रेम किया । अर्थात् पहले मदिरा पी, फिर प्रिया के अधर ॥ ६२ ॥

अवधूतमानमधुपानरसरभसतः प्रसन्नताम् ।
प्रापुरतिपृथुदृशां सहसा हृदयानि चाच्छमणिभाजनानि च ॥६३॥

रसराग में जब मधुपान-क्रीडा समाप्त होने लगी, तब उन सुनयनाओं के हृदयों ने भी प्रसन्नता प्राप्त की और स्वच्छ मणिमय मदिरा के पात्रों ने भी स्वच्छता (रिक्तता) प्राप्त की ।

विमर्श—अर्थात् मान दूर हो जाने से युवक-युवतियों के हृदय परम प्रसन्न हुए और शराब खतम हो जाने से मणिमय पानपात्र खाली हो गये ॥ ६३ ॥

दयितामनङ्गमदसूतिसितनलिनावतंसकाम् ।
सान्द्ररुचिर्युवजनो मदिरां परिचुम्बति स्म न परं वधूमपि ॥ ६४ ॥

मदिरा पान से पूर्व तृप्त युवकों का समूह कामोन्माद उत्पन्न करने वाली नील कमल का आभूषण पहनी हुई अपनी अपनी प्रिया और मदिरा का चुम्बन करता था, उसमें भी मदिरा का चुम्बन अधिक, पर युवती का कम।

अनयत् सहसैव शिथिलत्वम् उभयमुभयेन योषिताम्।
व्रीडमरुणरुचिना मधुना मणिकाञ्चिदाम च करेण कामिना ॥ ६५ ॥

तब दोनों ने दो को शिथिल कर दिया अर्थात् उनमें ढीलापन आ गया—लाल रंग वाली मदिरा ने तरुणियों की लज्जा को शिथिल कर दिया, और कामी लोगों के हाथों ने स्त्रियों की मणिजटित करधनियों को ढीला कर दिया। अर्थात् वे सब विलास-भावना के नशे में चूर हो गये ॥ ६५ ॥

सुदृशां मदाद्य परिस्खलद्‌रुणितमितोदरा करात्।
पेतुरमरसरित पुलिने मणिशुक्तय प्रियतमे च दृष्टय ॥ ६६ ॥

तब जाह्नवी के तट पर मद में चूर बनी उन नारियों के ढीले हाथों से लाल और सफेद उदर-भागवाली मदिरा पान की सिप्पियाँ गिर पड़ीं और अपने प्रियतमों के ऊपर उनकी श्वेत रक्त वर्ण की दृष्टियाँ पड़ीं ॥ ६६ ॥

नवपल्लवारुणमुवाह धृततरुणवारुणीमद।
रागमथ शुचिनि गण्डतले नयनोदरे च मदिरेक्षणाजन ॥ ६७ ॥

शीघ्र पी हुई मदिरा ने उन मस्त नेत्रोंवाली नारियों के स्वच्छ कपोलों को भी रक्त वर्ण का बना दिया और उनके नेत्रों के भीतरी भाग को भी रक्त वर्ण का बना दिया ॥ ६७ ॥

अपरिस्फुटोक्तिललितासु मदमुकुलदीर्घदृष्टिषु।
तासु रागकुसुमासलसत्कबरीलतासु पदमादधे स्मर ॥ ६८ ॥

उन लडखडा कर बोलने वाली, नशे से अधमुदी आँखों वाली, कंधे पर लटकती हुई, फूलों से चितकबरी बनी चोटियों वाली नारियों में काम की भावना बलवती हो गई ॥ ६८ ॥

आपानभूरसितासवरागदीर्घसे दीवरस्फटिकशुक्तिशता चकासे।
कौतूहलान्मदविलोलवधूविलासव्यालोकनोन्मिषितवक्त्रपरम्परेव ॥६९॥

जहाँ पर मदिरापान किया गया था, वह भूमि पानगोष्ठी के रागरंगों की समाप्ति पर फेंके हुए सैकड़ों कमल और मणिमय सिप्पियों से विराजने लगी, वहा पड़ी वे सिप्पियां और कमल ऐसे जान पड़ रहे थे, मानो कौतूहल से मदमस्त नारियों के विलास को देखने के लिए उन्होंने आँखें खोली हों और अकचका कर मुँह बाये हुए हों ॥ ६९ ॥

अविरलमणिदीपोद्द्योतदूरापसर्पत्तिमिरममरसिन्धोः कूलकच्छं प्रविश्य ।
अथ सममसुनाथैस्ताः सलीलं निपेदुः सरसकनकजम्बूपल्लवप्रस्तरेषु ॥७०॥

तब रत्नमणियों के घने प्रकाश से जहाँ का अन्धकार दूर हट रहा था, जाह्नवी के किनारे की उन घाटियों में प्रविष्ट होकर वे नारियाँ अपने प्रियतमों के साथ हरे और सुनहले जामुन के पत्तों को पत्थरों पर बिछा कर उनपर बैठ गईं ॥ ७० ॥

सान्द्रोन्मीलत्सौरभाण्युद्वहन्त्यो विद्युल्लेखापिङ्गलान्यङ्गकानि ।
लक्ष्मीं हैमाम्भोजमाला इवापुः सारङ्गाक्ष्यः प्रेयसां कण्ठलग्नाः ॥७१॥

घनी फैलती हुई पुष्पों की सुगन्ध को धारण करने वाले, बिजली की कान्ति के समान पीले अङ्गों वाली वे नारियाँ अपने प्रियतमों के साथ आलिंगन करती हुई कमलों की मालाओं को पहनी हुई अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुईं ॥७१॥

ततो विसूत्रच्युतहारयष्टिः शीर्णाङ्गदो भङ्गुरकर्णपूरः ।
मदेन सद्यो मदिरेक्षणानां रतोत्सवः पल्लवितो बभूव ॥ ७२ ॥

तब जिसमें हार-यष्टियाँ भी टूट गयीं, बाजूबन्द खुलकर गिर पड़े, कनफूल टूट गये (या टेढ़े हो गये)—इस प्रकार का (शृङ्गाररस का) रतिक्रीडा महोत्सव वे मदभरी नयनोवाली नारियाँ करने लगीं ॥ ७२ ॥

नानाङ्गरागशबले श्लथबन्धलोलधम्मिल्लमाल्यकुसुमप्रकरावकीर्णे ।
पुष्पेषु तल्प इव वक्षसि वल्लभानां निद्रामवापुरथ ताः सुरतश्रमेण ॥७३॥

नाना प्रकार के अङ्गराग से सना, ढीलीढाली वेणियों पर लगाया हुआ मालाओं का समूह जब रागरस-रंग में बिखर गया, तब रतिक्रीडा में थकी-थकाई वे पुष्पशय्या की भाँति अपने प्रियतमों की छातियों पर सो गईं।

विमर्श—काम की शय्या की भाँति सुन्दर अपने प्रियतमों के वक्षःस्थलों पर ही निद्रानिमग्न हो गईं ॥ ७३ ॥

कन्दर्पस्य त्रिलोकीदृढविजयमहासाहसोत्साहहेतुः ।
धुन्वंस्तत्पक्ष्मधूलिव्यतिकरकपिशः काञ्चनाम्भोरुहाणि ।
तन्वानस्तीररूढत्रिदशतरुलतालास्यमालस्यभाजाम्
तासां सम्भोगकेलिक्लमभरमहरज्जाह्नवीवीचिवातः ॥ ७४ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये पातालगङ्गावगाहन
नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

कामदेव के तीनों लोकों को हठपूर्वक विजय के महासाहस का एकमात्र कारण, स्वर्णकमलों को कँपाता हुआ और उनकी पखुड़ियों की धूलि से पीले बने हुए, आलस्य में पड़ी तीरवर्ती कल्पतरुलताओं को नचाने वाले जाह्नवी की तरंगों के सम्पर्क से शीतल बने हुए वायु ने संभोग क्रीडा में थकी हुई उन स्त्रियों की थकान को मिटाया ॥ ७४ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तरचित नव-
साहसाङ्कचरित का पातालगंगा स्नान
नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१५॥



अथ षोडशः सर्गः

सोलहवाँ सर्ग

पाटलाऽऽगमनम्

अत्रान्तरे नभस्सिन्धुपुलिनं प्राप पाटला ।
दधत्यनङ्गलेखेन लाञ्छितं पाणिपल्लवम् ॥ १ ॥

सखि पाटला का आना

इसके पश्चात् जाह्नवी के उस तट पर काम के लेख (शशिप्रभा के पत्र) से युक्त हाथोंवाली पाटला आ गई ॥ १ ॥

मणिग्रीवकोद्गीर्णंशुनासीरशरासनम् ।
अपश्यद् गगनोल्लेखि तत्र स्फटिकवेश्म सा ॥ २ ॥

मणि-किरणों से इन्द्रधनुष के समान सतरंगे प्रकाश को फैलाने वाले और आकाश को चूमने वाले स्फटिक (संगमर्मर) के बने भवन को उसने देखा ॥ २ ॥

तदिन्द्रनीलद्वारे सा हेमवेत्राकुले बभौ ।
श्लिष्यन्ती सतडिल्लेखे लेखेवेन्दोः पयोमुचि ॥ ३ ॥

स्वर्णदण्ड लिये प्रहरियों से युक्त उस नीलमणिनिर्मित द्वार पर जब वह पहुँची, तब वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो विद्युल्लेखा युक्त बादलों के बीच चन्द्रमा की कला हो ॥ ३ ॥

रत्नवातायनस्थस्य तिष्ठन् पार्श्वे महीपतेः ।
द्वाःस्थं किमपि पृच्छन्तीं तामैक्षत रमाङ्गदः ॥ ४ ॥

रत्न के झरोखों के पास बैठे हुए राजा के समीपवर्ती रमाङ्गद ने द्वारपाल से कुछ पूछती हुई पाटला को देखा ॥ ४ ॥

अन्तः प्रवेशयामास स च तामात्तसम्भ्रमः ।
ययौ सा च विशांपत्युर्लोचनामृतवर्तिताम् ॥ ५ ॥

चकित रमाङ्गद ने आदरपूर्वक उसे भीतर पहुँचाया । जब राजा ने उसे देखा तो राजा के नेत्रों को तृप्ति देने के लिए मानो 'वह अमृत बन गई थी ॥ ५ ॥

सिताश्महर्म्यमुत्तुङ्गं झटित्यधिरुरोह सा ।
आनन्दकन्दलीचित्तमत्यच्छं पार्थिवस्य च ॥ ६ ॥

संगममर के बने उस ऊँचे भवन पर और राजा के आनन्दमरे चित्तपर भी वह शीघ्रता से चढ़ने लगी।

विमर्श—भवन पर चढ़ते ही वह राजा के मन को आनन्दित करने लगी ॥ ६ ॥

> क्षितिचुम्बितहारा सा प्रणनाम महीभुजे।
> रमाङ्गद करग्राहसौहार्दे पात्रतां नयन् ॥ ७ ॥

जब उसने राजा को प्रणाम किया तो उसका हार धरती को चूम रहा था। उसने रमाङ्गद से हाथ मिलाकर उसे भी मित्रता के अनुकूल बनाया ॥७॥

> नृपेण स्वयमुक्तापि इत एह्येति पाटले।
> तल्लीलामणिपर्यङ्कसविधे निषसाद सा ॥ ८ ॥

'पाटले, इधर आओ' ऐसा जब राजा ने स्वयं उससे कहा, तब वह उसके मणिमय पलंग के समीप में ही बैठी ॥ ८ ॥

पाटलावाक्यम्

> कृतसम्भाषणा साथ तेनावनिमनोभुवा।
> इत्यवोचत् च दन्तांशुशबलाधरपल्लवा ॥ ६ ॥

जब धरती के कामदेव उस शिशुराज के साथ उसकी बातचीत हुई, तब पुनः वह दन्तकिरणों से अधरों को चमकाती हुई (हँसती हुई) बोली ॥६॥

> मुद्रितस्मरसौन्दर्यगर्वा नेत्रामृतच्छटा।
> इयं मूर्तिर्महाराज कच्चित् कुशलिनी तव ? ॥ १० ॥

कामदेव के सौन्दर्य को भी जीतने वाली, नेत्रों को अमृत छटा की भाँति तृप्त करने वाली आपकी यह मूर्ति सकुशल तो है ?

विमर्श—अर्थात् आप कुशलपूर्वक स्वस्थ तो हैं ? ॥ १० ॥

> कथमेतां प्रविष्टस्त्वम् भूमिमत्यन्तदुर्गमाम्।
> न कस्य विस्मयायेयं शक्तिरत्यद्भुता तव ॥ ११ ॥

श्रीमान्, आप इस अत्यंत दुर्गम भयंकर भूमि में कैसे प्रविष्ट हुए (आये), आप की यह अद्भुत शक्ति किसे आश्चर्य में नहीं डाल देगी ? ॥११॥

> देव विद्याधरः कोऽपि शापान्निर्मोचितस्त्वया।
> इत्यमन्दः प्रवादोऽत्र यत्कोऽप्यसि नमोऽस्तु ते ॥ १२ ॥

हे महाराज ! आपने किसी विद्याधर को शापमुक्त कर दिया है, यह अपवाद (जनश्रुति) सर्वत्र जोरों से चल रही है, इसलिए आप अवश्य कोई असाधारण पुरुष होंगे, अतः आप चाहे जो भी हों, आप को नमस्कार ! ॥१२॥

अहो गुणेन राजेन्द्र येन केनापि गृह्यसे ।
यदेवं क्लिश्यसे तस्याः फणीन्द्रदुहितुः कृते ॥ १३ ॥

हे राजेन्द्र ! निश्चित ही आप किसी विशेष गुण से ही आकृष्ट हुए हैं, अथवा आपमें निश्चित ही कोई असाधारण गुण है, जो उस नागराज-पुत्री के लिए इतना भारी कष्ट आप सह रहे हैं ॥ १३ ॥

नायकवाक्यम्

अथ विद्रुमताम्रोष्ठलुठद्दशनदीधितिः ।
स्मित्वा वसुमतीनाथस्तामिति प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥

नायक सिन्धुराज का कथन

फिर मूँगे के समान लाल ओठों पर दाँतो की श्वेत छटा को धारण कर (हँसकर) राजा ने उससे इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

कदाचिन पाटले कच्चित् भुजङ्गपतिकन्यका ।
स्मरत्यस्मान् सखीस्वैरसङ्कथास्वन्तरान्तरा ॥ १५ ॥

हे पाटले ! क्या कभी वह भुजङ्गराजपुत्री सखियों के बीच स्वच्छन्द रूप से बातचीत करती हुई हमारी याद भी करती है ? ॥ १५ ॥

किमनङ्गवती वक्ति ब्रूते माल्यवती च किम् ।
अप्यस्त्यहिपुरेऽस्माकं किंवदन्ती कियत्यपि ॥ १६ ॥

बोलो, अनङ्गवती (शशिप्रभा की सखि) क्या कहती है, और माल्यवती भी कुछ कहा करती है ? क्या नागपुर (पाताल) में हमारे विषय की कोई इधर-उधर की चर्चा चलती है ? ॥ १६ ॥

फणिराजसुताकर्णं कच्चिन् प्रापय्य मद्वचः ।
विहितो रत्नचूडेन शुकरूपविपर्ययः ॥ १७ ॥

क्या नागपुत्री शशिप्रभा के कान तक हमारी बात पहुँचाकर रत्नचूड़ ने अपने तोते के रूप को बदल लिया अर्थात् क्या वह तोते से आदमी बन गया ? ॥ १७ ॥

किमागतासि किं चैवं परिम्लानेव लक्ष्यसे ।
निवेदय द्रुतं यन्मे किमप्याशङ्कते मनः ॥ १८ ॥

तुम कैसे यहाँ आई हो ? तुम उदास सी क्यों दिखाई दे रही हो, मेरे मन में शंकायें उठ रही हैं, जल्दी बताओ ॥ १८ ॥

लेखार्पणम्

इति पृष्टवते तस्मै सान्द्रप्रेमार्द्रचेतसे ।
कन्दर्पदीपनं लेखमर्पयामास पाटला ॥ १६ ॥

लेख (पत्र) देना

अत्यन्त प्रेम से गद्गद् चित्तवाले राजा के इस प्रकार पूछने पर पाटला ने कामोत्तेजक वह लेख (पत्र) उसे दिया ॥ १६ ॥

तमास्व वाचयेत्युक्त्वा परमारकुलोद्वह ।
रमाङ्गदस्य चिक्षेप सम्भ्रमोत्तानिते करे ॥ २० ॥

परमारवंश के अग्रगण्य सिंधुराज ने रमाङ्गद से कहा कि इसे पढ़ो और ऐसा कहकर आदर के साथ आगे बढ़ाये हुए रमागद के हाथ में दिया ॥२०॥

तं हेमकदलीपत्रकस्तूरीलिखिताक्षरम् ।
सोऽवधार्याथ तस्याग्रे व्यक्तवागित्यवाचयन् ॥ २१ ॥

पीले केले के पत्ते पर कस्तूरी से लिखे गये अक्षरों वाले उस पत्र को समझ बूझकर रमाङ्गद ने जोर से यों पढ़ा ॥ २१ ॥

शशिप्रभालेख

स्वस्ति स्थितस्य स्व सिन्धुतीरे फणिपुरस्थया ।
इदं मध्यमलोकेन्दोर्माल्यवत्या निवेद्यते ॥ २२ ॥

शशिप्रभा का पत्र ।

श्रीमान् की जय हो, आकाश गंगा के तट पर स्थित, धरती के चन्द्रमा सिन्धुराज से नागलोकस्थित माल्यवती (शशिप्रभा की सखी) इस प्रकार निवेदन करती है ॥ २२ ॥

यदैवास्मत्सखी विन्ध्ये त्वया राजन् व्ययुज्यत ।
तदैवेयं कुरङ्गीव विद्धा हृदि मनोभुवा ॥ २३ ॥

हे राजन् ! हमारी प्यारी सखि विन्ध्याचल के वन में जब से आप से अलग हुई है, तभी से वह काम के बाणों की चोट खायी घायल हिरनी की भांति हो गई है ॥ २३ ॥

दृष्टिः सर्वत्र राजेन्दो सुधानिष्यन्दिनी तव ।
जाता शशिप्रभायां तु सैव हालाहलच्छटा ॥ २४ ॥

सब ओर अमृत की वर्षा करने वाली आप की दृष्टि बेचारी शशिप्रभा के लिए तो भयंकर कालकूट विष सी हो गई।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारी नजर से नजर मिलाकर वह अपनी सुधबुध खो बैठी है ॥ २४ ॥

न विनोदयितुं शक्यमेषा केनापि वस्तुना।
विनेश तव कर्पूरशीतया सङ्गमाशया ॥ २५ ॥

हे स्वामिन्! कपूर की भाँति शीतल तुम्हारी मिलन की आशा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से भी इसका मन नहीं बहलाया जा सकता ॥ २५ ॥

त्वद्दर्शनोपकारिण्याः करोत्येकावलीमिव।
इयं पद्माग्रवर्त्यश्रुपृषतच्छद्मना दृशः ॥ २६ ॥

तुम्हारे दर्शनों की इच्छा रखने वाली अपनी दृष्टि के लिए मानो वह आँखों की पलकों के अग्रभाग पर आँसू की बूँदों के बहाने एक माला सी गूँथ रही है।

विमर्श—अर्थात् रोती हुई इसके आँसू की लड़ी गूँथे हार सी लगती है ॥ २६ ॥

वक्ति व्यक्ताश्रुलेखेन निहितेन करोदरे।
इयमापाण्डुगण्डेन स्मरतापमुखेन्दुना ॥ २७ ॥

निरन्तर आँसू की झड़ी लगानेवाले तथा हथेली पर कुछ पीले गालों वाले तथा कामज्वर से मुरझाये मुख को रखकर यह बड़बड़ाती रहती है ॥ २७ ॥

शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना।
एष क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनज्वरः ॥ २८ ॥

कहाँ तो हरसिंगार के पुष्प की भाँति कोमल अङ्गों वाली यह विशाल-नयनी कोमलांगी, और कहाँ दहकती हुई भूसी की आग जैसा कर्कश यह कामज्वर।

विमर्श—अर्थात् भला यह कोमल शशिप्रभा इस कठोर कामज्वर को कैसे सहेगी ॥ २८ ॥

नेयं प्रवालशय्यायां नापि प्रालेयवेश्मनि।
न चेन्दुमणिपर्यङ्के सखी निर्वृतिमेति नः ॥ २९ ॥

हमारी यह सखी न तो कोमल पत्तों की शय्या पर ही शान्ति पा रही है, न हिम-शीतल भवन में ही उसे चैन मिलता है, और न चन्द्रकान्त मणि-शय्या पर ही वह शान्ति पाती है ॥२९॥

निसर्गरक्तमेतस्याः सखीजनमिवाधरम्।
नयन्ति किमपि म्लानिमुष्णा निःश्वसितोर्मयः ॥ ३० ॥

गरम-गरम आह भरने की श्वांसें निकलकर स्वभाव से ही रक्त वर्ण के अधरों को म्लान कर रही हैं। पक्षान्तर में सखियाँ जो कि उससे बहुत प्रेम करती हैं, उसे ठंडी ठंडी आहें भरते देखकर दुखी होती हैं ॥ ३० ॥

अरतिन्यमवाप्यास्य फणिकेव विघूर्णते ।
एषा कमलिनीपत्रशय्यायामायतेक्षणा ॥ ३१ ॥

अनमनी सी होकर यह विशालनेत्री कमलिनी के पत्तों की शय्या पर पानी की बूँद की तरह पड़ी रहती है ॥ ३१ ॥

अस्या स्मराग्निसन्तप्तं वपु शशिकलामृदु ।
नीरन्ध्रघर्मसलिलच्छलेनेव विलीयते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार भयकर धूप में पानी भी मुरझने लगता है, उसी प्रकार इसका चन्द्रमा की कला के समान कोमल शरीर कामाग्नि से सूखता चला जा रहा है ॥ ३२ ॥

कृशतामङ्गके गाढमस्या कुसुमकोमले ।
आरोपयति पुष्पेषुर्मौर्वीमिव शरासने ॥ ३३ ॥

इसके फूल के समान कोमल अङ्गों में इतनी दुर्बलता आ गई है कि मानो वह (रस्सी) डोरी की भाँति दुबली हो गई है। उसे मौर्वी बनाकर काम अपने धनुष पर चढाना चाहता है ॥ ३३ ॥

वृतया हृदि बालेयं वितीर्णहरिचन्दने ।
निर्वाणमेति भवत कथया न जलार्द्रया ॥ ३४ ॥

यह शशिप्रभा हृदय पर चन्दन का लेप करने पर भी या जलस्नान करने पर भी शान्ति नहीं पाती है, बल्कि आपकी कथा सुनने से इसे कुछ राहत मिलती है ॥ ४ ॥

आकर्णकृष्टकोदण्डस्त्वा विना निशितै शरै ।
भिनत्त्यङ्गमनङ्गोऽस्या क्षतिश्चेतसि कापि मे ॥ ३५ ॥

कानों तक अच्छी तरह से धनुष खींचकर कामदेव तुम्हारे बिना इसके अङ्ग प्रत्यङ्गों को घायल करता रहता है, यह देखकर मेरे (माल्यवती के) चित्त को बड़ा कष्ट होता है ॥ ३५ ॥

इयमत्यच्छहृदय दधत्यतिसुवृत्तताम् ।
बाला माणिक्यमुकुरे विमुखी सम्मुखी त्वयि ॥ ३६ ॥

अत्यन्त निर्मल हृदय में सुवृत्तता अर्थात् सौमनस्य धारण करने वाली वह शशिप्रभा छोटे-छोटे मणियों से जटित दर्पण में तुम्हारे सम्मुख विमुख होकर बैठती है ॥ ३६ ॥

एषा शिखेव दीपस्य मुग्धा दग्धदशाश्रया ।
स्मरानिलपरामर्शादितश्चेतश्च वेपते ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार दीपक की लौ जलती हुई बत्ती के साथ हवा के झोंके खा-खाकर इधर-उधर काँपती रहती है, उसी भाँति यह भोली-भाली शशिप्रभा वियोग में जलती हुई, कामरूपी वायु से इधर-उधर काँपती फिरती रहती है ॥ ३७ ॥

इयमिन्दुद्युतिहरं युक्तमत्यायतैर्गुणैः ।
मृणालवलयं हस्ते वहति त्वां च चेतसि ॥ ३८ ॥

यह चन्द्र की कान्ति की भाँति श्वेत, लम्बे-चौड़े सूतों से युक्त कमल-नाल के कंगन को तो हाथ पर धारण किये हुए है और चन्द्रमा की कान्ति को भी जीतने वाले विशेष अधिक गुणों से युक्त तुम्हें हृदय में धारण करती है ॥ ३८ ॥

अनङ्गतापवत्यस्या निकामं सरसं हृदि ।
सङ्कुचत्यब्जिनीपत्रं न तु त्वत्प्रेमपल्लवः ॥ ३९ ॥

इस बाला के कामदाह से युक्त हृदय पर भली प्रकार रखे गये कमलिनी के पत्ते तो मुरझा (झुलस) जाते हैं; किन्तु आपके प्रेमवृक्ष के पत्र जरा भी नहीं मुरझाते हैं ॥ ३९ ॥

क्रियते वलयेनास्याः मणिबन्धे गतागतम् ।
कार्श्यात्प्रभूमिमासायास्त्वय्यन्तःकरणेन च ॥ ४० ॥

यह इतनी दुर्बल हो गई है कि इसके हाथ का कंगन मणिबन्ध के कभी नीचे और कभी ऊपर होता रहता है, और इसका हृदय भी वैसे ही आपकी स्मृति में गमनागमन करता रहता है । अर्थात् इसका चित्त तुम्हीं पर लगा है ॥ ४० ॥

जायते पेशलमपि प्रायो वस्त्वन्यथाऽऽपदि ।
प्राप्तो मृणालहारोऽपि यदस्या दाहहेतुताम् ॥ ४१ ॥

आपत्ति आने पर कोमल वस्तु भी कठोर बन जाती है । जैसे कि इस बेचारी का मृणाल-हार जो शीतलता देता था, आज वियोग होने से वह भी दाहकारक बन गया ॥ ४१ ॥

निहिताः सास्त्रमालीभिर्लवलीपाकपाण्डुनि ।
अस्याः स्तनतटे भारः परं वानीरपल्लवाः ॥ ४२ ॥

इसके लवली के पके पुष्प के समान पीले स्तनभाग पर सखियों द्वारा अश्रुपरिपूर्ण होकर रखे गये बेत के पत्ते भी अत्यन्त भारस्वरूप हो रहे हैं ॥ ४२ ॥

न चन्दनेन नोशीरवारिणा न जलार्द्रया।
नाऽस्या पुटकिनीपत्रैः शाम्यतीति स्मरज्वरः ॥ ४३ ॥

इसका कामज्वर न चन्दन से, न खस के ठंडे पानी से, न जल में डुबोने से और न कमलिनी के पत्ते रखने से ही किसी प्रकार शान्त हो रहा है ॥ ४३ ॥

किञ्चापरं त्वमेतस्या हृदयस्याधिदेवता।
यतस्त्वन्मयमेवैषा विश्वं विश्वेश पश्यति ॥ ४४ ॥

और क्या कहूँ ! इसके हृदय के अधिदेवता तो आप ही बने हुए हैं ! क्योंकि हे विश्व के राजा ! यह तो सारे विश्व को तुम्हारे ही रूप में देख रही है ॥ ४४ ॥

रत्नचूडोपनीतेन सन्देशेन तथाधुना।
इयमुच्छ्वसिता किञ्चित् सुधागण्डूषवन्धुना ॥ ४५ ॥

हाँ ! अमृत के घूँट के समान जीवनदायक रत्नचूड के द्वारा पहुँचाये गये तुम्हारे सन्देश के मिलने पर इसने कुछ सान्त्वना की साँस ली ॥ ४५ ॥

तावदागच्छ वेगेन गृहीत्वा हेमपङ्कजम्।
अनङ्गविधुरा यावदियं श्वसिति नः सखी ॥ ४६ ॥

तो जब तक काम से पीड़ित हमारी यह सखी जीवित है, तब तक शीघ्र ही आप स्वर्णकमल लेकर यहाँ पहुँचे ॥ ४६ ॥

नायकस्य प्रतिसन्देशः

एवमाकर्ण्य ललितं लेखार्थमथ पार्थिवः।
उद्भिन्नसान्द्रपुलकः पाटलामित्यवोचत ॥ ४७ ॥

नायक का सन्देश

सिन्धुराज ने इस तरह उस लेख को सुनकर उसका अर्थ समझ कर अत्यन्त रोमाञ्चित होकर पाटला से यों कहा ॥ ४७ ॥

यथा सखी वः विषमपि प्रपन्ना विधुरां दशाम्।
तथा त्वमपि मामेवं पाटले किं न पश्यसि ॥ ४८ ॥

हे पाटले ! जिस प्रकार तुम्हारी सखी अति दुःखपूर्ण दशा को प्राप्त हुई है, क्या उसी दशा को पहुँचे हुए मुझे तुम नहीं देख रही हो ? ॥ ४८ ॥

तद् गच्छता शशिमुखीमाश्वासयितुमर्हसि।
वयमेते च हेमाब्जमानेतुं प्रयतामहे ॥ ४९ ॥

तो पाटले ! तुम जाओ और जैसे भी हो सके, अपनी सखी को ढाढस बँधाओ। हम भी शीघ्र ही स्वर्णकमल लाने का प्रयत्न करते हैं ॥ ४९ ॥

तथा कार्यं न वन्ध्यः स्याद्यथा मम मनोरथः ।
वक्तव्या माल्यवत्येवं मद्गिरा वल्गुवादिनि ॥ ५० ॥

हे सुन्दर भाषण करने वाली ! मेरा मनोरथ और सारा प्रयत्न असफल न होने पावे, ऐसा उपाय करो । इस तरह तुम मेरे शब्दों से यह बात माल्यवती से कह देना ॥ ५० ॥

पाटलाप्रयाणम्

आवृत्तिदत्तसन्देशा सा ततः पृथिवीभुजा ।
फणिराजेन्द्रनगरीं त्वरितं पाटला ययौ ॥ ५१ ॥

पाटला का प्रयाण

जब राजा ने बार-बार उसे ऐसा सन्देश देकर अच्छी तरह उसे समझा दिया, तब पाटला शीघ्र ही नागराजपुरी भागवती की ओर चल पड़ी ॥५१॥

प्रस्थानशंसी सहसा तस्याथ पृथिवीपतेः ।
प्रलयाम्बुधरध्वानघोरं दध्वान दुन्दुभिः ॥ ५२ ॥

तब सहसा विजय-प्रस्थान की सूचना देनेवाली, प्रलयकालीन मेघ की भांति भीषण ध्वनि करने वाली, सिन्धुराज की सेना की दुन्दुभि बज उठी ॥ ५२ ॥

विद्याधरस्त्रीपुरुषवर्णनम्

नदन्नुत्कम्पिमनसां स विद्याधरयोषिताम् ।
निन्ये प्रियपरिष्वङ्गश्लथतामथ दोर्लताः ॥ ५३ ॥

विद्याधर स्त्री-पुरुषों का वर्णन

बजती हुई उस दुन्दुभि ने विद्याधर-नारियों के हृदयों को कँपाते हुए उनकी भुजलताओं को प्रियतमों के साथ किये गये आलिंगन से शिथिल बना दिया ॥ ५३ ॥

कथञ्चित् प्राणनाथस्य मुखादधरपल्लवम् ।
बाला व्यघटयत् काचिदुरसश्च पयोधरौ ॥ ५४ ॥

उस समय अतिकठिनता से किसी बाला ने प्रिय के अधरों से अपने अधर हटाये और आलिङ्गन में संसक्त प्रिय के वक्षःस्थल से अपने कुचों को हटाया ॥ ५४ ॥

शनैर्बबन्ध जघने नखाङ्कवति मेखलाम् ।
कापि स्मितमुखी कान्ते तिर्यगर्पितलोचना ॥ ५५ ॥

किसी बाला ने नाखूनों के चिह्नों से युक्त कटिभाग पर करधनी बाँधी और तिरछी नजर से प्रिय को हँसकर देखने लगी ॥ ५५ ॥

दष्टि दास्यन्ति मे सख्य खण्डिते दन्तवाससि ।
किमत्र कृत्यमित्यन्या किमपि व्याकुलाभवत् ॥ ५६ ॥

कोई स्त्री यह सोचकर व्याकुल होने लगी कि क्या करूँ ! मेरी सखियाँ मेरे पति के द्वारा काटे हुए मेरे ओठों को देखेंगी तो क्या होगा, क्या करना चाहिए ! ॥ ५६ ॥

काचित् पर्यङ्कमालोक्य सालक्तकपदाङ्कितम् ।
अन्योन्यार्पितनेत्राभिर्वयस्याभिरहस्यत ॥ ५७ ॥

अलता से सने पदचिह्नों से युक्त पलंग को देखकर सखियाँ एक दूसरी को देखकर हँसती हुई किसी का मजाक उड़ाने लगीं ॥ ५७ ॥

एका माणिक्यस्रजं करात्प्रच्युतमाददे ।
हृदयं पुष्पचापेन मध्ये विद्धमिवात्मनः ॥ ५८ ॥

किसी ने अपने हाथ से गिरे हुए मणि-कंगन को पहना, मानो कामवाणों से बीचोबीच विधे अपने हृदय को सँभाला हो ॥ ५८ ॥

चुम्बनक्लिष्टबिम्बोष्ठं जागरारुणलोचनम् ।
मुखाम्भोजं दृशाऽन्योन्यं विलासिभिरपीयत ॥ ५६ ॥

चुम्बन से मुरझाये ओठोंवाले, जागरण के कारण लाल-लाल नेत्रोंवाले एक दूसरे के मुख-कमलों का विलासियों ने चुम्बन किया ॥ ५६ ॥

रत्नवतीं प्रति गमनम्

सोऽथ प्रवृत्ते गन्तुं विद्याधरबलान्वितः ।
रथेन रथिनामग्र्यः पुरीं रत्नवतीं प्रति ॥ ६० ॥

रत्नवती का प्रस्थान

तब रथियों में अग्रगण्य त्रिपुरारि विद्याधरों की सेना के साथ, रथ से रत्नवती नाम की यज्ञाङ्कुश राक्षस की पुरी की ओर जाने के लिए सन्नद्ध हुआ ॥ ६० ॥

रत्नचूडसमागमः

ततः फणिकुमारेण रत्नचूडेन सोऽध्वनि ।
समगंस्त जगत्पूज्यः पूषा दर्श इवेन्दुना ॥ ६१ ॥

रत्नचूड से भेंट

फिर नागपुत्र रत्नचूड का रास्ते में उस जगत्पूज्य से उसी भाँति मिलन हुआ, जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा का सूर्य से होता है ॥ ६१ ॥

स तस्यौपायनीचक्रे दिक्चक्रस्खलितध्वनिम् ।
अन्द्रिप्रदानविष्यन्दमात्मानमिव वारणम् ॥ ६२ ॥

उस रत्नचूड ने अपनी आवाज से दिशाओं को गुंजा देने वाले, सदैव मद बहाने वाले एक हाथी को राजा को भेंट के रूप में दिया, साथ ही साथ अपने आपको भी ॥ ६२ ॥

नृपस्य दोपिकाकृत्यं चक्रिरे तिमिरच्छिदः ।
पुरः प्रसर्पत्तत्सैन्यफणारत्नांशुसूचयः ॥ ६३ ॥

अपनी फणाओं के मणियों की ज्योति की बत्तियों से जो अन्धकार को मिटा रही थीं, ऐसी उस रत्नचूड की आगे-आगे चलनेवाली नागसेना ने राजा के सामने आरती उतारने का काम किया ॥ ६३ ॥

कियताप्यथ कालेन सन्ततैः स प्रयाणकैः ।
प्रपेदे कुसुमाश्लेषसुगन्धिपवनं वनम् ॥ ६४ ॥

तब बहुत समय के पश्चात् लगातार पड़ाव पर पड़ाव डालता हुआ वह राजा पुष्पों से भरे सुगन्धि युक्त एक उपवन में पहुँचा ॥ ६४ ॥

दूतप्रस्थानम्

असुराधिपतिं साम्ना याचितुं हेमपङ्कजम् ।
स्थित्वा स तत्र पुरतो विससर्ज रमाङ्गदम् ॥ ६५ ॥

दूत को भेजना

सिन्धुराज ने वहीं रहकर शान्तिपूर्ण ढंग से वज्रांकुश राक्षस के पास स्वर्ण कमल को माँगने के लिए रमाङ्गद को आगे भेजा ॥ ६५ ॥

स च त्रिजगतः सारमादायेव विनिर्मिताम् ।
उत्तुङ्गरत्नप्रासादां प्राप रत्नवतीं पुरीम् ॥ ६६ ॥

रमाङ्गद तीनों लोकों के सार को लेकर बनाई गई ऊँचे-ऊँचे रत्नमण्डित महलों वाली उस रत्नवती नाम की राक्षस-नगरी में पहुँचा ॥ ६६ ॥

रामार्थवद्धकक्षेण प्रेषितः प्रभुणाऽविशत् ।
परिखार्णवमुल्लङ्घ्य स तां लङ्कामिवाङ्गदः ॥ ६७ ॥

रमणी की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत स्वामी के भेजने पर रमाङ्गद खाइयों से घिरी उस नगरी में उसी भाँति प्रविष्ट हुआ, जैसे राम के भेजने पर समुद्रों से घिरी लंका में अंगद गया था ॥ ६७ ॥

कोऽयं कोप्ययमन्योन्यमेवं पल्लवितोक्तिभिः ।
कौतुकस्तिमिताक्षैः स पौरैश्चिरमदृश्यत ॥ ६८ ॥

अरे यह कौन है ? अरे होगा कोई ! इस प्रकार एक-दूसरे से आपस में कहते-कहते जब बात नगर में फैली तो नगरनिवासी आश्चर्य से आँखे खोल-कर बड़ी देर तक रमाङ्गद को देखते ही रह गये ॥ ६८ ॥

सचेन्द्रनीलहर्म्येषु ददर्शासुरकन्यकाः ।
लोलास्तमालश्यामेषु मेघेष्विव शतह्रदाः ॥ ६६ ॥

उसने इन्द्रनीलमणि मण्डित महलों में असुर कन्याओं को देखा। जो ऐसी ज्ञात हो रही थीं, मानो नील मेघों के अन्दर चंचल बिजलियाँ हों ॥ ६६ ॥

निपीयमानः पौरस्त्रीनेत्रस्फटिकशुक्तिभिः ।
वैरीद्विपघटासिंहः सिंहद्वारमवाप सः ॥ ७० ॥

पुरनारियों की स्फटिक की भाँति स्वच्छ नेत्ररूपी सिपियों से जिसके रूप का पान किया जा रहा था, ऐसा वह वैरियों के गजसमूह के लिए सिंह-स्वरूप रमाङ्गद सिंहद्वार (नगर के प्रमुख दरवाजे) पर पहुँचा ॥ ७० ॥

असुरेन्द्रस्य दोःकण्डुस्थानैकभटाकुलम् ।
वीरः सोऽविशदास्थानमथ द्वाःस्थनिवेदितः ॥ ७१ ॥

भुजाओं की कण्डु शमन के लिए जिन्हें कोई स्थान नहीं था, ऐसे अनेक योद्धाओं से भरे हुए, द्वारपाल के बताये हुए, दैत्यराज के उस सभामण्डप में वह वीर पहुँचा ॥ ७१ ॥

असुरेन्द्रवर्णनम्

आसीनमञ्जनश्याममुच्चैः स्फटिकविष्टरे ।
हिमाचलेन्द्रशिखरे नवीनमिव नीरदम् ॥ ७२ ॥

राक्षसराज का वर्णन

ऊँचे स्फटिक के सिंहासन पर बैठा हुआ काले अञ्जन की आकृति वाला वह दैत्यराज ऐसा लग रहा था, मानो हिमालय की चोटी पर नया नील बादल विराजमान हो ॥ ७२ ॥

केयूरपद्मरागांशुमञ्जरीजटिलावुभौ ।
भुजौ बिभ्राणमुज्ज्वालप्रतापज्वलनाविव ॥ ७३ ॥

पद्मराग (पन्ना) की किरणों से चमकते हुए बाजूबन्दों से युक्त, प्रताप की अग्निज्वाला को धारण करने वाले उसके दोनों हाथ थे ॥ ७३ ॥

उरसा रुद्धगीर्वाणद्विपेन्द्ररदकोटिना ।
हारवल्लीं दधल्लोलां दोलामिव जयश्रियः ॥ ७४ ॥

देवगज ऐरावत को युद्ध में रोक देने से उसके दाँतों से चिह्नित हृदय पर चञ्चल हार को उसने धारण किया था। जो जयलक्ष्मी के झूले की भाँति प्रतीत होता था ॥ ७४ ॥

दधानं दीप्तिपर्यस्ततिमिरौ मणिकुण्डलौ ।
वन्दीकृतौ सहैवोभौ सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ ७५ ॥

अपनी चमक से अन्धकार को दूर करने वाले दो मणिकुण्डलों को उसने पहन रखा था, जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो उसने सूर्य और चन्द्रमा को एक ही साथ बन्दी बना रखा हो ॥ ७५ ॥

वीरव्रतस्यालङ्कारमहंकारस्य जीवितम् ।
जगतामङ्कुशं तत्र स वज्राङ्कुशमैक्षत ॥ ७६ ॥

वीरव्रत के अलंकार अर्थात् आभूषण-स्वरूप अहंकार का मानो जीवित तथा तीनों लोकों पर अपना अंकुश रखने वाले उस वज्राङ्कुश को रमाङ्गद ने देखा ॥ ७६ ॥

तन्निदेशितमध्यास्त स हिरण्मयमासनम् ।
नानारत्नांशुशबलं शृङ्गं मेरोरिवार्यमा ॥ ७७ ॥

तब संकेत पाने पर नाना रत्न-किरणों से सुशोभित स्वर्ण के आसन पर रमाङ्गद बैठ गया, मानो सुमेरु पर्वत की चोटी पर सूर्य विराजमान हो ॥ ७७ ॥

दूतं प्रति प्रश्नः

कुर्वन् मुखानि स्मेराणि दशनज्योत्स्नया दिशाम् ।
विधाय सत्क्रियामेवमसुरेन्द्रस्तमब्रवीत् ॥ ७८ ॥

दूत रमाङ्गद से प्रश्न

दाँतों की श्वेत ज्योति से दिशाओं के मुखों को भी श्वेत बनाते हुए, उस राक्षसेन्द्र ने आदर-सत्कार करके रमाङ्गद से यों कहा ॥ ७८ ॥

अहो किमपि कल्याणमासन्नफलमद्य नः ।
अन्यथा हि गृहं सन्तः किमायान्ति भवद्विधाः ॥ ७९ ॥

अहो आज हमारे किसी कल्याण का बड़ा भारी फल हमें मिला है। अन्यथा, अगर ऐसा न होता तो क्या आप जैसे सज्जन अतिथि मेरे घर आते ? ॥ ७९ ॥

यदाश्रमे वङ्कुमुनेर्युवयोर्वृत्तमद्भुतम् ।
तत् कर्णातिथितां नीतमेत्य प्रणिधिभिर्मम ॥ ८० ॥

आप लोगों ने जो अद्भुत कार्य वङ्कु मुनि के आश्रम में किये हैं, वे मेरे गुप्तचरों ने आकर मेरे भी कान तक पहुँचा दिये हैं ॥ ८० ॥

एतया साम्प्रतं ब्रूहि युतो विद्याधरैरयम् ।
किमाकाङ्क्षति वः स्वामी फलं पातालयात्रया ॥ ८१ ॥

अब बताइये कि विद्याधर-सेना से युक्त होकर आपका स्वामी इस पाताल-यात्रा का क्या फल चाहता है।

विमर्श—अर्थात् इस पातालयात्रा का उद्देश्य क्या है ? ॥ ८१ ॥

नियुज्यन्ते नृपेणार्थे नाल्पीयसि भवान्शा ।
शेषो धृतेर्भुवोऽन्यत्र व्यापारयति कि फणान् ॥ ८२ ॥

राजा आप जैसे महानुभाव को छोटे मोटे काम के लिए कभी नियुक्त नहीं कर सकता अर्थात् आप को किसी बड़े ही काम के लिये भेजा होगा । शेषनाग धरती के धारण के अतिरिक्त और किसी काम के लिये अपनी फणाओं को नहीं उठाता ॥ ८२ ॥

तदत्र प्रहितो राज्ञा किमर्थमसि कथ्यताम् ।
अर्थिना व्यर्थतामेति न जातु प्रार्थना मयि ॥ ८३ ॥

तो बताइये, राजा ने आपको किसलिए यहाँ भेजा है ? मुझसे जो भी याचक प्रार्थना करते हैं, उनकी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं होती ॥ ८३ ॥

रमाङ्गदोक्तिः

मार्गैरिवायतैर्वाचां शुचिभिर्दशनांशुभिः ।
सीमन्तिताधरः स्मित्वा तमित्यूचे रमाङ्गदः ॥ ८४ ॥

रमाङ्गद का कथन

वाणी के लिए मानो विस्तृत मार्गस्वरूप अपनी शुभ्र दन्त किरणों से अधरों को सुशोभित करते हुए अर्थात् हँसते हुए रमाङ्गद ने उससे कहा ॥ ८४ ॥

आसां सुधारसार्द्राणां शुद्धानामसुराधिप ।
गिरां त्वमेको यत् सत्यमिन्दुर्भासामिवाकरः ॥ ८५ ॥

इन सुधारस से भरी शुद्ध वाणियों के तुम उसी प्रकार भण्डार हो, जैसे चन्द्रिका का भण्डार चन्द्र है ॥ ८५ ॥

कच्चित्त्वयाऽयमज्ञायि देव साहसलाञ्छन ।
जगत्प्रदीपमथवा को न वेत्ति विरोचनम् ॥ ८६ ॥

क्या तुम हमारे स्वामी नवसाहसाङ्क को जानते हो ? अथवा जगत् को प्रकाशित करने वाले सूर्य को भला कौन नहीं जानता ॥ ८६ ॥

फणिराजसुतामेष परिणेतु शशिप्रभाम् ।
पथानेन रथक्षुण्णरत्नशैलेन गच्छति ॥ ८७ ॥

यह राजा नागराज की कन्या शशिप्रभा से विवाह करने के लिए रथों से रत्नमय पर्वतों को तोड़ता हुआ इसी मार्ग से जा रहा है ॥ ८७ ॥

त्वद्वापिहेमपद्मेन शुल्कसंस्था कृता किल ।
अस्याः पित्रेति देवेन तदर्थं प्रहिता वयम् ॥ ८८ ॥

शशिप्रभा के पिता ने तुम्हारी बावड़ी के स्वर्णकमल को लाने वाले पुरुष को उसे ब्याहने का निश्चय किया है, प्रतिज्ञा की है । अतः उसी स्वर्णकमल के लिए राजा ने मुझे यहाँ भेजा है ॥ ८८ ॥

अनेनेच्छसि चेन् कर्तुं सख्यं साहसलक्ष्मणा ।
तन् कार्तस्वरराजीवमानीय स्वयमर्प्यताम् ॥ ८९ ॥

यदि तुम उस नवसाहसाङ्क राजा से मित्रता करना चाहते हो, तो स्वयं ही अपनी बावड़ी से स्वर्णकमल लाकर उनको अर्पित कर दो ॥ ८९ ॥

लुम्पन्ति त्वन्मुखच्छायां यावन्नास्य चमूरजः ।
कुरुष्व तावदातिथ्यं हेमाब्जेन महीभुजः ॥ ९० ॥

जबतक तुम्हारे मुख की कान्ति को उसकी सेना की चरण-धूलि मलिन नहीं करती, तब तक ही स्वर्णकमल द्वारा उस राजा का अतिथि-सत्कार कर दो ।

विमर्श—अर्थात् बिना युद्ध के ही कमल देकर मित्रता कर लो ॥ ९० ॥

किमन्यन् नार्थिना मत्तो विघटन्ते मनोरथाः ।
इति त्वया स्वमेवाशु प्रमाणीक्रियतां वचः ॥ ९१ ॥

और क्या कहें, तुमने स्वयं ही कहा है कि मेरे पास आनेवाले याचकों के मनोरथ विफल नहीं होते । इसलिए अपने वचनों को शीघ्र सत्य प्रमाणित कर दो ॥ ९१ ॥

इत्युक्तवति सामर्षभटदृष्टे यशोभटे ।
प्रत्यभाषत सावज्ञं विहस्यासुरकुञ्जरः ॥ ९२ ॥

क्रोधयुक्त योद्धाओं के द्वारा देखे जाते हुए रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर हँस कर अवहेलना (लापरवाही) के साथ उस असुरराज ने यों कहा ॥९२॥

वज्राङ्कुशवाक्यम्

अहो बत विदग्धोऽपि धिङ् मुग्ध इव लक्ष्यसे ।
विदुषापि त्वया किञ्चिद्यदुक्तमसमञ्जसम् ॥ ९३ ॥

वज्राङ्कुश का उत्तर

अहो ! तुम चतुर होते हुए भी मूर्ख जैसे मालूम पड़ रहे हो, क्योंकि विद्वान् होते हुए भी तुमने युक्तिसंगत बात नहीं कही ॥ ९३ ॥

यूयं क्व मानुषाः पृथ्वीसङ्कटस्वाम्यदुःस्थिताः ।
सा च त्रिजगतां भर्तुरुचिता क्व शशिप्रभा ? ॥ ९४ ॥

पृथ्वी पर वर्तमान अनगिनत संकटों का तुमपर आधिपत्य रहता है, अतएव दुरवस्था से युक्त तुम मानव कहाँ और वह तीनों लोकों के स्वामी के (मेरे) लायक शशिप्रभा कहाँ ॥ ९४ ॥

तादृङ्मदङ्कमेवात्र स्त्रीरत्नमधिरोहति ।
रमते हि हरस्यैव मौलाविन्दुकलाङ्कुरः ॥ ९५ ॥

ऐसी रत्नरूप स्त्री तो मेरी गोद की ही शोभा हो सकती है, क्योंकि चन्द्रमा की कला शिव के सिर पर ही शोभा पा सकती है ॥ ६५ ॥

यद्यदस्तीह पाताले रत्नं क्वचन किञ्चन ।
भाजनं तस्य तस्याहमेकः के यूयमुच्यताम् ॥ ६६ ॥

इस पाताललोक में जहाँ कहीं पर भी जो कोई भी रत्न है, उसका एकमात्र मैं ही अधिकारी हूँ। बोलो, तुम लोग कौन होते हो ? ॥ ६६ ॥

सहते नृपतौ नैष हेमतामरसार्पणम् ।
ममैष शक्रविजयक्रीडादुर्ललितो भुजः ॥ ६७ ॥

इन्द्रविजय की कठिन क्रीडा करने का अभ्यासी मेरा यह हाथ राजा (सिन्धुराज) को इस प्रकार स्वर्णकमल समर्पण कभी नहीं सह सकता है ॥ ६७॥

प्रभुस्तव नयज्ञोऽपि किमनर्थाय केवलम् ।
दीर्घेन्दीवरमालेति विकर्षत्यसितोरगम् ॥ ६८ ॥

न्याय का ज्ञाता होकर भी तुम्हारा स्वामी केवल अनर्थ उत्पन्न करने के लिए कमल की माला समझकर काले साँप को क्यों खींचना चाहता है ? ॥६८॥

इत एव निवर्तध्वं वर्तध्वं वचने मम ।
अवटे किमिति क्षेप्तुमात्मानं यूयमुद्यताः ॥ ६९ ॥

मेरे वचनों को मान कर तुम लोग अब यहीं से लौट जाओ। व्यर्थ में ही क्यों तुम लोग अपने आपको गर्त (आपत्ति) में डालना चाहते हो ? ॥६९॥

यावदेते न मुञ्चन्ति मर्यादामसुराब्धयः ।
तावद्दूरापसारेण स्वामिनं त्रातुमर्हथ ॥ १०० ॥

जब तक यह राक्षस सेनारूपी समुद्र मर्यादा को नहीं छोड़ता अर्थात् तुम लोगों को नहीं समाप्त कर देता, तब तक दूर भाग कर अपने स्वामी को बचा लो ॥ १०० ॥

नरेन्द्र दुर्जिगीषातस्तद्गच्छत विनिवारय ।
स्वामिनं किमुपेक्षध्वे पतिमुत्पथगामिनम् ॥ १०१ ॥

यह राजा विजय की दुरभिलाषा कर रहा है, इसलिए जाओ, उसे इस भयानक विजिगीषा से रोको। तुम जैसे बुद्धिमान व्यक्ति क्या कुमार्ग पर जाने वाले अपने स्वामी की उपेक्षा कर सकते हैं ? ॥ १०१ ॥

अथवाऽस्यास्ति शक्तिश्चेत् किमद्यापि विलम्बते ।
आयातु स्वयमादातुमितः काञ्चनपङ्कजम् ॥ १०२ ॥

अथवा उसमें कुछ शक्ति है तो अब देर क्यों कर रहा है, वह स्वयं यहाँ आये और स्वर्णकमल को ले जाय ॥ १०२ ॥

किमन्यज्जायतामेष खड्गधारातिथिर्मम ।
इत्युक्त्वा कोपतरलं विररामासुरेश्वरः ॥ १०३ ॥

और क्या कहूँ, वह आये और मेरी तलवार की धार का अतिथि बने, ऐसा कहकर गुस्से में भरकर वह असुरराज वज्रांकुश मौन हो गया ॥ १०३ ॥

रमाङ्गदस्य प्रतिवचनम्

धैर्यं संवृतकोपोऽथ स्मयमानो रमाङ्गदः ।
तमित्यमुक्तपर्यङ्कः प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥ १०४ ॥

रमाङ्गद का उत्तर

क्रोध को रोककर, धैर्य धारण कर रमाङ्गद हँसता हुआ आसन पर ही स्थिर बैठकर उसको उत्तर देने के लिए तैयार हुआ ॥ १०४ ॥

निर्वाणवीर्यवातेऽस्मिन् रसातलबिलोदरे ।
अभुग्नभुजकण्डूतिरहो किमपि लक्ष्यसे ॥ १०५ ॥

नष्ट हो गया है पराक्रम रूपी वायु जिसका, ऐसे पाताललोक में मालूम होता है तुम्हारे हाथों की खुजली अभी बाकी रह गयी है ॥ १०५ ॥

मन्ये तवैतन्नीरन्ध्रमज्ञातस्वपरान्तरे ।
पातालचिरसंवासाच्चित्ते परिणतं तमः ॥ १०६ ॥

ऐसा लगता है कि पाताललोक में अधिक समय तक रहने से संसर्ग के कारण यहाँ का अन्धकार तुम्हारे चित्त में भी प्रवेश कर गया है, जिसके कारण तुम्हें स्व-पर का ज्ञान नहीं हो रहा है ।

विमर्श—अँधेरे में भी मनुष्य को अपना-पराया कुछ नहीं सूझता ॥१०६॥

यां हरस्याष्टमीमाहुर्मूर्तिमाहुतिलेहिनीम् ।
तत्सूतिः प्रागभूद्भर्ता परमार इति श्रुतः ॥ १०७ ॥

जिसे साक्षात् शिव की अष्टम मूर्ति—अर्थात् आहुति को चाटने वाली आग कहते हैं, उसी अग्नि के वंश से उत्पन्न समस्त जगत् का स्वामी परमार इस नाम से एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ १०७ ॥

कृतावतारं तद्वंशे वधाय विबुधद्विषाम् ।
किमादिदेवं कंसारिं धिङ्मर्त्य इति मन्यसे ॥ १०८ ॥

उसी वंश में अवतार लेकर दैत्यों का नाश करनेवाले कंस के शत्रु आदिदेव को तू मनुष्य समझता है ? धिक्कार है तुझे !

विमर्श—अर्थात् सिन्धुराज तो साक्षात् विष्णु का अवतार है ॥ १०८ ॥

कमलेव मुकुन्दस्य पार्वतीव पिनाकिनः ।
फणिकन्योचिता पत्नी सा महीमीनलक्ष्मणः ॥ १०९ ॥

जिस भाँति कमला विष्णुपत्नी है, जैसे कि पार्वती शिवपत्नी है, वैसे ही वह नागराजपुत्री भी धरती के कामदेवस्वरूप उस सिन्धुराज की उचित रूप में पत्नी होने योग्य है ॥ १०६ ॥

ता हठेनात्मसात्कर्तुमसुरेन्द्र न शक्यसे ।
न रत्नसूचिमाक्रष्टुमयस्कान्तस्य योग्यता ॥ ११० ॥

हे असुरराज ! तुम जबर्दस्ती उस नागपुत्री को अपनी स्त्री नहीं बना सकते हो । क्योंकि रत्न शलाका को खींचने की शक्ति लोहा खींचने वाले चुम्बक में नहीं होती ॥ ११० ॥

पद पथि निधत्सेऽत्र किमन्यायमलीमसे ।
अपथे चरता यान्ति दूराद्दूरं विभूतय ॥ १११ ॥

तुम अन्यायपंकिल इस मार्ग पर क्यों पैर रख रहे हो ? कुमार्ग पर चलनेवाले लोगों से समृद्धियाँ बहुत दूर हट जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं ॥ १११ ॥

अनर्पणं महीपाले हेमपङ्केरुहस्य यत् ।
तवापरिघमुत्प्रेक्षे तदेव द्वारमापदाम् ॥ ११२ ॥

तुम जो सिन्धुराज को स्वर्णकमल नहीं दे रहे हो तो ज्ञात होता है कि तुम्हारे लिए अब वही आपत्तियों का द्वार हो जायगा, अर्थात् स्वर्णकमल न देकर तुम व्यर्थ आपत्ति मोल ले रहे हो ॥ ११२ ॥

राजेन्द्रदीपके तस्मिन् समराङ्गणवर्तिनि ।
एते भटास्ते न चिरादायास्यन्ति पतङ्गताम् ॥ ११३ ॥

युद्ध के मैदान में आये हुए उस राजेन्द्ररूपी दीप के सामने तुम्हारे ये योद्धा लोग शीघ्र ही पतिंगों की भाँति प्राण खो बैठेंगे ॥ ११३ ॥

तथा विधेहि न यथा त्वदन्त पुरयोषिताम् ।
करपल्लवशय्यासु शेरते वदनेन्दव ॥ ११४ ॥

ऐसा करो, जिससे तुम्हारे रनिवास की स्त्रियों के मुखचन्द्र उनके हाथरूपी शय्या पर न लेटें । अर्थात् उन्हें वैधव्य दुःख के कारण हथेलियों पर मुख धरकर शोक न करना पड़े ॥ ११४ ॥

प्रवृत्तपतिशोकार्तपौरस्त्रीपरिदेवना ।
इयमुत्सन्नसगीता मा भूद्रत्नवती पुरी ॥ ११५ ॥

ऐसा करो, जिससे पतिशोक से भरी पुरनारियों के करुण क्रन्दन से युक्त तुम्हारी यह रत्नवती पुरी सगीतादि विनोद से शून्य न हो जाय ॥ ११५ ॥

देवस्यार्पितहमाब्जस्त्वदेहि पत पादयो ।
शिर पुनन्तु ते कामं पुण्यास्तत्पादपासव ॥ ११६ ॥

तो आओ और सिन्धुराज को स्वयं स्वर्ण-कमल देकर उसके चरणों पर गिरो, जिससे उसके चरणों की धूल तुम्हारे सिर को पवित्र कर सके। ११६ ॥

अथवा सुभटैः सार्धमुत्तिष्ठ पुरतो भव।
समं विद्याधरानीकैरयमायाति भूपतिः॥ ११७ ॥

अथवा तुम्हें ऐसा नहीं करना है तो अपने वीरों के साथ उठ खड़े हो जाओ और युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। यह सिन्धुराज तो विद्याधरी सेना के साथ युद्ध के लिए आ ही रहा है ॥ ११७ ॥

किमन्यत् सममेतेन शिरस्तामरसेन ते।
हेमकोकनदं देवः स्वयमेव ग्रहीष्यति॥ ११८ ॥

और क्या कहूँ, तुम्हारे सिर रूपी कमल के साथ ही स्वामी सिन्धुराज स्वयं ही स्वर्ण-कमल को भी ग्रहण करेंगे ॥ ११८ ॥

रमाङ्गदागमनम्

तमित्युक्त्वा सभामध्यान्निर्जगाम रमाङ्गदः।
निकटं च रणोत्कस्य जगाम जगतीपतेः॥ ११९ ॥

रमाङ्गद का वापस जाना

वज्राङ्कुश से ऐसा कहकर सभा के मध्य से वह रमाङ्गद निकल गया, और रण मचाने के लिए उत्सुक जगत के स्वामी नवसाहसाङ्क के पास पहुँचा ॥ ११९ ॥

अथ वदति शनैः समेत्य तस्मिन् अमररिपोर्वचनानि तानि तानि।
असुरपतिविनाशकालरात्रिं भृकुटीमुवाह मुखेन मालवेन्द्रः॥१२०॥

तब राजा के पास आकर असुरराज वज्रांकुश के उन-उन वचनों को कहते ही असुरपति के विनाश के लिए मालवेन्द्र ने मानो कालरात्रि रूपी भौंहों को चढ़ाया ॥ १२० ॥

गत्वा विद्याधरभटचमूचक्रवालैः समं स
क्ष्मापालोऽथ व्यधित परितस्तत्पुरो रत्नवत्याः।
येन व्यक्तामरजयमहासाहसस्यासुराणां
नाथस्यासीन्नवपरिभवश्यामला वक्त्रलक्ष्मीः॥ १२१ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये कनकारविन्द-
प्रार्थनो नाम षोडशः सर्गः॥ १६ ॥

तब विद्याधर-वीरों की सेना की पंक्तियों के साथ वहाँ आकर पृथ्वीपति नवसाहसाङ्क ने सारी रत्नवती को घेर लिया। जिससे देवताओं पर स्पष्ट रूप से विजय करनेवाले साहसी दानवों के स्वामी उस वज्राङ्कुश के मुख की शोभा कालिमा से युक्त हो गई। उसका मुख भय के कारण काला हो गया ॥ १२१ ॥

मृगाङ्कदत्तपुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्क-
चरित में स्वर्णकमल की प्रार्थना नामक सोल-
हवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशः सर्गः

सत्रहवाँ सर्ग

युद्धवर्णनम्

अथाहिविद्याधरराजसैन्यैर्निपीडितायां पुरि रत्नवत्याम् ।
भटाः सकोपं भुजदर्पभाजो निर्जग्मुराकृष्टकृपाणपट्टाः ॥ १ ॥

युद्ध का वर्णन

इसके पश्चात् नाग एवं विद्याधरराज की सेनाओं से पीडित रत्नवती पुरी में, अपनी भुजाओं पर गर्व करनेवाले, तलवारों को बाहर खींचे हुए योधा लोग गुस्से में भरकर मकानों से बाहर निकल आये ॥ १ ॥

अन्योन्यसंघट्टवशेन तेषाम् उदञ्चिताः काञ्चनकङ्कटेभ्यः ।
युगान्तकालानलबीजशङ्कां न कस्य चक्रुः शिखिनः स्फुलिङ्गाः ॥ २ ॥

उन योद्धाओं के स्वर्ण के अस्त्र जब आपस में एक-दूसरे के साथ परस्पर टक्कर खाते थे, तब उनमें से भयानक अग्नि-कण निकलते थे। उन्हें देखकर किसे प्रलयकालीन अग्नि के बीज की शंका न होती ॥ २ ॥

भालेषु भीमा भृकुटीर्वहन्तो भृङ्गत्विषश्चासिलताः करेषु ।
खुराग्रखुण्णावनिभिः सरोषं निरीयुरन्ये चतुरैस्तुरङ्गैः ॥ ३ ॥

माथे पर टेढ़ी भौंहे चढ़ाये हुए, हाथों पर काली चमचमाती तलवारों को लिए, खुरों से धरती को खोदनेवाले चतुर घोड़ों को लेकर कोई-कोई अति क्रोध में निकले ॥ ३ ॥

न्यभादनीकं करिणां च सान्द्रसिन्दूरपूरारुणगण्डभित्ति ।
प्रत्यग्रदावानललीढकोटिकुलाचलेन्द्रप्रचयोपमेयम् ॥ ४ ॥

तुरन्त के लगाये गये घने सिन्दूर से भरे लाल गण्डस्थलों वाले हाथियों की सेना ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो जंगल की आग द्वारा अभी-अभी जलाये गये श्रेष्ठ पर्वतों का समूह एकत्र हो गया हो ॥ ४ ॥

पुरो रणोत्सेकभृतां निरुद्धम् ओघेन विद्याधरवाहिनीनाम् ।
तत् पुञ्जितं सैन्यममर्त्यशत्रोर्बभूव मूले मणितोरणस्य ॥ ५ ॥

सामने रण के लिये उतावले बने विद्याधर-सेना के समूह ने उस सैन्य को आगे से रोका, तब राक्षस की वह सारी सेना मणितोरण (मुख्यद्वार) के पास आकर एकत्र हो गई ॥ ५ ॥

सारोपमारोपितचापयष्टिर्निबद्धतूणीरयुगो गजस्थ ।
र्मानिजगामाथ महासुरेन्द्रो वेगादहङ्कार इवात्तदेह ॥ ६ ॥

गर्व में भरकर, अपने धनुष पर डोर चढाकर, दोनों कन्धों पर तरकश सँभालकर, हाथी पर बैठकर, वह असुरेन्द्र वज्राकुश साक्षात् अहंकार की मूर्ति बनकर युद्ध के लिए तेजी से निकल पड़ा ॥ ६ ॥

युगात्ययाम्भोधरनादधीरस्तस्योद्गत सद्भरतूर्यघोष ।
उद्धप्रतिश्रुन्नि नितान्तभीमश्चकार पातालबिलोदराणि ॥ ७ ॥

प्रलयकालीन मेघ की भाँति गम्भीर ध्वनि वाला उसकी युद्ध यात्रा का नगाड़ा जोर से बज उठा। उसका नाद बड़ा भयानक था, उसकी ध्वनि से सारा पाताललोक का आसमत गूँज गया और प्रतिध्वनित हुआ ॥ ७ ॥

सत्पुष्करानञ्जनपुञ्जभास पयो जयन्याथ गजानसींश्च ।
व्यापारयन्ति स्म रयेण वीरास्तप्रेरिता वैरिवरूथिनीषु ॥ ८ ॥

सुडौल सुन्दर सूँडअग्रभाग वाले तथा कज्जल की भाँति कृष्ण वर्ण के गजों और तलवारों से युद्धस्थल पर उसके भेजे हुए वीर शत्रुसेना (सिन्धुराज की सेना) पर आक्रमण करने लगे ॥ ८ ॥

परस्परापातिकृपाणनिर्यत्ज्वालावलीपल्लवितान्तरिक्ष ।
अभूत् प्रवृत्त समरो महाहिविद्याधरेन्द्रासुरपुङ्गवानाम् ॥ ९ ॥

एक दूसरे के ऊपर गिरती हुई तलवारों से निकलती हुई अग्निज्वाला से अन्तरिक्ष को आच्छादित करता हुआ श्रेष्ठ नाग विद्याधरराज की सेना से महाबलशाली राक्षसराज की सेना का घोर युद्ध होने लगा ॥ ९ ॥

वीरेषु धावत्सु चरत्स्वमन्द गजेषु वल्गत्सु तुरङ्गमेषु ।
अकालकल्पात्ययशङ्कितानि चकम्पिरे सप्तरसातलानि ॥ १० ॥

जब वीर दौड़ने लगे, हाथी बड़ी तेजी से आक्रमण के लिये इधर उधर चलने लगे, जब घोड़े मचल मचल कर हिनहिनाने लगे, तब अकाल में ही प्रलय की आशंका करने वाले सातों रसातल काँप उठे ॥ १० ॥

प्रकाशयन्त करणप्रपञ्च सुराङ्गनाभि स्पृहयेक्ष्यमाणा ।
अत्यद्भुतम् नृत्तमिवारभन्त भटा रणप्राङ्गणरङ्गमध्ये ॥ ११ ॥

अपने अस्त्र-शस्त्रों के समूह को चमचमाने वाले, देवाङ्गनाओं के द्वारा बड़े चाव से देखे जाते हुए वीर रणप्राङ्गण की रङ्गभूमि पर एक अद्भुत प्रकार का नृत्य जैसा दिखाने लगे ॥ ११ ॥

उत्प्लुत्य वेगात् पवमानमार्गं विद्याधरैर्दानजलाविलानि ।
पटु न्यपातयन्त मतङ्गजाना तीक्ष्णासिपत्रक्रकचै शिरांसि ॥ १२ ॥

विद्याधर-वीरों ने तेजी से आकाश-मार्ग में उछलकर मदभरे हाथियों के गण्डस्थलों को अपनी तलवार की तेज आरों से भली प्रकार काटना शुरू किया ॥ १२ ॥

निपत्य कुम्भेषु महागजानां नीरन्ध्रमुक्तेषु पटु क्वणन्तः ।
भान्ति स्म विद्याधरपुङ्गवानाम् मुक्ताट्टहासा इव खड्गपट्टाः ॥ १३ ॥

घने मुक्ताओं वाले महागजों के माथों पर चोट दे कर जोर से बजते हुए विद्याधरों के खड्ग ऐसे चमचमा रहे थे, मानो हँस रहे हों ॥ १३ ॥

आवर्तितामूर्मिलतायमाननिस्त्रिंशवल्लीवलयाकुलासु ।
प्रपेदिरे पूर्वसुरोज्झितानि चक्राणि विद्याधरवाहिनीषु ॥ १४ ॥

लहरों की तरह बल खाती हुई तलवारों रूपी लताओं के वलय से घिरी हुई विद्याधर-सेनाओं पर पहले दानवों के छोड़े हुए चक्र पड़ रहे थे ॥ १४ ॥

फणावलीष्वापतितोरगाणाम् अफल्गुरत्नोपलकर्कशासु ।
कृपाणधारा मसृणीबभूव महासुराणां न तु सङ्गरेच्छा ॥ १५ ॥

सर्पराजों की सच्चे रत्नों से कठोर बनी हुई मणिपंक्तियों पर पड़नेवाली उन दानवों की तलवारों की धार कुण्ठित हो गई, पर उनकी युद्ध करने की इच्छा कुण्ठित नहीं हुई ।

विमर्श—नागों की फणाओं पर अपनी तलवारों की धार को निष्फल होते देखकर वे वीर उदास और हतोत्साह नहीं हुए, अपितु उनकी युद्ध करने की इच्छा और भी प्रबल होती गयी ॥ १५ ॥

आध्मान्ति पातालतले प्रसस्रुः क्षितौ विलद्वारविनिर्गतानि ।
ज्याशब्दहृष्टासुरसिंहनादतुरङ्गहेषागजबृंहितानि ॥ १६ ॥

धनुष की टंकार, बीच-बीच में जीतने के कारण प्रसन्न हुए दैत्यों की सिंह-गर्जना, घोड़ों के हिनहिनाने और हाथियों की चिग्घाड़—ये सब प्रथम पाताल में ध्वनित हुए और बाद में बिलद्वार से निकलकर धरती पर फैलने लगे ॥ १६ ॥

प्रधावदश्वीयखुराहतानाम् अभ्युद्गतो रत्नभुवां परागः ।
गीर्वाणचापच्छविलाञ्छितानि कृत्स्नानि चक्रे ककुभां मुखानि ॥१७॥

दौड़ते हुए घोड़ों के खुरों से खुदकर उठी हुई रत्नमयी भूमि की रंग-बिरंगी धूल ने समस्त दिशामुखों को इन्द्रधनुष की छवि से सुशोभित कर दिया ॥१७॥

भटास्रपूर्णैः परितो गजानां स्वदानपङ्कोपचितैः पदाङ्कैः ।
भयङ्कराऽभूत्तरुणार्कबिम्बसहस्रकीर्णेव रणाङ्गणोर्वी ॥ १८ ॥

वीरों के अस्रों से पूर्ण, चारों ओर हाथियों के अपने ही मद के कीचड़

वाले पदचिन्हों से रण भूमि रक्तवर्ण के सहस्र सूर्यबिम्बों से मानो व्याप्त होकर भयकर हो गई थी।

विमर्श—रक्तरञ्जित हाथियों के पैरों के चिह्न सूर्यबिम्ब की तरह लग रहे थे ॥ १८ ॥

लूना समूल सुभटासिपत्रैः सहस्रशः शोणितशीकरार्द्राः ।
वत्तालवैवस्वततालवृन्तविच्छित्तिमूहुः करिकर्णताला ॥ १९ ॥

योद्धाओं की तलवारों द्वारा जड़मूल से ही काटे गये अतएव रक्त कणों से आर्द्र हाथियों के हजारों कर्णरूपी तालपत्र वैवस्वत के अति ऊँचे व्यजन (चँवर) की शोभा को धारण करने लगे ॥ १९ ॥

अन्योन्यकृत्ताम्बरमा मदाना नगावपातान्नवरत्नपोऽमे ।
भुजा निपेतुः सममीक्षणेन समौलिरत्ना इव पन्नगेन्द्राः ॥ २० ॥

क्रोध में एक दूसरे के द्वारा काटे हुए, नवीन बालरवि की लालिमा की भाँति लाल नखकान्ति वाले हाथ धरती पर गिर पड़े और फणाओं पर रत्न धारण करने वाले नागराज भी देखते ही देखते शिर रहित होकर धरती पर कट-कट कर गिरने लगे ॥ २० ॥

अङ्गादसिप्रासपृषत्कभिन्नादसृक्प्रवाहेषु भृशं वहत्सु ।
लीलागलद्गैरिकनिर्झराणां राजैर्जगाहे कुलपर्वतानाम् ॥ २१ ॥

तलवार, भाले और बाण हाथियों के शरीरों में घुसकर उन्हें क्षतविक्षत कर रहे थे, जिससे अत्यधिक खून बह रहा था। उस समय वे हाथी ऐसे लग रहे थे, मानो गेरू के झरने जिनपर बह रहे हों, ऐसे ऊँचे-ऊँचे विशाल पहाड़ हों ॥ २१ ॥

क्ष्मायां बभुः खड्गपृथक्कृतानि सहस्रशः शस्त्रभृतां शिरांसि ।
कालेन संग्रामसरोन्तरालाद् उत्खण्डितानीव सरोरुहाणि ॥ २२ ॥

तलवारों से कटकर धरती पर गिरे हुए हजारों शस्त्रधारियों के सिर ऐसे लग रहे थे, मानो कालपुरुष के द्वारा खण्ड खण्ड किये गये कमल संग्राम रूपी तालाब से बाहर फेंके जा रहे हों ॥ २२ ॥

कबन्धकण्ठोच्छलदस्रवन्तः समीपमेत्योपरि कङ्कयूथम् ।
मुहूर्तमिद्धारुणरत्नदण्डम् अदृश्यत च्छत्रमिवान्तकस्य ॥ २३ ॥

शिर विहीन शरीर के गले से निकलते हुए रक्त से सने और समीप में आकर एक के ऊपर पड़ी एक एक लाशों के ढेर पर बैठे गीध थोड़ी देर के लिए ऐसे दिखाई दिये, मानो लाल रत्ननिर्मित दण्ड से युक्त यमराज के कद छत्र हों ॥ २३ ॥

मुक्तैः समूहेन नभश्चराणां कुम्भेषु चक्रैः करिणां पतद्भिः ।
अस्ताचलव्यायतत्रप्रपातिपतद्बिम्बानुकृतिर्वितेने ॥ २४ ॥

विद्याधर-समूह द्वारा छोड़े गये चक्र जब हाथियों के गण्डस्थलों पर आकर गिरने लगे, तब ऐसा लग रहा था, मानो अस्ताचल के विशाल शिखर पर गिरने वाले बहुत से सूर्यमण्डल हों ॥ २४ ॥

पतद्भटं निर्दलिताश्ववारं निकृत्तमत्तेभकरं क्षणेन ।
व्यधायि विद्याधरसैनिकैस्तत् सनागवीरैरसुरेन्द्रसैन्यम् ॥ २५ ॥

विद्याधर-सैनिकों ने नागवीरों के साथ मिलकर राक्षसों की उस सेना के वीरों को मार डाला, घुड़सवारों को नष्ट कर दिया और क्षण भर में मन्दोन्मत्त हाथियों की सूँड़ों को काट कर गिरा दिया ॥ २५ ॥

हंसैरिव स्मेरतटाः समन्तात् परिच्युतैः कुञ्जरकर्णशंखैः ।
वोढुं प्रवृत्ता भवदुत्तरङ्गा झटित्यगाधा रुधिरस्रवन्ती ॥ २६ ॥

हाथियों के गिरे हुए सफेद कर्णशंखों से जिसमें हंसों के कारण शोभित तट की शोभा आ गयी थी, ऐसी तथा उत्तुङ्ग लहरों वाली वह रक्त की नदी उन सबको अपने में समाने के लिए तैयार हो गई ॥ २६ ॥

विद्याधरव्यालभटावलुप्तधैर्येषु नश्यत्सु महासुरेषु ।
विश्वाङ्कुशो नाम सुरारिसूनुरथो रथेनाजिमहीं विवेश ॥ २७ ॥

विद्याधर और नागसेना के वीरों ने जब बड़े-बड़े दैत्यों को मार-मारकर उनका सारा धैर्य ही नष्ट कर दिया, तब राक्षसेन्द्र वज्रांकुश का विश्वाङ्कुश नामक पुत्र रथ पर चढ़कर रणभूमि में आया ॥ २७ ॥

आकर्णकृष्टात् धनुषः पतद्भिर्बालेन्दुलेखाकृतिभिः पृषत्कैः ।
अरातिसैन्ये रणधीरवीरान् भीरूनिवैको विमुखीचकार ॥ २८ ॥

कान तक खींचे गये धनुष से बालचन्द्र की आकृति वाले बाणों के छूटने पर शत्रुसेना में उस अकेले ने ही सब रणधीरों को भीरु बना दिया।

विमर्श—अर्थात् उसके बाणों की चोट खाकर विद्याधर तथा नागों का धैर्य विगलित होने लगा ॥ २८ ॥

तद्वीर्यनिर्वासितसौष्ठवानां विद्याधराणामपतन् करेभ्यः ।
धारामलग्नद्विपकुम्भमुक्ताः सबाष्पलेशा इव खड्गलेखाः ॥ २९ ॥

उसके पराक्रम से पराजित वीरता वाले विद्याधरों के हाथों से धार पर लगी गजमुक्ताओंवाली तलवारें जब धरती पर गिरीं, तो ऐसा दिखाई दिया, मानो वे बड़े-बड़े मोती उनके पराजित होने के आंसू हों ॥ २९ ॥

क्षणाद्दलन्ति स्म तटाहतानि बलानि विद्याधरपन्नगानाम् ।
सरित्पयांसीव निशाकरांशुपूरप्रवृद्धार्णवपीडितानि ॥ ३० ॥

विद्याधर और नागों की सेनायें उसकी मार खाकर पीडित होकर इस

प्रकार भाग खड़ी हो रही थीं, जैसे चन्द्र किरणों के सम्पर्क से बढ़े हुये समुद्र के जल से पीड़ित नदियों का जल ॥ ३० ॥

न शेकतुस्तस्य गतिं निरोद्धुं विद्याधरेन्द्रोरगराजपुत्रौ ।
रत्नाकरस्येव महेन्द्रसह्यावसह्यवेगं प्रलयोत्थितस्य ॥ ३१ ॥

विद्याधरपुत्र शशिखण्ड और नागपुत्र रत्नचूड़ भी उसकी गति को रोकने में उसी भाँति असमर्थ रहे, जैसे प्रलयकालीन समुद्र के बढ़े हुए वेग को रोकने में इन्द्र और सह्याद्रि ॥ ३१ ॥

दोर्दण्डकण्डूतिमथास्य हर्तुम् उद्भ्रूलतं भूपतिना नियुक्तः ।
जगाज्जगामाजिपथं रथेन रमाङ्गदः कुण्टलितोऽस्मचापः ॥ ३२ ॥

तब उस असुर के भुजाओं की खुजली को मिटाने के लिये राजा के द्वारा नियुक्त रमाङ्गद अपना धनुष तान कर शीघ्रता के साथ रणभूमि के मार्ग पर रथ से चल पड़ा ॥ ३२ ॥

तथोपलेभे समरोन्मुखस्य नादेन वृद्धिं शरजन्मनास्य ।
चक्रे पदं बाष्पकणोत्करेण यथा कपोलेष्वसुराङ्गनानाम् ॥ ३३ ॥

इधर युद्धस्थल पर जानेवाले रमाङ्गद के बाणों का आवाज बढ़ी और उधर राक्षसों की स्त्रियों के कपोलों पर आँसुओं की वृद्धि होने लगी ।

विमर्श—अर्थात् उसने आते ही दैत्यों को मारना प्रारम्भ कर दिया, अतः दैत्यस्त्रियाँ वैधव्य दुःख से रोने लगीं ॥ ३३ ॥

दूरात् सुपर्वारिसुतं रथेन स रहसा सम्मुखमापतन्तम् ।
रुरोध स बाणपरम्पराभिर्यशोभटं कर्णमिवेन्द्रसूनुः ॥ ३४ ॥

क्रोध में शीघ्रता से रथ पर बैठे अपनी ओर आते हुए देवताओं के शत्रु वज्राङ्कुश के उस पुत्र को बाणों की वर्षा कर रमाङ्गद ने उसी भाँति रोका जैसे कर्ण को अर्जुन ने ॥ ३४ ॥

विश्वाङ्कुशः सत्कवचे मुमोच वक्षःस्थले हैममथास्य बाणम् ।
तटेऽञ्जनश्यामतनौ महाद्रेः शातह्रदं ज्योतिरिवाम्बुवाहः ॥ ३५ ॥

तब विश्वाङ्कुश ने उस रमाङ्गद के, कवच सहित वक्षस्थल पर सोने का बाण मारा । उस समय ऐसा दिखाई पड़ रहा था, मानो पर्वत के काले अञ्जन के समान कृष्ण वर्ण के तट पर बादल के बीच बिजली का प्रकाश पड़ रहा हो ॥ ३५ ॥

अलक्ष्यसन्धानविमोक्षपातान् यशोभटस्यात्तरुषोऽपि रोपान् ।
मूर्च्छालुठत्सारथिराहताश्वो रथः शशासासुरनन्दनस्य ॥ ३६ ॥

अत्यंत शीघ्रता के कारण जिनका छूटना तक नहीं दिखाई दे रहा था,

यशोमट के ऐसे बाणों की, मूर्च्छा से लोटते हुए सारथी वाले, और मरे हुए घोड़ोंवाले उस राक्षसपुत्र के रथ ने ही प्रशंसा की।

विमर्श—अर्थात् उसके बाणों से सारथी मूर्छित हो गया था, और घोड़े भी मार डाले जा चुके थे, अतः केवल रथ ही उसकी वीरता का साक्षी था ॥ ३६ ॥

विलासकाञ्चीमथकालरात्रेरुद्यत्क्रुधः पद्धतिमन्तकस्य।
मौर्वीं पृषत्केण रमाङ्गदस्य चिच्छेद गीर्वाणरिपोस्तनूजः ॥ ३७ ॥

फिर कालरात्रि (प्रलयरात्रि) की विलासमेखला बनी हुई, क्रोध से युक्त बढ़नेवाले काल की मानो पगडंडी ऐसी उस धनुष की डोरी को देवताओं के शत्रु के पुत्र (विश्वाङ्कुश) ने अपने बाण से काट डाला ॥ ३७ ॥

सन्नाभिबिम्बेन महाजिलक्ष्म्याः वीरश्रियो विभ्रमनूपुरेण।
संरब्धराहोरिव चक्रपाणिः सोऽप्यस्य चक्रेण शिरश्चकर्त ॥ ३८ ॥

महासमर रूपी लक्ष्मी की नाभि के समान और वीरलक्ष्मी के विलास के पैंजनों की भाँति अपने चक्र से रमाङ्गद ने उसका सिर उसी प्रकार काट डाला, जैसे राहु का सिर भगवान् विष्णु ने अपने चक्र से काटा था ॥ ३८ ॥

ननर्त विद्याधरसुन्दरीणां गणो नदन्नूपुरमम्बरेऽथ।
मौलौ शिरःक्षुण्णशिरस्त्ररत्ने चिक्षेप चास्यामरपुष्पवृष्टिम् ॥ ३९ ॥

विद्याधरसुन्दरियों का समूह नूपुरों को झनका-झनकाकर आकाश में नाचने लगा। और बाण से टूटे हुए मस्तक पर के कवच के रत्नवाले रमाङ्गद के सिर पर देवताओं ने पुष्पवृष्टि की ॥ ३९ ॥

दृष्टे शिरस्युत्फलिते स्वसूनोर्दिङ्मूललीनासु पताकिनीषु।
वज्राङ्कुशः सम्मुखमापपात पत्युर्विशामस्तगिरेरिवार्कः ॥ ४० ॥

अपने पुत्र के शिर को कटा हुआ देखकर और अपनी समस्त सेनाओं के भागकर दिशाओं में छिप जाने पर वह वज्रांकुश दैत्य सिन्धुराज के सामने रण-भूमि में उसी प्रकार आया, जैसे अस्ताचल के सामने सूर्य आता है ॥ ४० ॥

मदाम्बुवर्षी समरेऽभिधावन् रेजे गजस्तस्य सहेमकक्षः।
भिन्नेऽन्तराले पवमाननुन्नस्तमालनीलस्तडितेव मेघः ॥ ४१ ॥

मद बर्षानेवाला, स्वर्ण की अम्बारी से सजा, युद्धभूमि में दौड़ता हुआ उसका हाथी बड़ा सुन्दर लग रहा था। मानो नीलमेघ विद्युत से युक्त होकर हवा के झोंकों से इधर-उधर चल रहा हो ॥ ४१ ॥

पत्युः प्रसादग्मितरज्जुकृष्टा भटा विवृत्यास्य पुरो बभूवुः।
स्वजीवितान्याजिमुखे विहातुम् अत्युत्सुका भङ्गमलीमसानि ॥ ४२ ॥

अपने स्वामी की कृपापूर्वक हँसी रूपी डोर में बँधे हुए उसकी सेना के

वीर उसके सामने एकत्र होकर पराजय के कारण मलिन बने अपने जीवन को रणभूमि में त्यागने के लिए उत्सुक हो गये ॥ ४२ ॥

आरुह्य चन्द्र रुमिवाभिरामं नक्षत्रमालाभरणं गजेन्द्रम् ।
देवोऽपि तद्वैरितमो नियन्तुम् अथ प्रतस्थे नवसाहसाङ्कः ॥ ४३ ॥

तारों से भरे नीलाकाश में जिस प्रकार चन्द्रमा तमनाश के लिए उदित होता है, उसी प्रकार देव नवसाहसाङ्क भी अलंकारों से सुशोभित हाथी पर चढ़कर उस वैरि रूपी अन्धकार को रोकने के लिए आगे बढ़े ॥ ४३ ॥

एकत्र पार्श्वे शशिखण्डनामा विद्याधरेन्द्रो नृपतेर्बभूव ।
अरातिसेनानलिनीवनैकशीतांशुरन्यत्र यशोभटश्च ॥ ४४ ॥

राजा के एक ओर विद्याधरराज शशिखण्ड आ डटा और दूसरी ओर शत्रुसेनारूपी कमलिनी के वन को त्रास देनेवाले चन्द्रमा की भाँति रमाङ्गद खड़ा हो गया ॥ ४४ ॥

स्फुरत्फणामण्डलमणिप्रतानतेजश्छटाजर्जरितान्धकारः ।
अफल्गुवीर्यः फणभृत्कुमारोऽप्यमेऽभवत् तस्य स रत्नचूडः ॥ ४५ ॥

देदीप्यमान फणा में स्थित मणिप्रभा के विस्तार से अन्धकार-समूह का नाश करनेवाला, सफल पराक्रम वाला, नागराजपुत्र रत्नचूड भी राजा के आगे हो गया ॥ ४५ ॥

विधूतनिस्त्रिंशतरङ्गितानि सबाणचक्रीकृतकार्मुकानि ।
हतावशेषाणि पुरोऽस्य चेलुर्बलानि विद्याधरपन्नगानाम् ॥ ४६ ॥

लपलपाती तलवारों की चमचमाती लहर वाली, विद्याधरों की और नागों की अवशिष्ट सेना भी उसके आगे चली ॥ ४६ ॥

रक्तासवक्षीवसहस्रतालवेतालतालोच्छलिताट्टहासः ।
महाभटानामसुनिर्व्यपेक्षम् अन्योन्यमावर्तत सम्परायः ॥ ४७ ॥

रक्त की मदिरा पान करके मदमत्त जैसे वेताल जहाँ हाथ की तालियाँ बजा-बजाकर अट्टहास कर रहे थे, उस स्थल पर प्राणों की चिन्ता छोड़कर आपस में दोनों ओर के वीरों का युद्ध होने लगा ॥ ४७ ॥

चकाशिरे शस्त्रभृतां शिरःसु मिथः पतन्त्यः करवालवल्ल्यः ।
मुक्ताः सलीलं त्रिदशाङ्गनाभिर्माला इवेन्दीवरपत्रमय्यः ॥ ४८ ॥

अस्त्रधारी उन वीरों के सिरों पर चोट करती हुई एक-दूसरे की तलवारें चमकने लगीं। मानो देवस्त्रियों द्वारा उन पर डाली गई कमलपत्रों की मालायें हों ॥ ४८ ॥

वेपाग्निदूहः कवचानि शोभां कचित् कचिल्लोहितपाटलानि ।
रोलम्बजयश्रीचरणारविन्दलाक्षारसेनेव नवाङ्कितानि ॥ ४९ ॥

किन्हीं-किन्हीं के कहीं-कहीं पर लाल और मटमैले रंग के कवचों ने ऐसी शोभा धारण की, मानो रणभूमि में खेलनेवाली विजयलक्ष्मी के चरण-कमलों पर लगे हुए अलते से वे चिह्नित कर दिये गये हों ॥ ४६ ॥

हृदि प्रविष्टैरविशुद्धिमद्भिरभूद्व्यथा कापि शरैः परेषाम् ।
दुरात्मनां साधुगुणैरिवाग्रे फलेन संयोगमुपेयिवद्भिः ॥ ५० ॥

हृदय में घुसे हुए, अपवित्र, और अग्रभाग से वेधने वाले शत्रुओं के बाणों से इस प्रकार की पीड़ा उन्हें होने लगी, जैसे हृदय पर चुभे फल से युक्त होनेवाले सज्जनों के वचनों से दुरात्माओं को पीड़ा होती है ॥ ५० ॥

परस्पराघातजुषामसीनां धाराच्युतः संयति चूर्णरेणुः ।
अवाप तापिच्छरुचिर्जयश्रीविलासकालाञ्जनधूलिलीलाम् ॥ ५१ ॥

परस्पर चोट करते समय आपस में गुँथी हुई तलवारों के परस्पर घर्षण से, उनकी धारों से गिरी धूल ने विजयलक्ष्मी के लिये विलासकालीन कृष्णाञ्जन का काम किया ॥ ५१ ॥

पर्यायजातोभयसैन्यभङ्गकरालकोलाहलकातराणाम् ।
सुरारिविद्याधरसुन्दरीणां दोलेव शोकप्रमदावभूताम् ॥ ५२ ॥

एक बार राक्षसवीरों की विजय होती थी, एक बार सिन्धुराज के वीरों की इस तरह बारी-बारी से दोनों सेनाओं की पराजय के कारण भयानक कोलाहल से डरी हुई राक्षसों की स्त्रियाँ और विद्याधरों की सुन्दरियाँ—दोनों के लिए शोक और हर्ष झूले का काम करने लगे ।

विमर्श—अर्थात् एक पक्ष को एक बार हर्ष होता था, उस समय दूसरे पक्ष वाली स्त्रियों को खेद, फिर दूसरी बार जब प्रथम पक्ष को शोक होता तो दूसरे पक्ष को हर्ष ॥ ५२ ॥

अथासुरेन्द्रद्विरदेन वेगाद्
अभ्युत्थितेनोद्गतदानधारम् ।
मध्येरणं मध्यमलोकभर्तु-
र्जैवातृमदान्धो जघटे गजेन्द्रः ॥ ५३ ॥

तब राक्षसेन्द्र वज्राङ्कुश के आगे बढ़े हुए हाथी ने शीघ्रता से मद बहाते हुए सिन्धुराज के मदोन्मत्त हाथी पर वेग से प्रहार किया ॥ ५३ ॥

महेभयोस्तत्र शिखाच्छलेन प्रतिप्रहारं रदजः कृशानुः ।
कोशेषु विद्युत्कपिशा मुहूर्तं व्यधादिवाष्टापदपत्रवल्लीः ॥ ५४ ॥

दोनों हाथियों के दांतों पर जब-जब परस्पर का प्रहार होता था, उस समय ज्वालाओं के रूप में दांतों से निकली अग्नि ऐसी दिखाई देती,

मानो तलवार के म्यानों के ऊपर बिजली के समान पीत वर्णवाले स्वर्णपत्र जड़ दिये गये हों ॥ ५४ ॥

मुहुः प्रजानामधिपेन गाढम् आकृष्यमाणस्य शरासनस्य ।
द्विषद्वधारम्भविधौ गभीरः झेङ्कारहुङ्कार इवोच्चचार ॥ ५५ ॥

तब प्रजा के स्वामी सिन्धुराज के जोर से खींचे हुए, शत्रुनाश के विधान में चतुर धनुष की आवाज ऐसी ही पैली, जैसी भभक की भकार हो ।

विमर्श—शत्रुओं के नाशकार्य में वह सिन्धुराज जब जब पुनः पुनः बाण चढ़ाने के लिए धनुष को चढ़ाता था, तब-तब अत्यत गभीर आक्रोश तथा हुंकार का शब्द होता था ॥ ५५ ॥

परिस्फुरत्कुण्डलघृष्टपुङ्खास्तेन प्रयुक्ता पृथुविक्रमेण ।
प्रमृष्टका ताकुचपत्रलेखे लेखारिवक्षस्यपतन् पृषत्का ॥ ५६ ॥

कान तक धनुष खींचते समय अपने अग्रभाग से चमचमानेवाले कुण्डलों के साथ रगड़ खाने वाले, महावीर उस राजा के छोड़े हुए बाण, गाढालिङ्गन से कान्ता के कुचों की पत्ररचना को मिटाने वाले अतएव उस पत्रलेख के शत्रुभूत शत्रु के वक्षःस्थल पर पड़ने लगे ॥ ५६ ॥

अरातिमुक्तेषु ततस्तनुत्रात् वह्निस्फुलिङ्गेषु समुल्लसत्सु ।
मूर्तिर्बभासे वसुधाधिपस्य निर्यत्प्रतापाग्निकणान्छदेव ॥ ५७ ॥

शत्रु द्वारा छोड़े गये बाणों के प्रहार से कवच में से निकलते हुए देदीप्यमान अग्निकणों से राजा का शरीर ऐसा लग रहा था, मानो उससे प्रताप के अग्निकण निकल रहे हों ॥ ५७ ॥

हिरण्मयी पार्थिवबाणपङ्क्तिरत्युन्नते मूर्ध्नि महासुरस्य ।
रेजेतरामञ्जनपर्वतस्य शृङ्गेव तिग्मांशुमयूखमाला ॥ ५८ ॥

सिन्धुराज के सुनहले बाणों की पंक्ति उस राक्षस के ऊँचे सिर पर पड़कर अत्यंत शोभित हुई, मानो काले अञ्जन के पहाड़ की चोटी पर सुशोभित सूर्यकिरणों की माला हो ॥ ५८ ॥

अभ्युद्गता भर्तुररातिबाणक्षुण्णेन्द्रनीलाङ्गदरेणुराजिः ।
अदृश्यतोद्दामभुजास्पदस्य पराक्रमाग्नेरिव धूमलेखा ॥ ५९ ॥

शत्रु (वज्राङ्कुश) के बाणों से तोड़े गये राजा के नील बाजूबंदों से जो धूल निकली, वह ऐसी लग रही थी, मानो उद्दण्ड भुजाओं में रहने वाली पराक्रम की अग्नि से धूमरेखा निकल रही है ॥ ५९ ॥

रमाङ्गदोऽप्युद्गतत्रुटि कृतास्त्र वीरद्विप पार्श्वगत निहत्य ।
शरैरलावीज्जयवैजयन्तीं ज्योत्स्नासिता कीर्तिमिवासुरस्य ॥ ६० ॥

रमाङ्गद ने भी भौंहें तानकर शत्रु के समीपवर्ती अस्त्रधारी वीर को मारकर अपने बाणों से वज्रांकुश के रथ की चाँदनी की भाँति श्वेत ध्वजा को उसकी धवल कीर्ति की भाँति काटकर फेंक दिया।

विमर्श—अर्थात् उसने उस रथपताका को काटकर क्या गिराया, मानो दैत्यराज की श्वेत कीर्ति को ही काट डाला ॥ ६० ॥

अधःस्थितोद्गामरवैरिपत्तिमुक्तेपुनिर्लूनशरासनज्यः ।
चिक्षेप चक्राण्यतिदीर्घवाहुः स कालरात्रेरिव कङ्कणानि ॥ ६१ ॥

नीचे स्थित वैरी के सैनिकों द्वारा ऊपर छोड़े गये बाणों से जब उसके धनुष की डोरी कट गयी, तब उस दीर्घ बाहु वाले ने कालरात्री (चण्डी) के कंगन की भाँति चक्रों को फेंका ॥ ६१ ॥

उत्प्लुत्य हेलाहतसम्मुखारिर्विद्याधरेन्द्रोऽप्यसिना चकर्त ।
जगज्जयस्तम्भमिवोद्धुरस्य सुरद्विपः काञ्चनकेतुदण्डम् ॥ ६२ ॥

खेल-खेल में जिसने सम्मुख स्थित शत्रुओं का नाश कर दिया था, ऐसे उस विद्याधरराज ने उछल कर सर्वश्रेष्ठ राक्षसेन्द्र की जगविजय की प्रतीक ध्वजा के स्वर्णदण्ड को तलवार से काट डाला ॥ ६२ ॥

स रत्नचूडोऽपि तथा भुशुण्ड्या पिपेप वैरीद्विपकुम्भपीठम् ।
सितातपत्रत्वमुदञ्चदाप यथास्य मुक्ताफलधूलिजालम् ॥ ६३ ॥

उस रत्नचूड ने भी बन्दूक से वैरी के हाथी के गण्डस्थलों को इस प्रकार पीस डाला कि उनपर लगे गजमुक्ताओं की धूल के गुबार उड़कर श्वेत छत्र की भाँति यत्र-तत्र फैल गये ॥ ६३ ॥

तुङ्गं दधत् कर्कशतामभीकः श्रीसिन्धुराजद्विपकुम्भयुग्मम् ।
पयोधरद्वन्द्वमिवाजिलक्ष्म्याश्चक्रेऽर्धचन्द्राङ्कितमिन्द्रशत्रुः ॥ ६४ ॥

ऊँचे और कठोरता को धारण करने वाले, श्री सिन्धुराज के हाथी के गण्डस्थलों को उस निर्भीक इन्द्रशत्रु (राक्षस) ने बाणों से ऐसा बिध दिया, मानो रणकामिनी के ऊँचे और कठोर कुचों को अर्धचन्द्राकार नखों से चिन्हित कर दिया हो ॥ ६४ ॥

परस्पराघट्टितदन्तकोटिभ्रष्टाग्निवेशभ्रममादधन्ति ।
रणाजिरे लोहितरञ्जितानि विरेजिरे कुञ्जरमौक्तिकानि ॥ ६५ ॥

खून से सने अतएव रक्त वर्ण के, रणभूमि में बिखरे गजमाणिक ऐसे दिखाई दे रहे थे, मानो हाथियों के परस्पर गुँथे हुए तथा आघात करनेवाले दाँतों के अग्रभाग से छितराये हुए अग्निकण हों ॥ ६५ ॥

चिक्षेप पृथ्वीतिलके सुरारिर्यां यामिषुं कोपकपायिताक्षः ।
तां तां जयाशामिव बाहुशाली शरैः स तस्यार्धपथे लुलाव ॥ ६६ ॥

क्रोध से भरी लाल-लाल आँखों वाले वज्राङ्कुश राक्षस ने जो जो बाण जिस जिस विषय की आशा से सिन्धुराज पर फेंके, उस बाहुशाली (बली) सिन्धुराज ने उन सब बाणों को उन-उन आशाओं सहित अपने बाणों से आधे रास्ते में ही काट डाला ॥ ६६ ॥

तयोस्तथेष्वासपरप्रकर्षप्रत्युक्तकर्णार्जुनयोर्जयश्री ।
मुनेलरत्नाकरयोरुदग्रा चकार वेलेव गतागतानि ॥ ६७ ॥

कर्ण और अर्जुन की भाँति परस्पर बाण चलाने का प्रकर्ष दिखाने वाले उन दोनों के बीच जयलक्ष्मी उसी भाँति कभी इधर और कभी उधर गमना गमन करने लगी, जैसे सुवेल पर्वत और समुद्र के बीच भीषण समुद्र की लहरें आती जाती रहती हैं ।

विमर्श—प्रतीत होता था—अब वज्राङ्कुश विजयी हुआ, और फिर ज्ञात होता था कि सिन्धुराज विजयी हुआ ॥ ६७ ॥

पत्युः प्रजानाममुरेश्वरोऽथ किरीटमाणिक्यचयं जहार ।
मणिप्रसूनस्तबकप्रतानं कल्पद्रुमस्येव युगान्तवातः ॥ ६८ ॥

उस असुर ने प्रजापति सिन्धुराज के मुकुटमणियों के समूह को उसी भाँति हरण कर लिया, जिस भाँति युगान्तवायु कल्पद्रुम के मणिमय फूलों के गुच्छों को हर लेता है ॥ ६८ ॥

क्रोधादथार्धशशलाञ्छनसोदरेण बाणेन वासवरिपोर्नवसाहसाङ्कः ।
चिच्छेद राम इव निभवसः सुतस्य पीनांसलोलमणिकुण्डलमुत्तमाङ्गम् ॥६९॥

तब क्रोध में भरकर सिन्धुराज ने अर्धचन्द्राकार बाण से उस असुर वज्राङ्कुश के मोटी गर्दन वाले और मणिकुण्डलों से युक्त सिर को उसी भाँति काट गिराया, जैसे श्रीराम ने रावण के परिपुष्ट और मणिकुण्डलों से युक्त सिर को काट गिराया था ॥ ६९ ॥

आसन् मुखानि ककुभामभितोऽथ चित्रवादित्रनादलहरीमुखरोदराणि ।
देवस्य च त्रिदिवपुष्पमयं पपात माल्यं शिरस्यसुरवैरिपुरन्ध्रिमुक्तम् ॥७०॥

तब सभी दिशामुख चारों ओर से विचित्र वाद्यों की ध्वनियों से गूँज उठे और देव श्री नवसाहसाङ्क सिन्धुराज के सिर पर दानवों के शत्रुओं अर्थात् देवताओं की स्त्रियों ने पारिजात पुष्पों की मालायें चढ़ाईं ॥ ७० ॥

लक्ष्मीपतेः पृथुभुजद्वयमार्द्रसान्द्रज्याघातलाञ्छितमलाञ्छितविक्रमस्य ।
अस्यादरागतजितोर्जितवीरलक्ष्मीपादाञ्जयावककनिपत्त्रमिवाऽचकाशे ॥७१॥

पराक्रम को कलंकित न होने देने वाले सिन्धुराज के ताजे और घने धनुष की डोरी के घट्टों से युक्त दोनों भुजायें ऐसी दिखाई दे रही थीं, मानो

अत्यन्त आदर से स्वयं आई हुई पराक्रम से जीती हुई वैरी की लक्ष्मी के अलते से रंगे हुए चरण-कमलों के चिन्हों से अंकित हों ॥ ७१ ॥

तस्याग्रतः कनककुण्डलताड्यमानगण्डस्थलीलुलितकुङ्कुमपत्रलेखाः ।
विद्याधरोरगकुरङ्गदृशः प्रमोदसान्द्रोच्छलध्वनि जगुर्जयमङ्गलानि ॥७२॥

तब सिन्धुराज के सामने ही स्वर्णकुण्डलों से रगड़ खाने के कारण मिटी हुई पत्ररचना से युक्त कपोलों वाली, विद्याधर और नागों की मृगनयनी नारियों ने आनन्द में आकर अत्यन्त उच्च स्वर वाली ध्वनि में उसकी जय के मंगल-गीत गाये ॥ ७२ ॥

स्मित्वा यशोभटकरार्पितचापयष्टिरुन्मुक्तरत्नकवचः खचरेश्वरेण ।
उद्भिन्नमौक्तिकनिभश्रमवारिबिंदु देवो ऽमार्ज मुखमंशुकपल्लवेन ॥ ७३ ॥

हँसकर यशोभट (रमाङ्गद) के हाथ में धनुष देकर, विद्याधरराज के द्वारा कवच खोले जाने पर देव सिन्धुराज ने मोतियों की भाँति उभरे हुए पसीने के कणों से भरे मुख को अपने दुपट्टे से पोंछा ॥ ७३ ॥

दत्ताभयोपनतपौरशतार्प्यमाणरत्नोपधामथ स रत्नवतीं प्रविश्य ।
तं संयुगस्फुटपरीक्षितशौर्यसारं राज्ये रिपोः फणिकुमारकमभ्यषिञ्चत् ।७४॥

फिर सिन्धुराज ने रत्नवती पुरी में प्रवेश करके, अभयदान देकर एकत्र हुए पुरवासियों से सैकड़ों प्रकार के रत्नों की भेंट ग्रहण कर लेने के बाद, युद्ध में जिसके पराक्रम की भली भाँति परीक्षा हो चुकी थी, ऐसे उस नागराजपुत्र रत्न-चूड का उस रत्नवती के राजपद पर अभिषेक किया ॥ ७४ ॥

मूर्तं मनोरथमिवोपवनात् सकन्दम्,
आदाय तत् कनककोकनदं नरेन्द्रः ।
आदातुमीप्सितमहीन्द्रसुतेति रत्नम्
अभ्युत्सुकस्तदनु भोगवतीं प्रतस्थे ॥ ७५ ॥

इतना सब करने के पश्चात्, अपने प्रत्यक्ष शरीरधारी मनोरथ के समान राक्षस के बगीचे से जड़ सहित उस स्वर्णकमल को लेकर फिर उसके द्वारा इच्छित अद्वितीय रत्न 'फणिराजकन्या' को ग्रहण करने के लिए अति उत्सुकता के साथ सिन्धुराज नागों की राजधानी भोगवती नगरी की ओर चल पड़ा ॥ ७५ ॥

देवः साहसिकोप्यमन्दमुरजध्वानानुमेयोत्सवाम् ।
उन्नम्रैः परितो महीं मणिगृहैरुत्तम्भयन्तीमिव ।
तामत्युन्नतरत्नतोरणशिखाप्रेङ्खोलमुक्ताफल-
प्रालम्बोच्छलदच्छकान्तिनिकरैरभिरामवापन् पुरीम् ॥ ७६ ॥

मृदङ्ग की ध्वनि से जहाँ उत्सव की सूचना मिल रही थी, ऊँचे मणि-मन्दिरों से जहाँ की धरती चमचमा रही थी, अत्यन्त ऊँचे रत्नजटित द्वारों के ऊपर झूलते हुए मोतियों के गुच्छों की स्वच्छ कान्ति किरणों के रूप में जो मानो हँस रही थी ऐसी भोगवती पुरी में सिन्धुराज ने प्रवेश किया ॥ ७६ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य
कृतौ नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये हेम कमल-
हरणो नाम सप्तदश सर्ग ॥ १७ ॥

अथाष्टादशः सर्गः

अठारहवाँ सर्ग

फणिराजदर्शनम्

तं विष्टपत्रितयकण्टकदृष्टसारम् अभ्यागतं नृपतिमुद्गतगाढहर्षः ।
प्रत्युद्ययावधिपतिः फणिनामनर्घरत्नार्घपाणिरशनैरथ शङ्खपालः ॥ १ ॥

फणिराज से मिलन

तीनों लोकों का कांटा बने हुए वज्राङ्कुश को मार कर जिसका बल देख लिया गया था, अतिथि रूप में आए हुए उस राजा को देखकर अत्यन्त हर्ष के साथ नागराज शङ्खपाल बहुमूल्य रत्नों का अर्घ्य लेकर उसकी अगवानी के लिए आया ॥ १ ॥

पुरप्रवेशः

आदाय सादरफणीश्वरदत्तमर्घ्यम् आर्यैः सतां स वहिरेव निवेश्य सैन्यम् ।
देवोऽविशद्विनयवान् पुरमग्र्यायिविद्याधराधिपरमाङ्गदरत्नचूडः ॥ २ ॥

नगरप्रवेश

सज्जनों के माननीय विनयी सिन्धुराज ने नागराज के द्वारा किये गये आतिथ्य को स्वीकार कर, नगर के बाहर ही अपनी सेना को ठहराकर विद्याधर-राज, रमाङ्गद और रत्नचूड के साथ फणिराजनगरी भोगवती में प्रवेश किया ॥ २ ॥

उत्सृज्य गीतमसमाप्य विलासलास्यम् अङ्कादपास्य सहसा मणिवल्लकीं च ।
अत्युन्मनास्तदवलोकनकौतुकेन वातायनान्यधिरुरोह पुरन्ध्रिलोकः ॥ ३ ॥

गाते-गाते एकदम गाना छोड़कर, विलासक्रीडा को त्यागकर गोद से सहसा मणिमण्डित वीणा को हटाकर उस राजा को देखने की उत्सुकता से उतावली बनी स्त्रियाँ झरोखों तथा खिड़कियों पर आ डटीं ॥ ३ ॥

उत्क्षिप्य वेपथुमता करपल्लवेन वातायनाग्रमणिमौक्तिकजालकानि ।
स्मित्वैकया स विलसन्मकरावचूललीलालवाञ्चितविलोचनमालुलोके ॥ ४ ॥

किसी स्त्री ने काँपते हुए हाथ से झरोखे पर लटकते हुए मणि और मोतियों की झालरों को हटाकर, हँस-हँसकर, कामभावना से युक्त होकर विलासपूर्ण नेत्रों से उसे देखा ॥ ४ ॥

उद्यद्विवृत्तकरवेणिकया नृपेन्दौ तस्मिन् स्मरोल्लसिततुम्भिकया कयाचित्।
मुक्ता मुहुर्विबुधसिन्धुकलिन्दकन्याकिर्मीरवारिलहरीसुहृद कटाक्षाः ॥५॥

किसी रमणी ने घूम कर हाथ पर वेणी धारण करके, कामभावना से परिपूर्ण होकर उस नृपति के ऊपर अपनी चञ्चल कबुरे रंग की दृष्टि का कटाक्षपात किया, मानो गंगा यमुना की मिश्रित चञ्चल लहरें हों ॥५॥

वाचालरत्नवलया सविलासमस्मिन् निक्षिप्य कापि नवमौक्तिकजालमुष्टिम्।
स्कन्धाहितामततपार्थिवदत्तदृष्टिर्दीर्घेक्षणा किमिव न त्रपया चकार ॥ ६ ॥

बजने हुए कंगनवाली किसी स्त्री ने मस्त होकर उसके ऊपर नवीन मोतियों की मुट्ठी भरकर फेंकी। कन्धे पर उनकी चोट खाकर राजा ने जब ऊपर देखा तो उस बेचारी ने लज्जा के कारण क्या क्या नहीं किया, अर्थात् वह शर्म के कारण गड़ी जा रही थी ॥ ६ ॥

वक्षो दधानममराद्रिशिलाविशालम् आजानुबाहुमवलोक्य नरेन्द्रचन्द्रम्।
चित्तोपनीतपरिरम्भसुखातिसान्द्रम् अन्या पयोधरभरे पुलकं बभार ॥ ७ ॥

सुमेरु पर्वत की शिला के समान विशाल वक्षःस्थल को धारण करनेवाले, घुटनों तक लम्बी भुजाओं वाले उस राजचन्द्र नवसाहसाङ्क को देखकर अपने हृदय में उसके गाढ़ालिङ्गन के सुख का अति आनन्द लेनेवाली किसी स्त्री के स्तन रोमाञ्चित हो उठे ॥ ७ ॥

आलोक्य दर्पणतले प्रतिमागतं तं आप्तो मयैष इति कापि कृतोत्सवाऽभूत्।
मुग्धा गतेऽथ पुरतोऽत्र तदीयबिम्बे शून्यात्मदर्शनविधुरेन्दुमुखी बभूव ॥८॥

उस राजा की परछाईं दर्पण पर पड़ी हुई देख "मैंने इसे पा लिया" ऐसा समझ कर कोई स्त्री बड़ा आनन्द मनाने लगी, पर जैसे ही दर्पण से उसका प्रतिबिम्ब हटा तो अपने को अकेली पाकर वह चन्द्रमुखी बेचारी अत्यन्त दुःखी हो गई ॥ ८ ॥

इत्यापतन्मदनबाणपरम्पराणाम् उन्मीलिताङ्गवलनश्लथमेखलानाम्।
एणीदृशां विचरति स्म स राजहंसः पारोल्लसन्नवरसोर्मिषु मानसेषु ॥ ९ ॥

इस प्रकार जिनके कामबाणों की परम्परा के आघात उस पर हो रहे थे, ऐसी अँगड़ाई लेने के कारण ढीली मेखलाओं वाली उस हरिणलोचनाओं को नवीन रसों की लहरों से भरे मन रूपी सरोवरों में वह राजहंस (राजा) विचरण करने लगा ॥ ९ ॥

नायकवर्णनम्

सङ्गीतवेश्मनि फणीश्वरचारणानां गीतेष्वजस्रमिह शुश्रुम यद्यशांसि।
यातः स एव नयनातिथितामयं नः पुण्यैरहो वत नृपो नवसाहसाङ्कः ॥१०॥

नायक का वर्णन

लोग कह रहे थे कि नागराज के चारणों (भाटों) के संगीत-गृहों में गीतों में हम लोगों ने जिसका महान् यश सुना था, बड़े-बड़े पुण्यभाग्य के कारण आज वही नवसाहसाङ्क नृपति हमारी आँखों के सामने भी आ गया ॥ १० ॥

कान्तिच्छटाच्छुरितदिक्तट एष देवो जीयाज्जगन्ति परमारकुलप्रदीपः ।
उन्मूल्य सम्प्रति सुरारितमः समूलं येनाहिविष्टपतले विहितः प्रकाशः ॥११॥

अपनी कान्ति की छटा से चारों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला यह परमारवंश का दीपक चिर काल तक प्रज्वलित होता रहे (जीवित रहे), जिसने वज्राङ्कुश राक्षसरूपी अन्धकार को नष्ट करके नागलोक को प्रकाश-पूर्ण अर्थात् दुःख: रहित बना दिया ॥ ११ ॥

हन्तैष पन्नगपतेरतुलप्रतिज्ञाप्राग्भारसागरसमुत्तरणैकपोतः ।
उत्पाकमेष च फलं फणिराजकन्या चित्ते चिरं कृतपदस्य मनोरथस्य ।१२।

बड़े हर्ष की बात है कि फणिराज की भीषण प्रतिज्ञा के भार रूपी समुद्र को पार करने के लिये यह जहाज सा बन गया । यह तो नागराजपुत्री के चित्त में चिरकाल से अपना घर बनानेवाले मनोरथ के परिपक्व फलरूप में ही मिला है ॥ १२ ॥

एतद्यशोभटकरे कनकाम्बुजं तत् लीलावतंसमचिराद्विरचय्य येन ।
प्रत्यग्रकल्पतरुपल्लवमेष पाणिम् आदास्यते नृपतिरद्य शशिप्रभायाः ॥१३॥

(यह देखो) यह रमाङ्गद के हाथ में वही स्वर्णकमल है, जिसे शीघ्र ही कनफूल बनाकर यह नृपति, नये उगे हुए कल्पतरु के पत्ते के समान कोमल शशिप्रभा के हाथ को ग्रहण करेगा अर्थात् उसके साथ पाणिग्रहण करेगा ॥ १३ ॥

हाटकेश्वरदर्शनम्

सान्द्रानुरागपिशुनः परशुः परेषाम्
आकर्णयन्निति स पौरजनस्य वाचः ।
श्री हाटकेश्वर इति प्रथितस्य तुङ्गम्
अग्रे ददर्श मणिमन्दिरमिन्दुमौलेः ॥ १४ ॥

हाटकेश्वर महादेव का दर्शन

घने प्रेम के सूचक पुरवासियों के वचनों को, शत्रुओं के लिये कुठार स्वरूप उस राजा ने सुना । बाद में उसने हाटकेश्वर नाम से प्रसिद्ध शिव के मणिनिर्मित ऊँचे मन्दिर को सामने ही देखा ॥ १४ ॥

तत्र प्रविश्य स कृतानतिरादिदेवम् आनर्च कल्पविटपिप्रभवैः प्रसूनैः ।
स्तोतुं कृताञ्जलिपुटः कुटजावदातदन्तांशुपल्लवितवागुपचक्रमे सः ॥१५॥

उस मन्दिर में प्रवेश करके, झुककर प्रणाम करके कल्पतरु के फूलों से उसने आदिदेव शिव की पूजा की। पुन हाथ जोड़कर स्तुति करने के लिए उसने कुटज पुष्पों की भाँति श्वेत दन्त किरणों से शोभित वचन कहना प्रारम्भ किया ॥ १५ ॥

हाटकेश्वरस्तुतिः

अन्तर्जटापिहितसोमसुरापगाय।
प्रच्छन्नपञ्चशरशासनलोचनाय।
तीव्रव्रतग्लपितशैलसुतास्वरूप
विज्ञाननर्मपटवे बटवे नमस्ते ॥ १६ ॥

हाटकेश्वर की स्तुति

अपनी जटा के भीतर चन्द्रमा और गङ्गा को छिपाकर रखनेवाले, छिपे हुए कामदेव के लिए दण्डस्वरूप है तृतीय नेत्र जिनका ऐसे तथा घोर व्रत धारण कर शरीर को गला देनेवाली पर्वतराजपुत्री (पार्वती) के द्वारा वास्तविक रूप में ज्ञात किये गये एवं पार्वती के साथ रतिक्रीडा करने में पटु ब्रह्मचारी बने हुए शिव जी को नमस्कार है ॥ १६ ॥

अत्यादरानतसुरासुरमौलिरत्ननानामरीचिविरचिताङ्घ्रिसरोरुहाय।
देहार्धगतिगिरिजाविहिताभ्यसूयसन्ध्याप्रणामविषमाञ्जलये नमस्ते ॥ १७॥

अत्यन्त आदर के साथ नतमस्तक देव एवं दानवों के सिरों पर लगे रत्नों की नाना प्रकार की किरणों से सुशोभित चरणकमल वाले, तथा शरीर के अर्ध भाग में स्थित पार्वती के साथ ईर्ष्या करनेवाली सन्ध्या से नमस्कार किये जाते हुए उन शिव को प्रणाम हो ॥ १७ ॥

नीरन्ध्रसिन्धुजलसिक्तकपालमुक्तरत्नाङ्कुरस्य करणीं विधुरातनोति।
सोऽसौ सदैव भवता भवभेदकतुनिर्दग्धभास्करमहाय नमोऽस्तु तस्मै ॥१८॥

सृष्टि का संहार करने वाले जिस आप के सिर पर पातालगङ्गा के सान्द्र जल में सिक्त कपाल से छिटकनेवाली कान्ति को चन्द्रमा धारण करता है, सूर्य के तेज को भी जीतनेवाले ऐसे आप शिव को नमस्कार है ॥ १८ ॥

कन्दर्पदर्पशमनाय मृत्युञ्जयाय कर्त्रे शुभस्य भुजगाधिपवेष्टनाय।
उर्वी मरुद् रवि निशाकर वह्नि तोय याज्याम्बरोज्ज्वलवपुषे सुपुत्रे नमस्ते ॥१९॥

जो काम के गर्व को नाश करनेवाला है, मृत्युञ्जयी है, कल्याण करनेवाला है, नागराज से घिरा हुआ है, और धरती, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, जल, हवनीय द्रव्य और आकाश को जिसने अपने शरीर में धारण किया है, उस शिव को नमस्कार है ॥ १९ ॥

नीरन्ध्रभूतिधवलाय गजेन्द्रकृत्तिसंवीतदेहकवलीकृतपन्नगाय ।
निर्दग्धदानवकुलाय विपत्क्षयैककार्याय कारणनुताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥२०॥

सान्द्र भस्म से श्वेत बने हुए, गजराज की खाल से युक्त जिसकी देह को सांपों ने घेर रखा है, जिसने राक्षसकुलों को नष्ट किया है, जो विपत्ति का नष्ट करने के लिए स्वयं ही कार्य-कारण बना है, उस शिव को नमस्कार है ॥२०॥

ते ते यमेव किल वाङ्मयसागरस्य पारं गताः प्रणवमात्मविदो वदन्ति
तस्मै समाहितमहर्षिविनिद्रहृद्यहृत्पुण्डरीकविहितस्थितये नमस्ते ॥ २१ ॥

आत्मतत्त्व को जानने वाले, वाणीरूपी सागर को पार करनेवाले बड़े-बड़े योगी भी जिसे प्रणव (ब्रह्म) बताते हैं, और ध्यानावस्थित महर्षि लोग अपने विकसित निर्मल हृदय-कमल में जिसको धारण कर समाधिस्थ होते हैं, उस शिव को नमस्कार है ॥ २१ ॥

उत्तंसितेन्दुशकलाय कपालजूटसंघट्टितोर्मिमुखराम्बरनिर्झराय ।
भस्माङ्गरागशुचये विकचोपवीतव्यालेन्दुमौलिमणिदीधितये नमस्ते ॥२२॥

चन्द्रकला को भाल पर सजानेवाले, सिर के जटाजूट से टक्कर खाकर ध्वनि युक्त लहरोंवाली आकाशगंगा को धारण करनेवाले, भस्म के अंगराग से श्वेत बने हुए, सांप के यज्ञोपवीतवाले, सर्पमणि की प्रभा से पूर्ण मस्तकवाले शिव को नमस्कार है ॥ २२ ॥

नास्त्रं न भस्म न जटा न कपालदाम नेन्दुर्न सिद्धतटिनी न फणीन्द्रहारः।
नोक्षा विषं न दयिताऽपि न यत्र रूपमव्यक्तमीश किल तद्दधते नमस्ते ॥२३॥

न अस्त्र, न भस्म, न जटा, न कपालों की माला, न चन्द्रमा, न सुरगंगा, न सर्पों के हार, न वृषभ, न विष, और न स्त्री ही अर्थात् इन सबसे विहीन निर्गुण रूप धारण करने वाले आप शिव को नमस्कार हो ॥ २३ ॥

नागराजगृहागमनम्

स्तुत्वेत्यवन्तिपतिरिन्दुकलावतंसं तन्मन्दिरात् सहचरैः सह निर्जगाम ।
अन्तर्निवेशितहरिन्मणिवेदि वल्गन् नागाङ्गनं स फणिराजगृहं जगाम ॥२४॥

नागराज के घर आना

इस प्रकार चन्द्रशेखर शिव की स्तुति करके वह अवन्ति का स्वामी अपने साथियों के साथ उस मन्दिर से बाहर चला आया, और फिर भीतर धरे हरे मणियों की वेदी से चमकते हुए, नागलोक के अंगन तथा फणिराज के घर में प्रविष्ट हुआ ॥ २४ ॥

तत्रावतीर्य रथतः स रमाङ्गदात्तपाणिः समुच्छलितमङ्गलतूर्यघोषे ।
उन्निद्रसान्द्रकुसुमप्रकरावकीर्णमाणिक्यकुट्टिमतले मसृणं विवेश ॥२५॥

रमाङ्गद के हाथ का सहारा लेकर वह राजा रथ के नीचे उतरा। फिर वह अत्यधिक मंगलवाद्यों की ध्वनि के साथ, खिले हुए ताजे फूलों वाले, मणिनिर्मित आँगनवाले फणिराज के भवन में राजा ने धीरे धीरे प्रवेश किया॥२५॥

अन्योन्यपल्लविततद्विजयप्रशंस प्राप्तस्थितिर्विकटकाञ्चनविष्टरेषु।
पद्मच्छदायतदृशा ददृशेऽथ तस्मिन् एकत्र तेन मिलितः फणिराजलोकः॥२६

उसकी विजय का आशय आपस में व्यक्त करने वाले, फैले हुए सुनहले आसनों पर एक जगह बैठे हुए फणिराज के लोगों को कमलपत्र के समान नेत्रवाले उस राजा ने उस आँगन में देखा॥ २६॥

तत्कृत सत्कारः

तस्मिन् गते नयनगोचरमुद्धतारौ बद्धाञ्जलिझटिति पन्नगराजसदन।
मन्दाकिनीव परितो हरिणावचूडस्वालोककुड्मलितकाञ्चनपङ्कजाभूत॥२७॥

राजा का सत्कार

शत्रुओं का विनाश करने वाला वह राजा जब आँखों के सामने आया तो नागराज की वह सभा हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। तब ऐसा ज्ञात होता था, भगवान् विष्णु द्वारा देखी गई मन्दाकिनी चारों ओर से मुकुलित स्वर्णकमलों को धारण किये हुए हो॥ २७॥

न्यञ्चच्छिरःशरभरणभासुरपद्मरागगरोचिश्छटाघटिततत्फणरत्नकान्ति।
राजन्यमौलिमणिचुम्बितपादपीठं तस्मै चकार स महानुभवः प्रणामम्॥

प्रणाम करने से झुके हुए सिर पर चमकते हुए पद्मराग मणियों की प्रभा से जिसने नागों की फणा के रत्नों की कान्ति प्राप्त कर ली थी, ऐसे तथा समस्त छोटे-बड़े राजा जिसके चरणों पर अपना सिर झुकाते थे, ऐसे उस महानुभाव सिन्धुराज ने उस नागजन को प्रणाम किया॥ २८॥

प्रत्यग्ररत्नमिव प्रमदाप्रकीर्णं मुक्त्वा चतुष्कमुरगेन्द्रनिदेशितं स।
अध्यास्त सादरजरत्फणिकल्पिताशीस्तमध्यवर्तिकनकासनमुल्लसन्॥२९॥

तब वह पुष्ट कन्धों वाला सिन्धुराज प्रमदाओं द्वारा बिखेरे गये नये रत्नों से संकुल चौराहे को पार कर, आदरपूर्वक फणिराज के बताये सोने के आसन पर बैठा। उस समय वृद्ध नाग लोग आशीर्वचन का पाठ कर रहे थे॥ २९॥

वत्स! प्रयाहि तनयामिति शनैर्विसृज्य नेपथ्यनीलमणिवेश्मनि रत्नचूडम्।
तत्रासनद्वयमदापयदस्य पार्श्वे विद्याधराधिपयशोभटयोः फणीन्द्रः॥ ३०॥

जाओ, जाकर मेरी पुत्री को लाओ, ऐसा कहकर रत्नचूड को नीलमणिमय अन्तःपुर की ओर भेजकर उस नागराज ने राजा के समीप में ही विद्याधरराज के लिए और रमाङ्गद के लिये दो आसन बिछवा दिये॥३०॥

स्वर्णासने स्वयमथाच्छफणातपत्ररत्नप्रदीपशतजर्जरितान्धकारः ।
लोकत्रयैकतिलकस्य स नातिदूरे देवस्य दारितमहेन्द्ररिपोर्न्यपीदत् ॥३१॥

स्वच्छ फणारूपी छाते के रत्न रूपी दीप से अन्धकार का नाश करनेवाला फणिराज भी तीनों लोकों में श्रेष्ठ और वज्राङ्कुश जैसे इन्द्रशत्रु का नाश करने वाले सिन्धुराज के पास ही सोने के सिंहासन पर बैठा ॥ ३१ ॥

स्थित्वैकतो युवतिमङ्गलगीतिमत्र शृण्वन् स विन्ध्यतटदृष्टचरः कुरङ्गः ।
चित्रे निवेशित इवाथ यशोभटेन स्मित्वा सविस्मयमसूच्यत पार्थिवाय ।३२

युवति जनों द्वारा गाये गये मंगलगीतों को सुनते हुए विन्ध्याचल में देखे हुए उसी मृग को रमाङ्गद ने एक तरफ चित्र-लिखा सा चुपचाप बैठा देखा और फिर राजा को भी सूचित किया कि यह वही मृग है ॥ ३२ ॥

शशिप्रभादर्शनम्

अत्रान्तरे प्रमदलोलदृशा नृपेण दूराददर्शि फणिराजसुताऽभियान्ती ।
तन्वी शिरीषसुमनःसुकुमारमूर्तिर्देवस्य कार्मुकलतेव मनोभवस्य ॥ ३३ ॥

शशिप्रभा का दर्शन

इसी बीच अत्यन्त मद से चञ्चल नेत्रवाले राजा ने आती हुई उस नागराजपुत्री शशिप्रभा को दूर से ही देखा। शिरीषपुष्प की भाँति कोमल देहवाली वह सुन्दरी मानो कामदेव के धनुष की मौर्वी थी ॥३३॥

ज्योत्स्नासिताम्बररुचिस्नपिताननेन्दुर्मात्राऽचिरोद्गतयवाङ्कुरकर्णपूरम् ।
मुक्त्वोज्ज्वलं ललितकौतुककङ्कणं च वेषं विवाहसमयोचितमुद्वहन्ती ॥३४॥

वह चाँदनी के कारण श्वेतवर्ण के आकाश की कान्ति से स्नात मुखचन्द्र-वाली थी, और माता ने अभी-अभी उसके कानों में जो के अंकुर सजाये थे, सुन्दर श्वेत विवाह-कंगन हाथ में पहनाये थे। ऐसी वह शशिप्रभा इस प्रकार विवाह के योग्य वेश-भूषा को धारण किये हुए थी ॥ ३४ ॥

सख्या कयापि लिखितं मदनानलैकधूमावलीवलयसंशयमर्पयन्तम् ।
एकान्तकान्तमसितागरुपत्रभङ्गम् आबिभ्रती लवलिपाण्डुतले कपोले ॥३५॥

लवली के पत्ते के समान गौर और चिकने गाल पर एक ओर किसी सखी के द्वारा बनाई गई अत्यन्त सुन्दर जो अगरु की पत्ररचना थी, वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो कामाग्नि से उठती हुई धूँये की रेखायें हों ॥३५॥

आत्तप्रसाधनमनङ्गविलासवेश्म लीलानिधानमवविनयनोत्सवस्य ।
लावण्यसंवलितमङ्गकमुद्वहन्ती शृङ्गारदुग्धजलधेरधिदेवतेव ॥३६॥

वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, मानो सुसज्जित प्रसाधन-सामग्री वाला कामदेव का विलासगृह हो, नयनों के विविध हावभावों से भरी तथा आनन्द:

देनेवाली हो और शृंगाररूपी दुग्धसमुद्र की अधिष्ठात्री देवता सौन्दर्य से युक्त अंगों को धारण करके आई हो ॥ ३६ ॥

सा पाटलार्पितचामरमारुतैपन्त्यानतितालकलता सहिता सखीभिः ।
नातिस्फुटक्वणितनूपुरमाकुलानि किञ्चिद्विलम्ब्य दधती त्रपया पदानि ॥३७॥

पाटला उसके ऊपर धीरे धीरे चामर डुला रही थी। उसकी हवा से धीरे धीरे हिलनेवाले बालों की लता वाली वह शशिप्रभा सखियों के साथ नूपुर की अस्पष्ट मधुर ध्वनि से युक्त चरणों को लज्जा के कारण रुक रुक कर धरती पर रख रही थी ॥ ३७ ॥

नायकदर्शनम्

उत्पक्ष्मणा निरुपमोल्लसितप्रमोदविस्तारलङ्घितविलाससरोरुहेण।
सान्द्रस्मरज्वरपिपासितया तयापि दूरादपायि नयनाञ्जलिना नरेन्द्रः ॥३८॥

नायक का दर्शन

उठी हुई पलकों वाली, अनुपम उल्लास और आनन्द के विस्तार को पार करने वाली, कमल के समान नयनों की अञ्जुलियों से अत्यधिक कामज्वर के कारण प्यासी बनी हुई उस शशिप्रभा ने भी दूर से ही राजा के रूपसौन्दर्य का पान करना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३८ ॥

माल्यवतीवाक्यम्

व्रीडानम्रमुखपद्ममुपागताया तस्या पितुः कनकविष्टरभागभाजि।
माल्यादिकल्पितयथोचितसत्क्रियान्ते तं मालवेन्द्रमिति माल्यवती जगाद

माल्यवती का कथन

लज्जा से झुके मुखकमलवाली शशिप्रभा के अपने पिता के पास ही स्वर्ण आसन पर बैठ जाने पर, माला इत्यादि पहना कर सत्कार करने के बाद माल्यवती सखि ने मालवेन्द्र से कहा ॥ ३९ ॥

राजन् महीतलमृगाङ्क विलम्बसे किं अद्यापि नूनममुना स्वभुजार्जितेन।
हेमाम्बुजेन विरचय्य वतंसमस्याः पूर्णप्रतिज्ञमुरगाधिपतिं विधेहि ॥४०॥

हे राजन्! हे धरती के चन्द्रमा! अब देर किस लिए कर रहे हो, अब शीघ्र ही अपने बाहुबल से प्राप्त किये हुए स्वर्णकमल से इसके कानों को सुशोभित कर नागराज की प्रतिज्ञा को पूरा कीजिए ॥ ४० ॥

उक्ते तयेत्यहमकाञ्चनपुष्करं तं यावन्न कर्णशिखरे फणिराजपुत्र्याः।
तावद् विहाय मृगरूपमुदारमूर्तिरग्रे बभूव पुरुषोऽस्य सहेमनेत्रः ॥४१॥

उस माल्यवती के ऐसा कहने पर ज्योंही राजा ने उस नागराजपुत्री शशिप्रभा के कान को उस स्वर्णकमल से विभूषित किया त्यों ही मृग का रूप त्याग

कर वह कोने में बैठा मृग सुन्दर आकृति वाला बनकर हाथ में सोने का वेत लिये हुए एक पुरुष के रूप में आगे आकर खड़ा हो गया ॥ ४१ ॥

पुरुषम्प्रति प्रश्नः

कस्त्वं मृगः कथमभूरिति पार्थिवेन पृष्टः स विस्मयसमुत्सुकमानसेन ।
इत्यब्रवीदुरगनेत्रपरम्पराभिरापीयमानवपुरुक्तिमवन्तिनाथम् ॥ ४२ ॥

पुरुष को प्रश्न

तुम कौन हो ? किस प्रकार तुम मृग बने, इस प्रकार आश्चर्य से उत्सुक-मनवाले राजा ने जब उसे पूछा, तब नागों द्वारा प्रेमपूर्वक देखे गये उसने अवन्तिनाथ से अपने शरीरसम्बन्धी कथा यों कही ॥ ४२ ॥

प्रतिहारस्य वृत्तान्तः

कैलासशैलवसतेर्गिरिशोपरोधान् द्वारप्रवेशविनिवेशकषायितेन ।
शप्तोऽस्मि कण्वमुनिनाऽयमहं पितुस्ते श्रीहर्षदेवनृपतेः प्रतिहारपालः ॥४३॥

कैलास पर्वत पर शंकर भगवान के पास जाने से मना करने के कारण क्रुद्ध हुए कण्व ऋषि ने मुझे शाप दिया। मैं तुम्हारे पिता श्री हर्षदेव का द्वार-पाल था ॥ ४३ ॥

राजा फणीन्द्रदुहितुः कनकारविन्दं कर्णे करिष्यति यदा नवसाहसाङ्कः ।
स्वं रूपमाप्स्यसि तदेति समादिदेश शापान्तमेष विहितानुनयो महर्षिः[1] ॥

शाप देने के पश्चात् जब मैंने अनुनय-विनय किया, तब उन्होंने कहा कि जब नवसाहसाङ्क राजा नागराजपुत्री शशिप्रभा के कान में स्वर्णकमल पहिनायेगा, तब तुम पुनः मृगरूप छोड़ कर अपने रूप को प्राप्त करोगे ॥ ४४ ॥

तद् वासवारिविजयोत्थमिदं यशस्ते गत्वैकपिङ्गलगिरेरवतंसयामि ।
उक्त्वेति दिव्यकुसुमैरवकीर्य मौलौ पातालमल्लमनिलस्य पथा जगाम ॥४५॥

'इन्द्रशत्रु वज्रांकुश को मारने से फैले हुए तुम्हारे महान् यश से मैं जाकर पिङ्गल पर्वत को भी अलंकृत करूंगा अर्थात् वहां भी तुम्हारा यश-गान करूँगा।' ऐसा कहकर दिव्यपुष्पों को पाताल के एकमात्र वीर राजा के सिर पर चढ़ाकर वह पुरुष आकाशमार्ग से चला गया ॥ ४५ ॥

विवाहविधिः

तूर्यस्वनेषु विलसत्सु पठत्स्वमन्दं बन्दिष्वनीयत फणीन्द्रपुरोधसा च ।
कोणावसक्तजलपूरितरत्नकुम्भां वेदिं तया सह स मध्यमलोकपालः ॥ ४६ ॥

---

१. तंजौर पुस्तकालय में उपलब्ध संस्करण में यहीं पर सर्ग-समाप्ति हो जाती है।

विवाहविधान

तब तुरही के बजने पर, तीव्र स्वर से बन्दीजनों के द्वारा यशगान करने पर, रत्नमण्डित जलपूर्ण घडों से सुशोभित कानों वाली वेदी के ऊपर उस शशिप्रभा के साथ नागराज का पुरोहित सिन्धुराज को लेकर आया ॥ ४६ ॥

अभ्युद्गतार्चिरनलोज्झितधूमराजिश्यामीभवत्कनकतामरसावतसम् ।
तस्या यथाविधि स मालवपुष्पकेतु कन्यामहे कुवलयाश्व इवोपयेमे ॥४७॥

उठती हुई अग्नि ने जब धूआँ छोड़ा, तब उससे जिसके स्वर्णकमल का आभूषण काला हो गया था, ऐसी उस नागराजकन्या को विधिवत् उसी वेदी में मालवा के कामदेव उस सिन्धुराज ने उसी भांति ब्याहा, जिस प्रकार कुवलयाश्व ने नागपुत्री मदालसा को ॥ ४७ ॥

आनीतया झटिति रूपमदृष्टपूर्वम् अङ्गेन पुष्पशरभङ्गितरङ्गितेन ।
भाति स्म शन्तनुरिव त्रिदिवस्रवन्त्या पातालचन्द्रकलया स तया समेत्य ४८

कामजनित विलास से तरंगित अथवा फूलों की लड़ियों से सुशोभित अंग से शीघ्र ही जब उसमें अपूर्व रूप भर गया, तब उस पाताललोक की चन्द्रकला से युक्त वह सिन्धुराज इस भांति सुन्दर लग रहा था, मानो गंगा-देवी से युक्त शन्तनु हो ॥ ४८ ॥

फणिपतिवाक्यम्

निर्गच्छदच्छरुचिनिर्भरमंशुकेन सच्छादितं किमपि पाणितले दधान ।
ऊचे वमित्यधिपति फणिनामुदञ्चद्दन्तांशुशारितरदच्छदरत्नकान्ति ॥४९॥

नागराज के वचन

फैलनेवाली स्वच्छ-सुन्दर कान्ति से युक्त, वस्त्र से ढँकी हुई किसी वस्तु को हाथ में लेकर, निकलती हुई दन्त किरणों से ओठों को रत्नमयी कान्तिवाले बनाता हुआ वह नागराज नृपति से यों बोला ॥ ४९ ॥

यद् दीयते तव न तादृशमस्ति किञ्चिद् गेहे ममात्र नृपते नवसाहसाङ्क ।
कोशप्रतिष्ठितनिधानशत यतस्त्वाम् ऐश्वर्यनिर्जितपुरन्दरमामनन्ति ॥ ५० ॥

हे राजन् ! आपको क्या दिया जाय ! हे नवसाहसाङ्क ! मेरे घर तो आपके योग्य कोई वस्तु ही नहीं है । क्योंकि आपके पास तो ऐश्वर्य से इन्द्र को भी जीत लेनेवाली कोशस्थित सैकड़ों निधियाँ विद्यमान हैं ॥ ५० ॥

तत् स्फाटिकं त्वमिव शुद्धमिदं गृहाण त्वष्टृप्रयत्नघटितं शिवलिङ्गमेकम् ।
आकारमर्धनिताबपुषः पुरारेर्यस्यान्तरे सुकृतिनो हि विलोकयन्ति ॥५१॥

इसलिए तुम्हारी तरह शुद्ध स्फटिक का यह एक शिवलिङ्ग है, जिसे विश्वकर्मा ने बड़े प्रयत्नों से बनाया है और जिसमें अर्धनारीश्वर भगवान् शंकर की आकृति का दर्शन पुण्यात्मा लोग किया करते हैं, इसे तुम ग्रहण करो ॥५१॥

व्यासः पुरा किल पुराणमुनेः प्रपेदे तस्मान् किलादिकविपाणितलं जगाम।
लेभे ततोऽपि भगवान् कपिलो महर्षिः सानुग्रहेण मम चेदमदायि तेन ॥

सबसे पहले यह शिवलिंग भगवान् विष्णु ने मुनि व्यास को मिला, उनसे इसे आदिकवि वाल्मीकि ने पाया। फिर भगवान् कपिल महर्षि ने पाया और बड़ी कृपा करके उन्होंने यह मुझे दे दिया ॥ ५२ ॥

शिवलिङ्गार्पणम्

उक्त्वेत्यनर्घमतिपावनमर्पितं तद् अन्तःस्फुटैकशिवरूपमहीश्वरेण।
पूर्णेन्दुकान्ति सहसा निगृहीतशत्रुर्जग्राह पिण्डितमिव स्वयशो नरेन्द्रः ॥५३॥

शिवलिंग का अर्पण

इतना कहकर बहुमूल्य, अतिपवित्र स्वच्छ वह शिवलिंग नागराज ने राजा को समर्पित किया, उसके अन्दर शिव का रूप स्पष्ट दीख रहा था। शत्रुविनाशक सिन्धुराज ने पूर्णचन्द्रमा की कान्ति की भाँति एकत्र हुए अपने यश के रूप में ही मानो उस शिवलिंग को ग्रहण किया ॥ ५३ ॥

तत्राथ दिक्तटपरिस्खलितप्रवृत्तसीमन्तिनीचटुलनूपुरकाञ्चिनादः।
कोप्युच्छलन्पटहवंशहुडुक्कशङ्खवीणामृदङ्गमुरजध्वनिरुत्सवोऽभूत् ॥५४॥

फिर वहाँ चारों दिशाओं में फैलनेवाली नारियों की चञ्चल पायलों और करधनी का शब्द व्याप्त हुआ, एवं ढोल, वंशी, हुड़की बाजा (जो पर्वतीय क्षेत्रों में बजता है), शङ्ख, वीणा, मृदङ्ग, पखावज की ध्वनि से पूर्ण उत्सव हुआ।

वृत्ते वधूमथ विवाहमहोत्सवे ताम् आदाय निष्प्रतिमपौरुषवैजयन्तीम्।
अन्वागतादरनिवर्तितपन्नगेन्द्रः पर्युत्सुकः स्वनगरीं स नृपः प्रतस्थे ॥५५॥

विवाहमहोत्सव हो जाने पर अद्वितीय पुरुषार्थ की विजय पताका-स्वरूप उस वधू शशिप्रभा को लेकर और स्वागतार्थ पीछे आते हुए नागराज को लौटा कर घर जाने के लिए उत्सुक बना हुआ सिन्धुराज अपनी नगरी की ओर चल पड़ा ॥ ५५ ॥

गत्वाथ दूरमहिविष्टपतः सहेलम् अंशः पुराणपुरुषस्य स निर्जगाम।
शिप्रार्पितेन सहसा पुरतः प्रभावसीमन्तिताम्बुपटलेन पथा ससैन्यः ॥५६॥

पुनः आनन्दपूर्वक वह विष्णु का अंश नवसाहसाङ्क नागराज-भूमि से दूर जाकर, स्वप्रभाव से सीमाबद्ध जल-समूहवाले शिप्रा नदी के दिये हुए मार्ग पर सेनासहित चल पड़ा ॥ ५६ ॥

तस्याः स्वहस्तमुनिसंहतिकल्पितार्घः सिन्धोस्तटे स पदमेकपदे चकार।
शृङ्गे तदा च भगवानरविन्दबन्धुर्बन्धूकपाटलरुचिः कनकाचलस्य ॥५७॥

उस शिप्रा नदी के तट पर मुनिसमूह के द्वारा किये आतिथ्य को ग्रहण कर उसने एक पड़ाव वहीं पर डाल दिया। उसने रात वहीं बितायी। फिर गुल-

दुपहरी के फूल के समान लाल, कमलों का मित्र भगवान् सूर्य कनकाचल के शृङ्ग पर विराजमान हो गया अर्थात् सूर्योदय हो गया ॥ ५७ ॥

उज्जयिनीप्रवेश

बालातपच्छुरितहर्म्यविटङ्कवर्ति पारावतातिमधुरध्वनितच्छलेन ।
सभाषणं विदधतीमिव पौरमुक्तपुष्पाञ्जलिं स पुरमुज्जयिनीं विवेश ॥५८॥

उज्जयिनी में प्रवेश

बालसूर्य के प्रकाश से युक्त भवन के छज्जों पर कपोतों की अतिमधुर ध्वनि के बहाने सम्भाषण करनेवाली उज्जयिनी नगरी में पुरवासियों द्वारा पुष्पाञ्जलि प्राप्त करते हुए सिन्धुराज ने प्रवेश किया ॥ ५८ ॥

कान्तायशोभटयुतं कृतारातमवाप्तास्तमिन्तयैव सचिवास्तमथ प्रणेमुः ।
काकुत्स्थमाहतसुरारिमिवानुयान्तं सौमित्रिणा जनकराजतनूजया च ॥५६॥

उधर सिन्धुराज की चिन्ता से दुर्बल बने हुए मन्त्रियों ने शशिप्रभा कान्ता और यशोभट (रमाङ्गद) के साथ ही उस श्रेष्ठ और शत्रुओं को नाश करने वाले राजा को उसी प्रकार प्रणाम किया, जिस प्रकार श्रेष्ठ और रावण जैसे शत्रु का नाश करके आये हुए, लक्ष्मण और सीता के सहित श्रीराम के मन्त्रियों ने उन्हें प्रणाम किया था ॥५६॥

महाकालेश्वरदर्शनम्

आनन्दबाष्पसलिलार्द्रदृशोऽध्वमार्गे सम्भाष्य तान्स्मितमुखः सह तैर्जगाम ।
विद्याधरोरगकराहतहेमघण्टाझङ्काररहारि भवनं त्रिपुरान्तकस्य ॥ ६० ॥

महाकालेश्वर का दर्शन

राजा आनन्द के आसुओं से गीली आँखोंवाले उन मन्त्रियों के साथ रास्ते में ही सम्भाषण करते हुए हँसता हुआ उनके साथ विद्याधर, एवं नागों के हाथों से बजाये जाने वाले, स्वर्णघण्टाओं की झंकार से मन हरण करने वाले, त्रिपुरासुर का नाश करने वाले, भगवान् (शिव) महाकालेश्वर के मन्दिर में पहुँचा ॥ ६० ॥

सम्भिश्चराचरगुरोर्हरिणाङ्कचूलचूडामणेःपचितिं विधिवत् विधाय ।
सार्धं फणीन्द्रसुतयाऽम्बररोधिकम्बुतूर्यस्वनोर्मि च स राजकुलं विवेश ॥६१॥

उस मन्दिर में चराचर के स्वामी चन्द्रशेखर की विधिवत् पूजा करके, नागराजकन्या शशिप्रभा के साथ राजा गगनचुम्बी शिखर वाले तुरही की ध्वनि से ध्वनित अपने राजकुल में प्रविष्ट हुआ ॥ ६१ ॥

धारागमनम्

तत्रार्णवध्वनिघनोत्सवतूर्यघोषे स्थित्वा दिनानि कतिचित् स नरेन्द्रचन्द्रः ।
याति स्म भूषितकुलं कुलराजधानीं धाराममात्यकथितामृगयेतिवृत्तः ॥६२॥

धारानगरी में प्रवेश

वहाँ उज्जयिनी में जलधि-गर्जना एवं घन-गर्जना की भाँति वाद्यों की ध्वनि से युक्त उत्सव करके कुछ दिन ठहरकर फिर वह कुलभूषण नरेन्द्रचन्द्र सिन्धुराज अपने शिकार के वृत्तान्त से लेकर सम्पूर्ण कथा मन्त्रियों से कहता हुआ, कुल की राजधानी धारानगरी में प्रविष्ट हुआ ॥ ६२ ॥

उद्घाटितेष्वथ विलोकनकौतुकेन वातायनेषु परितः पुरसुन्दरीभिः ।
तस्मिन्चिराद्विशति जीव इवेश्वरे सा प्रोन्मीलितोरुनयनेव पुरी बभूव ॥६३॥

राजा को देखने की इच्छा से चारों ओर जब पुरसुन्दरियों ने वातायनों को खोला तो जिस प्रकार ईश्वर में प्रवेश करने पर जीव की दशा होती है, उसी प्रकार वह पुरी मानो नेत्रों को उघाड़े के उघाड़े ही रह गई, अर्थात् किसी ने भी खिड़कियाँ बन्द नहीं कीं ।

विमर्श—समाधि में जीव की आँखें खुली की खुली रह जाती हैं, वही भाव यहाँ पर है ॥ ६३ ॥

शिवलिङ्गप्रतिष्ठा

तत्र साध्वकारयदथाधिगतप्रतिष्ठं तत्राच्छरत्नशिवलिङ्गमनर्घशीलः ।
तस्य प्रभावघटितैर्व्यधुरर्हणां च विद्याधरा विकचकल्पतरुप्रसूनैः ॥६४ ॥

शिवलिङ्ग की स्थापना

तब धारानगरी में सुन्दर स्वभाववाले सिन्धुराज ने स्फटिकनिर्मित उस शिवलिङ्ग की अच्छी तरह से प्राणप्रतिष्ठा करवाई । उस समय उसके प्रभाव से विकसित कल्पतरु के फूलों से विद्याधरों ने भी पूजा की ॥ ६४ ॥

अनुयायिप्रस्थानम्

कृत्वा यथोचितमकृत्रिममुत्सवान्ते
सत्कारमायतनतिश्लथमौलिरत्नौ ।
दत्ताङ्कपालिरुभयोः प्रजिवाय सोऽथ
विद्याधराधिपफणीन्द्रसुतौ स्वदेशम् ॥ ६५ ॥

साथियों की विदाई

उत्सव के अन्त में राजा ने यथोचित हार्दिक सत्कार करके प्रणाम करने के लिए सिर झुकाने से जिनके मस्तकमणि ढीले हो गए थे ऐसे विद्याधरराज और नागपुत्र (शशिखण्ड और रत्नचूड) दोनों को आलिङ्गन देकर उन्हें स्वदेश जाने के लिए विदा किया ॥ ६५ ॥

एकस्तयोरगमदम्बरगामिसैन्य-
सीमन्तिताभ्रपटलः शशिकान्तशैलम् ।

अन्योऽप्यगाधजलमालवजह्नुकन्या-
निश्राणितोरुसरणिर्निजराजधानीम् ॥ ६६ ॥

उनमें से एक तो बादलों को चीरता हुआ अपनी सेना के साथ आकाश-मार्ग से शशिकान्त पर्वत पर चला गया। और दूसरा भी अगाध जलशाली मालव जह्नुकन्या गंगा के तटवर्ती मार्ग से अपनी राजधानी पहुँचा ॥ ६६ ॥

शशिप्रभासखीगमनम्

मा भूः कदापि विमना रमणे यदस्य
छन्दानुवृत्तिरतिमन्त्रनं न मदस्य ।
इत्युक्त्वेति तामहिसुतामगमन् गृहाणि
गन्धर्वकिन्नरमहोरगसिद्धकन्याः ॥ ६७ ॥

शशिप्रभा की सहेलियों का प्रस्थान

"देखो शशिप्रभे ! कभी भी अपने पति से नाराज न होना, अपने गर्व का वशीकरण[1] करके तुम इसकी इच्छानुसार आचरण करके ही इसे अपने अनुकूल रख सकती हो।" इस प्रकार उस नागपुत्री को समझाकर गन्धर्व, किन्नर, महानाग और सिद्धों की कन्यायें अपने अपने घर चली गईं ॥ ६७ ॥

साम्राज्यलक्ष्मीस्वीकारः

नीलच्छत्रातपत्रा भुजगपतिसुतापाण्डुगण्डस्थलान्त-
कस्तूरीपङ्कपत्रव्यतिकरशबलव्यायतांसे सलीलम् ।
देवेनाथ स्वमन्त्रिप्रवरचिरधृता साहसाङ्केन दीर्घे
रोहज्ज्याघातरेखे पुनरपि निदधे दोष्णि साम्राज्यलक्ष्मीः ॥ ६८ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये शशिप्रभालाभो
नामाष्टादश सर्गः ॥१८॥

साम्राज्यलक्ष्मी का स्वीकार

देव नवसाहसाङ्क ने नील छत्र से विभूषित, और फणिराज की पुत्री के पीले कपोलों पर लगी कस्तूरी की पत्ररचना के कारण करबुरे लम्बे चौड़े कन्धे वाले धनुष की डोर के आघातों से चिह्नित विशाल कन्धों पर अपने मंत्रियों की चिरकाल तक धारण की हुई राज्यलक्ष्मी को पुनः धारण कर लिया ॥ ६८ ॥

मृगाङ्कदत्तपुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्क
चरित महाकाव्य का शशिप्रभालाभ नामक
अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥



---

[1] वशक्रिया संवनन—अमरकोश ।

अथ ग्रंथप्रशस्तिः

श्रीमत्कविप्रियसुहृन्च्छलदङ्कराजेन्द्रभक्त्यधिगतप्रतिभाविशेषः ।
एतद्विनिद्रकुमुदद्युतिपद्मगुप्तः श्रीसिन्धुराजनृपतेश्चरितं बबन्ध ॥

ग्रंथ की प्रशंसा

परमशोभासंपन्न, कवियों के प्रिय सुहृद अर्थात् कवियों का आदर करनेवाले विस्तृत लक्षण (यश) वाले राजश्रेष्ठ रामचन्द्र भगवान की भक्ति के फलस्वरूप विशेष प्रतिभा को प्राप्त करनेवाले पद्मगुप्त नामक कवि ने (अर्थात् मैंने) श्री सिन्धुराज नवसाहसाङ्कनृपति के इस विकसित कुमुद के तुल्य सौंदर्यवाले चरित-काव्य का सृजन किया है ।

लक्ष्मीलतानववसन्तमहीतलेन्द्र विद्याविलासमणिदर्पणसिन्धुराज ।
एतन्मया घटितमुज्ज्वलकान्तिकाव्य-माणिक्यकुण्डलमिह श्रवणे विधेहि ॥

लक्ष्मीरूपी लता के लिये नये वसन्त के समान हे धरती के इन्द्र ! विद्या के विलास के लिए मणिदर्पणस्वरूप सिन्धुराज ! मैंने यह उज्ज्वल कान्तिवाला काव्यरूपी मणिकुण्डल बनाया है, इसे अपने कानों पर धारण कीजिये ।

विमर्श—मेरे उज्ज्वल कान्तिवाले मणिकुण्डलों की भाँति सुगठित इस काव्य को आप सुने । अर्थात् जिस तरह मणिकुण्डल सौन्दर्याधायक होने से आनन्ददायक होता है, उसी तरह यह काव्य भी आनन्ददायक होगा ।

न्यस्तानि यानि मयि सूक्तिसुधापृषन्ति ।
देवेन तेन कतिचित् कविबान्धवेन ।
चन्द्रातपस्नपितमौक्तिकसोदराणाम् ।
तेषामिदं विलसितं नवसाहसाङ्क ॥

हे नवसाहसाङ्क ! कवियों को चाहने वाले (वाक्पतिराजदेव) देव मुझ ने मेरे हृदय में जो कुछ सूक्तिसुधा के कण भर दिये थे, चन्द्र की ज्योत्स्ना से सराबोर मोती जैसे उन्हीं सूक्तिरूपी अमृतकणों का यह काव्य विलास है ॥

यच्चापलं किमपि मन्दधिया मयेत्थम् ।
आसूत्रितं नरपते नवसाहसाङ्क ।
आज्ञैव हेतुरिह ते शयनीकृतोग्र-
राजन्यमौलिकुसुमा न कवित्वदर्पः ॥

हे राजन्, अपनी मन्द बुद्धि से मैंने इस प्रकार की अपनी चपलता को जो इस काव्यरूप में निबद्ध किया है, इसमें समस्त बड़े पराक्रमशाली राजाओं के शिरस्थित मुक्तामणियों को धराशायी कर देनेवाली आप की आज्ञा ही कारण है । मेरा अपना कवित्व का कोई गर्व इसमें नहीं है ।

इति नवसाहसाङ्कचरितं सम्पूर्णम्

श्लोकानुक्रमणिका

फ

ब

ह

